

॥ ॐ ॥

॥ शास्त्रदर्पणम् ॥

श्रीपरमहंसपरिप्राजकाचार्य श्रीमदनु-

भवानन्दपूज्यपादशिष्यैः

भगवद्मलानन्दैः

विरचितम् ।

S. I. Va.
—
A. M. H.



श्रीरङ्गस्य

धीयाणीचिलासमुद्रायम्बालये

संमुद्रितम् ।

१९११.

PREFACE.

SASTRA Darpana is, true to its name, a mirror wherein are faithfully reflected the tenets of the ADVAITA VEDANTA as embodied in the well-known Brahma Sutras. These Brahma-sutras have been variously interpreted by several learned men of different creeds but it is clearly and convincingly shown in the book called VYASATATPARYA NIRNAYA * by Ayyanna Dikshita who lived about 150 years ago that Sri Vyasa while writing the Brahmasutras could have had in view the advaitic interpretation only. Hence a peculiar importance is attached to this interpretation and among the Advaitins the expression "VEDANTA SASTRA" includes the following five works viz. 1. Brahmasutras by Sri Vyasa, 2. Bhashya by Sri Sankara Bhagavatpada, 3. Bhamati, a commentary on the Bhashya, by Vachaspati Misra, 4. Kalpataru, a commentary on Bhamati by Amalananda and 5. Parimala a commentary on Kalpataru by Appaya Dikshita. Of these mighty intellects in the field of Advaita Philosophy the fourth viz. Amalananda was not satisfied with writing the Kalpataru. He yearned to write an independent treatise on the Brahma Sutras with the

* Published in the SASTRA BOOKLET Series at the Sri Vani Vidya Press, Srirangam. Cc. No. AA, 8 only.

Professor of Mimamsa at the Sanskrit Institute of Bangalore to whom our sincere thanks are due. This forms the second of the three precious sastraic gems issued from the Sri Vani Vilas Press within the course of about thirty days, the other two being the Bhagavadgita with the commentary called Brahmanandagiri and the Taittiriopanishad Bhashya with the commentary called Vanamala. It will be an ample recompense to our labours if the literary Public rightly appreciate the value of these hitherto unpublished, yea even unknown scholarly works.

J. K. Balasubrahmanyam.

॥ श्रीः ॥

॥ अधिकरणानुक्रमणिका ॥



| | | पृष्ठम् |
|----------------------------|------|---------|
| प्रथमोऽध्यायः | ... | १—९५ |
| प्रथमः पादः | | १—३१ |
| १. जिज्ञासाधिकरणम् | ... | १ |
| २. जन्माद्यधिकरणम् | ... | ५ |
| ३. शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् | ... | ६ |
| ४. समन्वयाधिकरणम् | ... | ९ |
| ५. ईक्षत्यधिकरणम् | ... | १३ |
| ६. आनन्दमयाधिकरणम् | ... | १६ |
| ७. अन्तरधिकरणम् | ... | १९ |
| ८. आकाशाधिकरणम् | ... | २१ |
| ९. प्राणाधिकरणम् | ... | २३ |
| १०. ज्योतिर्धरणाधिकरणम् | ... | २४ |
| ११. प्रातर्दनाधिकरणम् | ... | २८ |
| द्वितीयः पादः | | ३२—४५ |
| १. सर्वत्रप्रसिद्धयधिकरणम् | ... | ३२ |

चतुर्थः पादः ७७—९५

| | | |
|--------------------------|-----|----|
| १. आनुमानिकाधिकरणम् | ... | ७७ |
| २. चमसाधिकरणम् | ... | ७९ |
| ३. संख्योपसंग्रहाधिकरणम् | ... | ८० |
| ४. कारणत्वाधिकरणम् | ... | ८४ |
| ५. बालक्यधिकरणम् | ... | ८७ |
| ६. वाक्यान्वयाधिकरणम् | ... | ९० |
| ७. प्रकृत्यधिकरणम् | ... | ९२ |
| ८. सर्वव्याख्यानाधिकरणम् | ... | ९४ |

द्वितीयोऽध्यायः ... ९६—१८४

प्रथमः पादः ९६—११४

| | | |
|----------------------------|-----|-----|
| १. स्मृत्याधिकरणम् | ... | ९६ |
| २. योगप्रत्युक्त्याधिकरणम् | ... | ९७ |
| ३. विलक्षणत्वाधिकरणम् | ... | ९९ |
| ४. शिक्षापरिग्रहाधिकरणम् | ... | १०० |
| ५. भोक्तापत्त्यधिकरणम् | ... | १०२ |
| ६. आरम्भणाधिकरणम् | ... | १०३ |
| ७. इतरव्यपदेशाधिकरणम् | ... | १०७ |
| ८. उपसंहारदर्शनाधिकरणम् | ... | १०८ |
| ९. कृत्प्रसक्त्यधिकरणम् | ... | १०९ |

| | | |
|---------------------------|-----|-----|
| ८. विपर्ययाधिकरणम् | ... | १५१ |
| ९. अन्तराविशानाधिकरणम् | ... | १५२ |
| १०. चराचरव्यपाभयाधिकरणम् | ... | १५३ |
| ११. आत्माधिकरणम् | ... | १५४ |
| १२. शाधिकरणम् | ... | १५५ |
| १३. उक्तकान्तिगत्यधिकरणम् | ... | १५७ |
| १४. कर्त्राधिकरणम् | ... | १५८ |
| १५. तक्षाधिकरणम् | ... | १५९ |
| १६. परायत्ताधिकरणम् | ... | १६० |
| १७. अंशाधिकरणम् | ... | १६१ |

चतुर्थः पादः ... १६४—१८४

| | | |
|---------------------------|-----|-----|
| १. प्राणोत्पत्त्याधिकरणम् | ... | १६४ |
| २. सप्तगत्यधिकरणम् | ... | १६५ |
| ३. प्राणानुत्वाधिकरणम् | ... | १६९ |
| ४. प्राणश्लेषाधिकरणम् | ... | १६९ |
| ५. वायुक्रियाधिकरणम् | ... | १७१ |
| ६. श्लेषानुत्वाधिकरणम् | ... | १७३ |
| ७. ज्योतिराद्याधिकरणम् | ... | १७४ |
| ८. इन्द्रियाधिकरणम् | ... | १७६ |
| ९. मजामूर्तिवन्द्यधिकरणम् | ... | १८१ |

| | | |
|---------------------------------|------|---------|
| तृतीयोऽध्यायः | ... | १८५—३२६ |
| प्रथमः पादः | | १८५—१९९ |
| १. तदन्तरप्रतिपत्त्याधिकरणम् | ... | १८५ |
| २. कृतान्त्याधिकरणम् | ... | १९० |
| ३. शनिष्ठादिकार्यधिकरणम् | .. | १९२ |
| ४. साभाष्यापत्त्यधिकरणम् | .. | १९४ |
| ५. नातिधिराधिकरणम् | ... | १९६ |
| ६. अन्त्याधिष्ठिताधिकरणम् | ... | १९७ |
| द्वितीयः पादः | ... | २००—२१६ |
| १. मध्यधिकरणम् | ... | २०० |
| २. तदभावाधिकरणम् | ... | २०२ |
| ३. कर्मानुस्मृतिशब्दविषयधिकरणम् | ... | २०४ |
| ४. मुग्धाधिकरणम् | ... | २०६ |
| ५. उभयलिङ्गाधिकरणम् | ... | २०७ |
| ६. प्रकृतैतावत्त्वाधिकरणम् | ... | २१० |
| ७. पराधिकरणम् | ... | २१२ |
| ८. फलाधिकरणम् | ... | २१४ |
| तृतीयः पादः | ... | २१७—२८८ |
| १. सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् | ... | २१७ |
| २. उपसंहराधिकरणम् | ... | २२४ |

| | | |
|--------------------------|-----|-----|
| ३. अन्यथात्वाधिकरणम् | ... | २२६ |
| ४. व्याप्त्याधिकरणम् | ... | २२७ |
| ५. सर्वाभेदाधिकरणम् | ... | २२९ |
| ६. आनन्दाद्यधिकरणम् | ... | २३० |
| ७. आध्यानाधिकरणम् | ... | २३२ |
| ८. आत्मगृहीत्यधिकरणम् | ... | २३४ |
| ९. कार्याद्विशानाधिकरणम् | ... | २३८ |
| १०. समानाधिकरणम् | ... | २३९ |
| ११. संवन्धाधिकरणम् | ... | २४१ |
| १२. संभृत्यधिकरणम् | ... | २४२ |
| १३. पुरुषविद्याधिकरणम् | ... | २४४ |
| १४. वेधाद्यधिकरणम् | ... | २४६ |
| १५. हान्यधिकरणम् | ... | २४९ |
| १६. सांप्रत्याधिकरणम् | ... | २५२ |
| १७. गतेरसंबन्धाधिकरणम् | ... | २५३ |
| १८. अनियमाधिकरणम् | ... | २५५ |
| १९. पाद्यदधिकाराधिकरणम् | ... | २५७ |
| २०. अधुरम्यधिकरणम् | ... | २५८ |
| २१. ह्यदधिकरणम् | ... | २५९ |
| २२. अन्तरत्वाधिकरणम् | ... | २६२ |
| २३. स्पृतिहाराधिकरणम् | ... | २६५ |
| २४. तत्त्वाद्यधिकरणम् | ... | २६६ |

| | | |
|---------------------------|-----|-----|
| २५. कामानुधिकरणम् | ... | २६७ |
| २६. आदराधिकरणम् | ... | २६९ |
| २७. सन्निधारणाधिकरणम् | ... | २७२ |
| २८. प्रदानाधिकरणम् | ... | २७३ |
| २९. सिद्धभूयस्त्वाधिकरणम् | ... | २७४ |
| ३०. ऐकान्त्याधिकरणम् | ... | २७६ |
| ३१. अज्ञानवद्वाधिकरणम् | ... | २७८ |
| ३२. भूमव्यायस्त्वाधिकरणम् | ... | २८० |
| ३३. शब्दादिभेदाधिकरणम् | ... | २८१ |
| ३४. विकल्पाधिकरणम् | ... | २८४ |
| ३५. काम्याधिकरणम् | ... | २८५ |
| ३६. यथाश्रयमात्राधिकरणम् | ... | २८७ |

चतुर्थः पादः २८९—३२६

| | | |
|--------------------------|------|-----|
| १. पुरुषार्थाधिकरणम् | ... | २८९ |
| २. परामर्शाधिकरणम् | ... | २९२ |
| ३. स्तुतिमात्राधिकरणम् | ... | २९७ |
| ४. पारिप्लवाधिकरणम् | | २९९ |
| ५. अमी-धनाद्याधिकरणम् | ... | ३०१ |
| ६. सर्वापेक्षाधिकरणम् | .. | ३०४ |
| ७. सर्वाभानुमास्यधिकरणम् | ... | ३०६ |
| ८. आश्रमकर्माधिकरणम् | ... | ३०८ |

| | | | |
|-----|-------------------------|-----|-----|
| ९. | विधुराधिकरणम् | ... | ३११ |
| १०. | तद्भूताधिकरणम् | ... | ३१२ |
| ११. | आधिकारिकाधिकरणम् | ... | ३१४ |
| १२. | बहिरधिकरणम् | ... | ३१७ |
| १३. | स्वाम्यधिकरणम् | ... | ३१८ |
| १४. | सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् | ... | ३२० |
| १५. | धनाविधकाराधिकरणम् | ... | ३२२ |
| १६. | ऐहिकाधिकरणम् | ... | ३२३ |
| १७. | मुक्तिफलानियमाधिकरणम् | ... | ३२५ |

चतुर्थोऽध्यायः ... ३२७—३४९

प्रथमः पादः ३२७—३४२

| | | | |
|-----|----------------------|------|-----|
| १. | आनृत्पधिकरणम् | | ३२७ |
| २. | आत्मत्वोपासनाधिकरणम् | ... | ३२९ |
| ३. | प्रतीकाधिकरणम् | ... | ३३० |
| ४. | ब्रह्मदृश्यधिकरणम् | ... | ३३१ |
| ५. | आदित्यादिमत्पधिकरणम् | ... | ३३२ |
| ६. | आसीनाधिकरणम् | ... | ३३३ |
| ७. | एकाग्रताधिकरणम् | ... | ३३४ |
| ८. | आप्रायणाधिकरणम् | ... | ३३५ |
| ९. | वृद्धिगमाधिकरणम् | ... | ३३६ |
| १०. | इतरासंश्लेषाधिकरणम् | ... | ३३७ |

| | | |
|--------------------------------|-----|-----|
| ११. अनारब्धाधिकरणम् | ... | ३३८ |
| १२. अग्निहोत्राद्यधिकरणम् | ... | ३३९ |
| १३. विद्याज्ञानसाधनत्वाधिकरणम् | ... | ३४० |
| १४. इतरक्षपणाधिकरणम् | ... | ३४१ |

द्वितीयः पादः ३४३—३५३

| | | |
|-------------------------|------|-----|
| १. वागधिकरणम् | | ३४३ |
| २. मनोधिकरणम् | ... | ३४४ |
| ३. अभ्यक्षाधिकरणम् | | ३४५ |
| ४. आसुत्सुपक्रमाधिकरणम् | ... | ३४६ |
| ५. संसारव्यपदेशाधिकरणम् | ... | ३४७ |
| ६. प्रतिषेधाधिकरणम् | | ३४८ |
| ७. वागादिलयाधिकरणम् | ... | ३४९ |
| ८. अधिभागाधिकरणम् | .. | ३४९ |
| ९. तदोक्तोधिकरणम् | ... | ३५० |
| १०. रश्म्यधिकरणम् | ... | ३५१ |
| ११. दक्षिणायनाधिकरणम् | ... | ३५२ |

तृतीयः पादः ... ३५४—३६१

| | | |
|----------------------|-----|-----|
| १. अर्चिराद्यधिकरणम् | ... | ३५४ |
| २. वाय्वाधिकरणम् | ... | ३५५ |
| ३. तद्विदधिकरणम् | ... | ३५६ |

| | | |
|------------------------------|------|----------------|
| ४. आतिवाहिकाधिकरणम् | ... | ३५७ |
| ५. कार्याधिकरणम् | | ३५८ |
| ६. अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् | ... | ३६० |
| चतुर्थः पादः | | ३६२—३६९ |
| १. संपत्ताविर्भावाधिकरणम् | ... | ३६२ |
| २. अविमोगेन दृष्टत्वाधिकरणम् | ... | ३६३ |
| ३. बाह्याधिकरणम् | ... | ३६३ |
| ४. संकल्पाधिकरणम् | .. | ३६४ |
| ५. अभावाधिकरणम् | ... | ३६५ |
| ६. प्रदीपाधिकरणम् | ... | ३६७ |
| ७. जगत्पाराधिकरणम् | ... | ३६८ |



॥ ॐ ॥

॥ शास्त्रदर्पणम् ॥



विद्यारजं मयावातं यत्कृपापारवारिधेः ।
तं चन्द्रेऽनुभवानन्दं गुणरत्नाकरं गुरुम् ॥

हरिहरलीलाचतुर्षां परमेशौ व्यासशंकरौ नत्वा ।
वाचस्पतिमतिविभ्वितमादर्शं प्रारभे विमलम् ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

ब्रह्म विचार्य न वेति संदेहः, तद्विचारस्य विषयप्रयोजन-
संभवासंभवाभ्याम् । तत्र—

जिज्ञास्यं धर्मवद्यद्वि संदिग्धं सप्रयोजनम् ।
नासंदिग्धमनर्थं च घटवत्करटाङ्गवत् ॥

अहंधियात्मनः सिद्धेस्तस्यैव ब्रह्मभावतः ।
तज्ज्ञानान्मुक्त्वभावाच्च जिज्ञासा नोपपद्यते ॥

यद्वि संदिग्धं सप्रयोजनं च, तद्विज्ञास्यम् । न च आत्मा संदिग्धः, अहंप्रत्ययेन इदंभीगम्येभ्यो देहादिभ्यः पृथक्त्वेन सिद्धः । अतश्च अहं मनुष्य इत्यादिप्रत्ययाः गृह्यतभेदविषयत्वाद्गौणाः, नाध्यासाः । न च धर्मिणो देहादेरात्मनश्च इतरेतरानारोपेऽपि तद्धर्माणां जाड्यचैतन्यादीनां धर्मिणाः व्यत्याध्यामान् तद्भाग आत्मसंदेह इति वाच्यम्, साश्रयाभ्यां विविक्ताभ्यां विप्रकर्षेण धर्मारोपायोगान् । न च स्फटिके कुमुमगवाराणिभवन् विविक्तेऽपि धर्मिणि धर्म्यन्तरधर्मारोपः, तत्र कुमुमस्यैव रूपवतो रूपवन्ति ब्रुव्ये प्रतिशिम्वितत्वान् । आत्मनस्तु नीरूपत्वेन अनात्मानि प्रतिशिम्वितत्वस्य अनात्मप्रतिशिम्विवाश्रयत्वस्य वा अनुपपत्तेः । तस्मादसंदिग्ध आत्मा । न च बृहत्त्वान् ब्रह्म । न च अस्य अहंप्रत्ययगम्यस्य दुःखित्वादिविपरीतं ब्रह्मत्वमुपनिषदोऽवगमयन्तीति युक्तम्, तासां प्रत्यश्रविरोधेन गौणार्थत्वान् । एवम् आत्मज्ञानेऽहंप्रत्यये सत्यपि संमारातिवृत्तेर्निष्प्रयोजनत्वाच्च न तद्विचार्यं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

अत्रोच्यते—

धृतिगम्यात्मतत्त्वं हि नाहंबुद्धशावगम्यते ।

अविवेकादतो देहाद्यात्मन्यध्यस्तमिष्यताम् ॥

धृतिर्हि सचिदानन्दैकरमम् एकात्मभूतं ब्रह्म उपक्रमपरामर्शोपसंहारैकरूप्यात्तात्पर्येणावगमयन्ती नोपचारमर्हति । न च तादृगात्मनन्वमर्हप्रत्ययोऽवगमयति । अतः तस्य विवेकप्रहण-

मसिद्धम् । न च वर्णादिग्राहकप्रत्यक्षस्य आस्रायोपजीव्यत्वेन प्रथमत्वेन च प्रावस्यात् तज्जातीयाहंप्रत्यक्षमपि प्रबलमिति वद्विरोधादास्रायो न प्रमाणमिति युक्तम् ; प्रत्यक्षगतार्थक्रियासमर्थवस्तुपरिच्छेदकत्वस्य वेदान्तरूपजीविनात् तस्य च अवाधनात् प्रत्यक्षगततत्त्वावेदकत्वस्यास्रायेनानुपजीविनान् सांव्यवहारिकप्रमाणसिद्धस्यापि वर्णदैव्यादेः अगमनेमागमनमित्यादौ तत्त्वपरिच्छेदहेतुत्वान् ; प्राथम्यमात्रं तु प्रत्यक्षस्य परेण निरपेक्षेणाम्नायजन्यज्ञानेन वाच्यत्वमेवावगमयति । तदुक्तम्—
 'पूर्वं परमजातत्वादयाधित्वैव जायते । परस्यानन्ययोत्पादादाद्यथापेन संभवः' इति । यादिभिरप्यस्य भ्रान्तत्वं मन्तव्यम् ।
 तथा हि—

सर्वगतत्वे परिच्छेदर्धाभ्रमोऽणुत्व आत्मनः ।

स्थूलादिधीमृषा देहमित्ये स्यादनित्यता ॥

सर्वगतत्वे आत्मनः अहमिहास्मि सद्ने जानान इति परिच्छेदप्रतीतिः भ्रमः स्यात् । न चेदं देहस्य प्रादेशिकत्वं गृह्यते नात्मन इति युक्तम्, तथा सति अहमित्युद्देश्यायोगात् । न च अहं-शब्दो देहे उपचरितः, उपचरितात्मभावस्य देहस्य तावृत्त्यायोगेन जानान इति प्रयोगायोगात् । न च तावृत्त्यमप्युपचर्येत, स्वज्ञानप्रकाशने वक्तुस्तात्पर्यात् । तस्मादेहगतपरिच्छेद आत्मन्यप्यस्येत । अणुत्वं आत्मनः स्थूलोऽहं धीर्षे इति न स्यात् । निदापदूनदेहस्य नीरतिमग्नस्य स्वदेहध्यापिसुग्गमाभात्कारानुपपत्तिश्च स्यात् । देहपरिमाणत्वे स्वपरिच्छे-

दोहेत्यहंप्रलयस्य स्यात्प्रमात्वम् । किं तु सावयवस्यात्मनो
भवेदनित्यत्वम् । विज्ञानमात्रालम्बनत्वेऽपि अहंप्रलयस्य अभ्रा-
न्तत्वं न ह्यान्, यः सुषुप्तः सोऽहं जागर्मात्यादेः स्थिरवस्त्वव-
गाहित्वान् ।

तत्कृतत्वादहंबुद्धेरविवेकप्रकल्पनान् ।

अहं मनुष्य इत्यादिधीरध्यस्तात्मगोचरा ॥

देहादेरात्मनश्चैवमैक्येऽध्यस्ते भवेद्ध्रमः ।

दुःखानन्दादिधर्माणां व्यत्यासेन हि धर्मिणोः ॥

तथा च अहं मनुष्य इत्यादिन्यपदेशो धर्मिणोरैक्याध्यास-
कृतः । ममेदं दुःखमित्यादिन्यपदेशोऽपि धर्माध्यामजनितः
इति न गौणः । न च अद्वैतमते नैकस्याविवेकः, द्वयोर्हि
शुक्तिरजतादावविवेक इति वाच्यम्; समारोपमिद्विद्वितीय-
स्याभ्युपगमान् । न च आरोपे द्वितीयप्रतीतिः प्रतीतौ च आरोप
इति इतरेतराश्रयः शङ्क्यः, पूर्वपूर्वाध्याममिद्वस्य देहादेः सं-
स्कारारूढस्योत्तरोत्तराध्यामोपयोगित्वेन बीजाह्वयवदनादित्वे-
नाभ्युपगमान् । उपपादितं चैतद्वेदान्तकल्पतरौ । एवमात्मनः
संदिग्धत्वम् ।

अहंप्रत्ययजं दुःखमपोहानन्दमद्वयम् ।

आत्मानं दर्शयन्ती च श्रुतिः स्यात्प्रयोजना ॥

न च आरोप्यस्य देहादेरमत्त्वादप्रतीतिः गगनकमलवनू,
तथा च नागोप इति वाच्यम्; मरीचिमण्डिलात्मवदुपपत्तेः ।

एवं सदेव भातीति व्याप्तौ भग्नायां मरीचिषु सलिलं स्वरूपे-
णापि न सत् वाध्यमानत्वात् नाप्यसत् अपरोक्षत्वात् इत्यनि-
र्वाच्यम् । तथा देहाद्यपीति । अध्यासलक्षणं तु परत्रासंनिहि-
तस्य परस्यावभास इति । अत्र परत्र परस्यावभास इत्युक्ते
द्वारवत्यां दृष्टस्य चैत्रस्य वाराणस्यावभासे प्रत्यभिज्ञायाम्
अतिव्याप्तिरित्यसंनिहितेत्युक्तम् । असंनिहितावभास इत्युक्ते
स्मृतावतिव्याप्तिर्मा भूदिति परत्रेत्युदितम् । असंनिहितत्वं च
आरोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतोऽसत्त्वं न देशान्तरादौ सत्त्व-
मिति नापराहान्तः ।

अथवा संनिधानेन सत्ख्यातिरिह वारिता ।

अवभासादसत्ख्यातिर्नृष्टङ्गे तददर्शनान् ॥

न च निरंशे स्वप्रकाशे आत्मनि सर्वात्मनावभासादध्या-
सायोगः । पूर्वपूर्वाहंप्रलयतत्संस्काराभ्यां विषयीकृतस्य आ-
त्मनः कारुणिकसांशत्वप्रतीत्या प्रतीतिवशादधिष्ठानत्वसंभ-
वात् । अस्य सूत्रस्य वेदान्तैर्विचारापेक्षैरपेक्षणात्संगतिः ।
स्वाध्यायविधिवच्च स्वैतरविचारप्रयोजकत्वाच्छास्त्रान्तर्भावः ।
एतदपेक्षत्वाच्च सर्वशास्त्रस्य प्रथमाध्यायप्रथमपादाभ्यां संग-
तिरिति ॥

जन्माद्यस्य यतः ॥ २ ॥

‘यतो वा’ इत्यादिवाक्यं ब्रह्मलक्षणप्रतिपादकं न वेति
लक्षणस्य प्रसिद्धयप्रसिद्धिभ्यां संशयः । जिज्ञास्यब्रह्मलक्षण-

माक्षिष्य समार्घीयते । तत्र—

विरोधाद्ब्रह्मणा तस्य न जगद्लक्षणं मतम् ।
शुद्धानन्दादिकं नापि तस्य लोकाप्रसिद्धितः ॥

अत्रोच्यते—

जगत्कारणता ब्रह्मलक्षणं स्रग्भुजङ्गवन् ।
जीवाज्ञातपरब्रह्मविवर्तश्च जगन्मतम् ॥

एवमुपलक्षणमिद्धिः—

मिद्धः सत्यादिशब्दानामर्थो लोके तदेकता ।
सामानाधिकरण्येन लक्षणातोऽवबोधयते ॥

‘मयं विज्ञानमानन्द ब्रह्म’ इत्यत्र सत्यादिशब्दैर्जातिवचनैः एकानन्दव्यक्तिर्लक्ष्यते । सत्यत्वज्ञानत्वयोः परापरभाववन् आनन्दत्वम्य च ज्ञानत्वापरजातित्वाभावान् कथमानन्दत्वाधारस्य ज्ञानत्वाधारत्वमिति चेन्, शृणु । आनन्दत्वं ज्ञाननिष्ठम् आनन्दनिष्ठत्वान् मत्त्ववन् । न च जातिव्यक्तिभेदाद्दानन्दपदव्योक्तिर्द्वन्द्वानिः, एकस्मिन्नपि तत्त्वे कल्पितभेदेन जातिकल्पनोपपत्तेः । नन्मात्स्वरूपलक्षणमपि मिद्धम् ।

शास्त्रयोनिन्यात् ॥ ३ ॥

‘अस्य महतो भूतस्य निःश्रमितमेनशदश्वेदः’ इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणो वेदकतृत्वेन सर्वज्ञत्वं न मापयति उत साधयतीति मकतृकत्वे वेदस्य मापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्यां संशयः ।

जगत्कारणत्वसामर्थ्यसिद्धमेव ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं शास्त्रकर्तृत्वे-
नापि समर्थ्यते । शास्त्रकर्तृत्वहेतुसमर्थकन्यायभेदाच्च अधि-
करणान्तरत्वम् । तत्र—

अर्थद्रष्टा कृतो वेदः सापेक्षत्वेन दुष्यति ।
सिद्धं तद्व्याहरद्वल्ल सार्वज्ञ्यं न प्रपद्यते ॥

इति प्राप्ते, उच्यते—

कर्त्रपि ब्रह्म वेदस्य न पूर्वक्रमतोऽन्यथा ।
क्रमं करोति वाग्वज्रपातो मा भूशृणामिति ॥

वर्णनित्यत्ववादेऽपि पदवाक्यादिविभागः क्रमकृतः । क्रम-
ञ्च स्वाभिव्यक्तिकारित इति सकर्तृकत्वं वेदस्य तुल्यम्; उपा-
ध्यायकृताभिव्यक्तितुल्यत्वात् माणवककृताभिव्यक्तीनां क्र-
मवतीनां वेदनित्यता वाच्या । तन्मान् नृत्यानुकरणवद्देदानु-
करणम् । यादृशं हि नृत्यं शिक्षयन्नर्तको गात्रचालनादि करो-
ति, तादृशमेव तत् शिक्षयमाणा अनुकरोति नर्तकी । अन्यथा-
करणे च तस्या निग्रहः । एवं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरपि मन्
ईश्वरः क्रमान्यत्वे वाग्वज्रत्वेन प्राणिनां दुरितं स्यादिति तद-
भावाय पूर्वपूर्वक्रमसदृशक्रमवन्तमुत्तरमुत्तरं वेदं रचयति ।
रचनातः प्राक्च संस्कारारूढनियतक्रमवतोऽर्थसाहितस्य वेद-
स्य युगपदीश्वरेण ज्ञानान् नोपलब्धिपूर्वकरचना वेदानाम् ।
अतो न सापेक्षता । युगपच्च शब्दतदर्थज्ञानाच्च सर्वज्ञत्वम् ;
स्वकृतक्रमानुरूपेण च उत्तरक्रमरचनान् न उपाध्यायतुल्यत्व-

मीश्वरस्य; सर्वे ह्युपाध्याया उपाध्यायान्तरकृतकममनुरुन्ध-
न्ति । प्रयोगोऽपि, वेदः वेदकर्तृत्वे सति असर्वविश्व-
रहितकर्तृकः, कार्यत्वान् षट्बन् । कुलालस्यासर्वविश्वेऽपि
वेदकर्तृत्वविशिष्टासर्वविश्वराहित्यमस्त्येव; वेदकर्तृत्वाभावात्,
विशेषणाभावे विशेष्याभावे च विशिष्टाभावान् । ततः स-
साध्यः सपञ्चः । न च वेदकर्तृत्वे सति असर्वविश्वरूपप्रतियो-
ग्यप्रसिद्धौ तदभावाप्रसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वम् । उक्तेन मार्गे-
ण उपाध्यायादेवेदकर्तृत्वे सति असर्वविश्वसिद्धेः । न चैवं
कार्यत्वादिति हेतोः तत्कृतवेदे व्यभिचार, पक्षसमत्वेनादोष-
त्वान् । सर्वोपमंहारेण प्रवृत्तिव्याप्तिबलादीश्वरमादाय नत्रापि
माध्यपर्यवसानान् । उपाध्याये यदि विशिष्टाप्रसिद्धिः, तदा
किं वेदकर्तृत्वरहित्याद्वा असर्वविश्वराहित्याद्वा? आद्ये, वेद-
कर्तृत्वरहितकर्तृत्वं वेदे अव्याहृतम्; द्वितीये, वेदस्य सर्ववित्क-
र्तृत्वमिद्विरिति ॥

अपरः प्रकारो वर्ण्यते । 'तं त्वौपनिषद् पुरुषं पृच्छामि'
इत्यादिवाक्यं ब्रह्मणो वेदकगम्यत्वं समर्थयेन् न वेति कार्यत्व-
लिङ्गस्य कारणविशेषपर्यवसानापर्यवसानाभ्यां मंगयः । पूर्वं
जगत्कारणत्वेन ब्रह्म लक्षितम् । तत्र प्रमाणविशेषश्चिन्त्यते ।
नत्र—

बुद्धिमत्कर्तुरीशस्य जगत्कार्येण लिङ्गान् ।

लापवाचस्य चैकत्वे सर्वगत्यादि मिथ्यति ॥

विमतं सकर्तृकं कार्यत्वान् षट्बन्धिति सिद्धे कर्तरि स

एकोऽनेको वेति संदेहे, कल्पनालाघवादेकः, स च बुद्धैव सकलं जगत्करोतीति सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सिध्यतीति वेदान्ता न विचारणीयाः । किं तु अनुमानमेव विचार्यमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

अक्षाम्ये जगद्वेतौ न विशेषानुमोदयः ।

सामान्यतो दृष्टमपि न विशेषार्पणक्षमम् ॥

न तावदप्रत्यक्षं ब्रह्म अभिवद्विशेषतोऽनुमातुं शक्यम् ; कार्यमात्रं तु कर्तृमात्रं गमयति । न च लाघवात्तदेकत्वनिर्णयः, विचित्रप्रासादादेरनेककर्तृकत्वम्यापि दृष्टत्वेन निश्चेतुमशक्यत्वात् । तथा च कर्तुः न सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वनिर्णयः । वेदान्तेषु यत् इत्येकवचननिर्देशादेककर्तृकत्वं सिध्यतीति सर्वज्ञत्वादिनिश्चयः । तस्माद्देदकगम्यं ब्रह्मेति ॥

तत्तु सामान्ययात् ॥ ४ ॥

‘मदेव मोम्येदमम आर्मान्’ इत्येवमाद्यो वेदान्ता ब्रह्मणि प्रमाणं न वेति, सिद्धवस्तुबोधोधात्फलभावाभावाभ्यां वा, सिद्धं रूपादिहीनं यस्तु बोधयतो वाक्यस्य मानान्तरमापेक्षत्वानपेक्षत्वाभ्यां वा संशयः । शास्त्रैकगम्यत्वं ब्रह्मण उक्तम्, तदाक्षिप्यते । अथवा जगत्कारणत्वेन ब्रह्म लक्षितम्, अर्थसिद्धं च सर्वज्ञत्वं शास्त्रकर्तृत्वेन दृढीकृतम् । तादृशे ब्रह्मणि न तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणं संभवति । नापि शास्त्रं तत्र प्रमाणमित्याक्षिप्यते । तथा हि—

सिद्धान्तत्वे फलाभावात्पौरुषेयत्वसत्तितः ।

ब्रह्मोपास्तेर्विधातारो वेदान्ता इति गम्यते ॥

प्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्ये हि सुखावामिदुःखनिवृत्ती । न च सिद्धे वस्तुनि प्रवृत्तिनिवृत्ती भयत इति तत्परत्वे वेदान्तानामप्रयोजनत्वम् । सिद्धं वस्तु प्रमाणान्तरेण दृष्ट्वा पुरुषाणां तत्र वचनरचनसंभवात् वाक्यत्वादिहेतुभिः वेदान्तानां पौरुषेयत्वं प्रसज्यमानं न निवारयितुं शक्यम् । अतः सापेक्षत्वं प्रामाण्यस्य म्यान् । कार्यपरत्वे तु कार्यस्य मानान्तरायोग्यत्वान् अदृष्टचरे वचनरचनानुपपत्तः न पौरुषेयत्वमतुमातुं शक्यमिति अनपेक्ष्यत्वलाभः । तस्मान् ब्रह्मात्मत्वोपास्तिपरत्वं वेदान्तानाम् । एवं च जीवब्रह्मभेदग्राहिप्रमाणैरविरोधः । आरोपेणाप्युपास्तिविधिसंभवादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

अशोधादनवाप्तस्य ब्रह्मानन्दस्य बोधतः ।

लाभादलौकिकत्वाच्च तस्य वेदान्तमेयता ॥

उपक्रमोपसंहाराभ्यां तावद्देवान्तानामद्वैतब्रह्मपरत्वमवगम्यते । तथा 'मदेव मोम्येदमय आसीन्' इत्युपक्रम्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि' इत्युपसंहारान् । न च अप्रयोजनत्वम् । आनन्दरूपब्रह्मण आत्मत्वसाक्षात्कारादेव तद्ज्ञानवाधेन नदवाप्तेः समस्तदुःखवाधाच्च । न च सिद्धान्तत्वे वेदान्तानां नदीतीरकलसत्तावाक्यवत् पौरुषेयत्वम् । ब्रह्मात्मत्वस्य मानान्तरायोग्यत्वेन तत्र वचनरच-

नानुपपत्तेः । कार्यार्थत्वेऽपि चैत्यवन्दनादिवाक्यवत् तदापत्ते-
र्दुर्वात्त्वात् । कर्तृस्मरणास्मरणाभ्यां विशेषे ताभ्यामेव सिद्धा-
र्थवेदान्तानामपि पौरुषेयत्वानापत्तेः । न च जीवस्य ब्रह्मात्मत्वे
मानान्तरविरोधः, आत्मकर्तृत्वादिबोधकाहंप्रत्ययमिध्यात्वस्यो-
क्तत्वात् । अतः न श्रुतार्थत्यागेन अश्रुत उपास्तिविधिः कल्प-
नीय इति ॥

अपरः प्रकारः । पूर्वत्र हि, सिद्धार्थेऽपि प्रमाणान्तरपर-
तन्वाणां पौरुषेयवाक्यानां प्रामाण्यमङ्गीकृत्य वेदान्तेषु कार्य-
विषयतामन्तरेण न नैरपेक्ष्यपुरुषार्थपर्यवसाने लभ्येते इति
पूर्वः पक्षः ब्रह्मात्मैक्यस्य प्रमाणान्तरागम्यत्वेन तद्वगममा-
त्रात्प्रयोजनलाभेन च निरस्तः । इदानीं मिद्धे पदव्युत्पत्त्य-
भावादिभिः न सिद्धं शब्दप्रमेयम् ; अतः वेदान्ता उपासन-
नियोगपरा इत्याशङ्क्यते । अथवा आरोपितब्रह्मभावस्य जीव-
स्य उपास्तिपरा वेदान्ताः न ब्रह्मात्मत्वे प्रमाणमिति पूर्वः पूर्वः
पक्षः ।

अयं तु मन्तु वेदान्ता मानं ब्रह्मात्मवस्तुनि ।

किं तु मानविधिद्वारेण्येभ्य भेदः प्रतीयते ॥

मन्देश्यादिवेदान्ता विधेयप्रतिपत्तिविषयत्वेन ब्रह्म प्रमि-
मते इत माक्षादिति, मिद्धे शब्दस्य व्युत्पत्त्यभावभावाभ्यां
संशयः । शास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तं ब्रह्मणः, तद्वत्विशेषातिन्यते ।
तत्र मिद्धे वस्तुनि शब्दानाम्—

अज्ञातसंगतित्वेन शास्त्रत्वेनार्थमत्तया ।

मननादिप्रतीत्या च कार्वाथीद्ब्रह्मनिश्चयः ॥

सिद्धं वस्त्वप्रयोजनं न श्रोत्रा प्रतिपिस्तितं नापि वक्त्रा प्रतिपिपादयिपितमिति न तत्र वाक्यप्रयोगः । न च शब्दप्रयोगविषये व्युत्पत्तिप्रहः । न च सिद्धस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यगोचरत्वात् तदवगमः मध्यमवृद्धप्रवृत्त्या बालेनानुमातुं शक्यते । अद्बुद्धा तदवगमं शब्दस्य तज्जनकत्वशक्तिर्न शक्यमहा । शास्त्रत्वाच्च वेदान्तानां नियोगपरत्वम्, प्रवर्तकवचनस्य शास्त्रत्वप्रसिद्धेः । तदुक्तम्— ‘प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते’ इति । वेदान्तैः सिद्धब्रह्मप्रतिपादने च न प्रयोजनं दृश्यते । रज्जुरूपेत्यादिसिद्धबोधे भयनिवृत्तिर्दृष्टेति नोदाहरणम् । यदि च ब्रह्मबोधमात्रान्मोक्षः, तर्हि श्रवणेनैव तत्सिद्धैर्मननादिविधिर्न स्यात् । तस्मात् ब्रह्मोपास्तिविधिपरा वेदान्ताः विधेयोपास्तिविषयत्वेन ब्रह्म गमयन्ति । मोक्षश्च उपास्तिफलं विध्यवगम्यः इति प्राप्ते, वुच्यते—

कार्यबोधे चथा चेष्टा लिङ्गं हर्षादियस्तथा ।

सिद्धबोधेऽर्थवसैवं शास्त्रत्वं हितशाम्यनात् ॥

न तावत्कार्यबोध एव मध्यमवृद्धवर्तिप्रवृत्तिलिङ्गेनावगन्तुं शक्यः न सिद्धबोध इति नियमः, पुत्रलो जात इति पटवामोपायनार्पणपुरमरमभिहितवति वार्ताहरे तेन सह समाग-

तस्य बालस्य प्रतिपन्नपितृप्रमोदहेतुभूतपुत्रजन्मनः पितृमुख-
 विकासादिना तदीयहर्षमनुमिन्वतः हर्षेण च हर्षहेतुबोधं कल्प-
 यतः हर्षहेतुबोधे पुत्रस्ते जात इति वाक्यस्य जनकत्वशक्ति-
 प्रहात्, प्रयोगभेदेषु च आवापोद्वापाभ्यां प्रतिपदं शक्यवग-
 मात् । एवं च निद्धार्थवाक्यस्याप्यर्थवत्ता, पुत्रजन्मवाक्यादेव
 पितृदर्पोत्पादात् । शास्त्रत्वं तु वेदान्तानां हितब्रह्मबोधकत्वा-
 दुपपन्नम् । न च ब्रह्मबोधो निष्प्रयोजनः, ब्रह्मसाक्षात्कारे प-
 रमानन्दब्रह्माभिव्यक्तेः सर्वदुःखोच्छेदाच्च । मननादेस्तु भवण-
 वदवगत्यर्थत्वात् अवगतेश्च दृष्टफलत्वात् अवगतब्रह्मणश्च अपू-
 र्धानुपयोगान् न उपास्तिविधिकल्पकत्वम् । उपास्तिसाध्यत्वे
 च मोक्षस्य अनित्यत्वापत्तिरिति ॥

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

‘सदेव मोम्बेदमप्र आमीदेकमेवाद्वितीयम्’ ‘तदैक्षत बहु
 स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत’ इति, तथा ‘यः सर्वज्ञः
 सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च
 जायते’ इति समामनन्ति । तत्र यदीक्षितृ सर्वज्ञं जगदुपादानं
 तत्रेतनमचेतनं वेति ज्ञानज्ञातृत्वाभ्यां संग्रयः । ज्ञानं हि चेतन-
 म्परूपे न संभवति । ज्ञानकर्तृत्वं च व्यापारवत्यचेतन इति ।
 पूर्वं सर्वज्ञे जगत्कारणे समन्वयप्रदर्शनेन चेतनं तदित्युपक्षि-
 तम् ; तदाक्षिप्यते—

ज्ञानक्रियाशक्त्यभावाद्ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।

न सर्वशक्तिविज्ञाने प्रधाने त्वस्ति संभवः ॥

न तावत्स्वरूपचैतन्येन ब्रह्मणः सर्वज्ञता, जीवानामपि तदापत्तेः । तन्मात्सर्वविषयज्ञानपरिणामेन सर्वज्ञत्वम्; सर्वोत्पादनक्रियाशक्तियोगाच्च सर्वशक्तित्वम् । न च सर्वजननशक्तिसर्वविषयज्ञानयोर्ब्रह्मणि संभवः, तस्य ज्ञानक्रियाशक्त्यभावात्—ज्ञानक्रिययोः शक्ती ज्ञानक्रियाशक्ती, तयोरभावादित्यर्थः । यस्य हि किञ्चिन्मात्रजननशक्तिः किञ्चिन्माल्लज्ञानशक्तिर्वा न संभवति, कुतस्तस्य सर्वजननशक्तिसर्वविषयज्ञाने भवेताम् ! शक्तिद्वयाभावे हेतुः अपरिणामित्वम् । कार्योन्नेया हि शक्तिः; कार्यं च ज्ञानक्रियं नास्य स्तः अपरिणामित्वादित्यर्थः । त्रिगुणे तु प्रधानं सत्त्वपरिणामज्ञानसंभवात् जगत्परिणामसंभवाच्च सर्वज्ञत्वमर्षशक्तित्वयोरस्ति संभव इति । अथवा ब्रह्मणः कारणत्वेक्षिनृत्वयोरसंभवान् 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादिगौणैक्षणसन्निवेशे प्रत्यासन्नसर्गत्वमित्यतः कार्यकर्तृत्वाभ्यां गुणाभ्यां प्रधानस्य ऐक्षिनृत्वमुपपद्यत इति प्राप्ते, अभिधीयते—

दृश्यादच्छिन्नरूपेणानित्यां दृष्टिमपीश्वरः ।

करोतीति न सर्वज्ञो न प्रधानमचैतनम् ॥

पञ्चतेत्यत्र प्रकृत्यर्थस्तावन् ब्रह्मस्वरूपम् । अस्यैव विषयावच्छिन्नचैतन्यं कादाचित्कमिति तत्प्रति कर्तृत्वाद्ब्रह्मणि प्रत्यासन्नोऽप्युपपन्नः । न च अव्याकृतनामरूपावच्छिन्नचैतन्यस्य

प्रलयसमयादारभ्य सत्त्वात् न सृष्टिनियामकत्वमिति वा-
च्यम्, प्राणिकर्मविपाकावसरावच्छिन्नस्य तदुपपत्तेः । न
चैवमुपाध्यपेक्षं ज्ञातृत्वममुख्यमिति वाच्यम्, मुख्यत्वान्यस्या-
संभवात् । न तावदात्मनः परिणामो गुणो वा ज्ञानं ज्ञातृत्वं
च ज्ञानाकारपरिणामित्वं तदाश्रयत्वं वेति युक्तम्, आत्मस्व-
प्रकाशत्वसमर्थनादेषोभयविधज्ञातृत्वस्यासंभवात् । तस्मात्
व्यापारवत्या बुद्धेश्चैतन्यारोपेण वा बुद्धववच्छिन्नचैतन्यस्य
प्रतिविम्बत्वेन बुद्धिगतव्यापारारोपेण वा आत्मनि ज्ञातृत्वं
भवद्विरभ्युपेयम् । अतः सर्वत्रावास्तवं ज्ञातृत्वमिति ब्रह्मण्य-
प्यौपाधिकज्ञातृत्वस्य न गौणत्वम् । न च गौणेषु प्रायपा-
ठाङ्गौणत्वम् । संशये प्रायपाठस्यानिश्चायकत्वात् इह न मुख्य-
गौणयोर्मुख्यस्यैव निश्चयात् । न च सत्त्वपरिणाम एव ज्ञानम्,
तत्कर्तृत्वं च ज्ञातृत्वं मुख्यमस्ति प्रधानस्येति युक्तम् । सत्त्वस्य
जडत्वेन ज्ञातृत्वानुपपत्तौ तत्परिणामस्यापि ज्ञानत्वानुपपत्तेः ।
न च स्वच्छस्य सत्त्वस्य ज्ञानप्रतिविम्बधारित्वमेव ज्ञातृत्वम्,
सत्त्वप्रधानानामिन्द्रियाणां ज्ञातृत्वाभावान्, ज्ञातृत्वस्य च
आत्मधर्मत्वप्रसिद्धेः । तस्माद्ब्रह्मैव सर्वज्ञमीक्षितृ, न प्रधानम् ।
तस्य च अपरिणामिनोऽपि शुक्तिवज्रगद्विवर्ताधिष्ठानत्वेन
सर्वशक्तिमत्त्वमप्युपपन्नम् । न च प्रधानं परमाण्यो वा
जगदुपादानम् ईक्षिता तु उपादानातिरिक्त ईश्वर इति युक्तम् ।
'तदैक्षत बहु स्याम्' इति ईक्षितुरेव कार्याभेदप्रतीतेरुपादा-
नत्वनिश्चयादिति ॥

आनन्दमयोऽभ्यासान् ॥ ६ ॥

तत्तरीयकेऽन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयं चानु-
क्रम्यान्नायते 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा-
नन्दमयः' इति । तत्रैकदशिमतेनाधिकरणं रच्यते । तत्रान-
न्दमयो जीव उत ब्रह्मेति मयटो विकारप्राचुर्ययोः साधारण-
त्वात्संनयः । तत्र—

गौणप्रवाहपातेऽपि युज्यते मुख्यमीक्षणम् ।

मुख्यत्वं तूमयोस्तुल्ये प्रायदृष्टिर्विशेषिका ॥

अथादिगौणेक्षणप्रवाहपातेऽपि जगत्कारणे ईक्षणं मुख्य-
मिति युज्यते, मुख्यसंभवे गौणस्यानवकाशत्वान् । अतः तत्र
मंग्रथानुदये प्रायपाटोऽकिञ्चित्करः । इह तु मयटो विकार-
प्राचुर्ययोरुभयोर्मुख्यत्वे सति विकारार्थग्रहणेऽन्नमयादिविकार-
प्रायदृष्टिः विशेषिका प्राचुर्यार्थान् व्यतिरिक्ता । एवं च पूर्वा-
विकारणमिद्वान्ताभावेन पूर्वपक्षोत्थानान् प्रत्युदाहरणलक्षणा
मंगतिः । ननु युक्तमन्नविकारे देहे मयटो विकारार्थत्वम् । प्रा-
णमयादेस्तु प्राणादिविकारत्वाभावात् न विकारप्रायदृष्टिरिति
स्वार्थिक एव मयदिति नेत्र । प्राणाद्युपाध्यवच्छिन्नस्यात्मनः
प्राणादिविकारत्वान् अनात्मकदेहावच्छिन्नस्य आत्मन एव
अन्नमयत्वम्, 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इति प्रकृता-
त्मानं परामृश्य तस्य अन्नरसमयत्वाभिधानान्, मत्यां च गती
प्राणमयादौ मयटः स्थादिभूत्वायोगान् । न च मयान्तरत्वलि-

द्वाहिकारसंनिधिबाध इति युक्तम्, तस्याश्रुतत्वात् । न च आनन्दमयादप्यान्तरवस्त्वनुपदेशादथादयमेव सर्वान्तर इति सांप्रतम्, विज्ञानमयान्तफोशापेक्षया आन्तरत्वेऽस्याधगते सति आनन्दमयादान्तरस्यानियारणान् । बलवान्देवदत्तो यो यज्ञदत्तादीन्प्रसह्य वर्तते इत्युक्ते हि यज्ञदत्तापेक्षमेव देवदत्तस्य बलवत्त्वमवगम्यते, न तु सिंहशार्दूलादीनपि प्रति । प्रियाद्यवयवत्वलिङ्गान् शारीरश्रुतेश्च जीव एवानन्दमय इति तदुपास्तिपरं वाक्यम् । फलं तु दुःखरहितप्रियादियुक्तजीवात्मनावस्थानमिति प्राप्ते, उच्यते—

अत्रानन्दमयोऽभ्यासात्प्रतिपाद्यः प्रतीयते ।

प्रत्यक्षस्य न जीवस्य वेदान्तैः प्रतिपादना ॥

अध्यस्यते हि—‘यदेष आकाश आनन्दो न स्यादेष ह्यवानन्दयाति’, ‘सैषानन्दमय सोमात्मा भवति’ इत्यादि । न चायं पुच्छब्रह्मणोऽभ्यास इति युक्तम्, तस्यावयवत्वेनाद्गत्वात्प्रधानत्वाच्चानन्दमयस्यानन्दमयवाक्येन प्रतिपादनान् । तथा च तं प्रक्रम्यानन्दप्रातिपदिकाभ्यामस्तर्भ्येव । यथा उपैतिष्ठोमं प्रकृत्य ‘वमन्ते वमन्ते ज्योतिषा यजेत’ इत्यत्र ज्योतिःपदेन ज्योतिष्ठोमाभ्यासः । न च विकाराणां संनिधिपठितत्वादयमपि विकार इति मन्तव्यम् । तेषामेतत्प्रतिपत्त्यद्गत्वेन तत्संनिधेरन्यथासिद्धत्वेन प्रधानस्याद्गानुरोधेन विकारत्वानुपपत्तेः । न चायमप्येतदभ्यन्तरमप्य कस्यचित्प्रतिपत्त्युपाय इति वाक्यम्, एतन्मादान्तरस्याश्रुतत्वान् । फलवत्पुच्छेऽपि देवदत्ते सिद्धादे-

स्ततोऽपि बलवत्त्वं मानान्तराद्यगतमिति देवदत्तबलवत्त्वनापे-
क्षिकम् । आनन्दमयादान्तरे तु नास्ति मानान्तरम्, न च श्रुति-
रिति विशेषः । एवं च सर्वान्तरत्वलिङ्गाद्विकारसंनिधेर्वाधा-
न्यथासिद्धी उक्ते प्रियाद्यवयवत्वशारीरत्वे चोपाधिके । तस्मा-
द्ब्रह्मवानन्दमय इति ॥

स्वमनेनाधिकरणं वर्ण्यते—

आनन्दमयोऽभ्यामान् ॥ ७ ॥

ब्रह्म किमानन्दमयस्यावयवः उत स्वप्रधानमिति पुच्छ-
ब्रह्मशब्दाभ्यां सशयः । पूर्वत्र मुख्यक्षणात् ब्रह्मनिर्णयेन
गौणक्षणप्रायपाठो वाधितः । इह तु पुच्छशब्दस्य लाङ्गुले
रूढस्य अवयवमात्रपरत्वाधारमात्रपरत्वे च तुल्ये लाक्षणिकत्वे
मति अवयवप्रायपाठान्तत्तत्त्वमभिव्याहृतं ब्रह्म आनन्दमयाव-
यव इति मगतिः । न च पुच्छशब्दस्याधारमात्रपरत्वेऽप्यस्ति
ब्रह्मशब्दमभिव्याहार इति युक्तम्, विशेष्यान्न्दमयं प्रत्य-
ङ्गत्वेन ब्रह्मणोऽवयवत्वप्रतीतिः । तत्रैकदेशिमतसिद्धान्त-
रूपपूर्वपक्षे प्राप्ते, सिद्धान्तः—

सर्वान्तरत्वमानन्दमयस्याभिव्यहमाह हि ।

तस्मादप्यान्तरं ब्रह्म ब्रह्म पुच्छमिति श्रुतेः ॥

यत्तु अवयवत्वेन ब्रह्म समर्प्यते न स्वप्रधानत्वेनेति, नेति
श्रुतेः । न तावदवयवत्वानन्दमयो वाक्यात्प्रधानोऽवगतः, येन

तस्य ब्रह्मावयवोऽङ्गमिति युक्तम्, ब्रह्मश्रुतेर्ब्रह्मप्राधान्यावग-
मात्, वाक्याच्च श्रुतेर्बलीयस्त्वात् । अपि च—

प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनम् ।

पूर्वस्मिन्नूत्तरे पक्षे प्रायपाठस्य बाधनम् ॥

आनन्दमये हि ब्रह्मण्याभ्रीयमाणे मयदो विकारप्रा-
यपाठः परित्यक्तः स्यात् । मयद् विकारे मुख्यः, न अविकारे
ब्रह्मणि । न च प्राचुर्यार्थत्वम्, दुःखाल्पत्वस्यापि प्रसद्धान् ।
न च प्रचुरप्रकाशः सवितेत्युक्ते यथा तमसोऽनुवृत्तिर्न प्रती-
यते एवमिहेति वाच्यम्, तत्रापि शब्दबलाद्विरोध्यनुवृत्ति-
प्रतीतेः । मानान्तरेण तु तदभावावगमे प्राचुर्यमल्पत्वनिवृत्ति-
परं कल्प्यते । तस्मान्मयदर्थस्य मुख्यस्य त्यागः । एवमान-
न्दाभ्यासोऽप्यानन्दे मुख्यस्त्यज्येत । ब्रह्मशब्दोऽपि निर्विकार-
ब्रह्मणि मुख्योऽतिलङ्घितः स्यात् । एवं पूर्वपक्षे प्रायपाठप-
रित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनं च स्यात् । सिद्धान्ते तु पुच्छ-
शब्दावयवप्रायपाठमात्रं बाध्यते । तच्च तुल्यं विकारप्राय-
पाठबाधेन अनुगृह्यते तु मुख्यत्रितयम् । तस्मात्सिद्धं स्वप्रधानं
ब्रह्मेति ॥ .

अन्नस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ ८ ॥

इदमाश्रायते— 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते
हिरण्यश्मधुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा
कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः

पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ..
 इत्यधिदैवतम्' 'अथाध्यात्मम्...य एषोऽन्तरिक्षिणि पुरुषो
 दृश्यते' इत्यादि । तत्र किं हिरण्यमयः पुरुषः आदित्यदेवता उत
 सर्वेश्वर इति रूपवत्त्वादेः सर्वपापविरहसर्वात्मत्वाभ्यां च सं-
 शयः । पूर्वत्र मुख्यत्रितयादिबहुप्रमाणवशात् ब्रह्म स्वप्रधानमि-
 त्युक्तम् । एवमिहापि रूपवत्त्वादिबहुप्रमाणानुसारेण सार्वा-
 त्म्यसर्वपापविरहलिङ्गे नीत्वा संसारी हिरण्यमयो व्याख्येयः ।
 तथा हि—

मर्यादाधाररूपाणि संसारिणि परे न तु ।

तस्मादुपास्यः संसारी कर्मानधिकृतो रविः ॥

हिरण्यमधुत्वादिरूपभ्रवणात्, य एषोऽन्तरादित्ये य एषो-
 ऽन्तरिक्षिणि इति च अधिकरणभेदश्रवणात्, 'ये चासुष्मात्परा-
 श्वो लोकास्तेषां चेट्रे देवकामानां ये चैतस्मादर्वाश्वो लोका-
 स्तेषां चेट्रे मनुष्यकामानां च' इत्यैश्वर्यमर्यादाश्रुतेश्च संसार्या-
 दित्य उपास्यः । तस्य च देवत्वेन कर्मानधिकारात्सर्वपाप्मभ्य
 उदय उद्गमनम्, तस्य मृतुत्वान्न 'अथ च साम च गेणो'
 इत्यादिसर्वात्म्यनिर्देशश्चोपपन्नाविति प्राप्ते, उच्यते—

सर्वात्म्यमर्षदुरितविरहाभ्यामिहोच्यते ।

ब्रह्मवाक्यभिचारिभ्यां सर्वहेतुर्विकारवत् ॥

ऋगाद्यात्मत्वेन मर्यात्मत्वं कारणस्य ब्रह्मणः कार्याभेदाद्यु-
 च्यते । जीवस्य तु न जगत्कारणत्वम् । सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित

इति सर्वपाप्मविरहः परमेश्वरस्य युक्तः, अपहृतपाप्मेत्यादौ तस्यैव तद्वगनेः । न जीवस्यादित्यस्य, तस्य देवशरीरे पाप्मानधिकारेऽपि अनादिभवपरंपरोपाजितपाप्मनां प्रसुप्तानां संभवात् । एवमनन्यथासिद्धसर्वपाप्मविरहसर्वात्मत्वाभ्यां बहून्यपि रूपवत्त्वादीनि नेतव्यानि । नत्र रूपवत्त्वमौश्वरस्य परानुग्रहार्थं कार्यनिर्माणेन वा कार्यस्य शरीरस्य कारणाभेदाद्वा घटते । एवं मर्यादाधारभेदावपि कार्यगतौ कार्यस्य कारणाभेदादीश्वरस्योपासनार्थं निर्दिष्टौ । तस्मादीश्वर एव हिरण्यः पुरुष इति ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ ९ ॥

‘अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणं स एष परोवरीयानुद्गीधः स एषोऽनन्तः’ इत्यत्र संशयः— किमाकाशशब्देन ब्रह्म अभिधीयते, उक्तं भूताकाश इति, भूताकाशे आकाशशब्दस्य रूढत्वात्, ब्रह्मणि च वेदे निरूढप्रयोगदर्शनात् । पूर्वत्रानन्यथासिद्धलिङ्गादन्यथासिद्धरूपवत्त्वादिलिङ्गं नीतम् । इयं तु श्रुतिलिङ्गान्नान्यथयितव्येति प्रत्युदाहरणलक्षणा संगतिः ।

प्रथमत्वात्प्रधानत्वादाकाशं मुख्यमेव नः ।

तदानुगुण्येनान्यानि व्याख्येयानीति निश्चयः ॥

‘अस्य लोकस्य का गतिः’ इति प्रश्नोत्तरे ‘आकाश इति हो-
वाच’ इत्याकाशस्य गतिशब्दवाच्यकारणत्वेन प्रतिपाद्यतया
प्राधान्यात् सर्वकारणत्वादेस्तद्विशेषणत्वेन गुणत्वात् प्रथमत्वे-
नाजातविरोधित्वादाकाशस्य परत्वाच्च इतरस्य तदनुसारेण
वाय्वादिकारणे आकाशे नेतव्यत्वाद्भूताकाशमुद्गीथे संपाद्यो-
पाख्यमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

सामानाधिकरण्येन प्रश्नतत्प्रतिवाक्ययोः ।

पौर्यापर्यपरामर्शात्प्रधानत्वेऽपि गौणता ॥

न तावदाकाशस्य प्रथमश्रुतत्वम् । ‘अस्य लोकस्य का
गतिः’ इति सर्वजगत्कारणस्य पूर्वं पृष्टत्वान् आकाशस्य लो-
मध्यपातित्वेन सर्वकार्यकारणत्वानुपपत्तेः । न च ‘अस्य लो-
कस्य’ इति पृथिवीलोकमात्रमुपलक्षितमिति वाच्यम् । तत्का-
रणमात्रं निरूपयितुं पृच्छतः प्रवाहणस्य स्वपक्षेऽप्यन्तवत्त्व-
साम्यात् ‘अन्नवद्वै किल ते शालावत्य माम्’ इति परपक्षेऽन्तव-
त्त्वप्रमञ्जनानुपपत्तेः । एवं सति उत्तरेणाकाशशब्देन ब्रह्मैव
अभिधानीयम् । तदेवं प्रश्ने ब्रह्मैव प्रश्नुतम् । उत्तरे च तदेव
वक्तव्यम्, प्रश्नप्रतिवचनयोरैकार्थ्यात् । न चोत्तरे रूढिवलेन
भूताकाशप्रतीतिस्तद्वशात्प्रश्नो नेतव्य इति युक्तम्, प्रश्नस्य
पूर्वत्वेनाजातविरोधित्वान् । तदुक्तं पौर्यापर्यपरामर्शादिति,
पूर्वोत्तरत्वेनानुसंधानादित्यर्थः । न च आकाशस्य प्राधान्यम्,
सर्वकारणस्य पृष्ट्यैव प्रधानत्वान् । आकाशपदमपि तद्वग-
मयत्प्रधानार्थं म्यादिनि ॥

अत एव प्राणः ॥ १० ॥

‘प्रस्तोतार्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेद्विद्वान्प्रस्तोद्य-
सि भूर्धा ते विषतिष्यति’ इति चाक्रायणेनाक्षिप्तः प्रस्तोता तं पृ-
च्छति ‘कतमा सा देवता’ इति । चाक्रायणस्तु प्राण इति होवाच
सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति लयकाले,
प्राणमभ्युज्जिहते उद्गच्छन्ति सृष्टिकाले, सैषा देवता प्रस्तावमन्वा-
यत्ता इति । अत्र अतिदेशत्वात्पूर्ववत्संशयादयः । प्राणशब्दो हि
‘प्राणस्य प्राणम्’ इत्यादौ वेदे ब्रह्मणि निरूढः प्रयुज्यते । रूढश्च
जायुविकारे । अतः किंविषय इति संशयः । हिरण्यवाक्ये-
ऽनन्वथामिद्धब्रह्मलिङ्गानुसारेण रूपवत्त्वादि नीतम् । प्राणश्रु-
तिर्लिङ्गान्नान्यथयितव्येति पूर्ववदं व संगतिः । अथवा अनन्त-
वस्तुपरत्वादुपक्रमोपसंहारयोरस्त्वाकाशवाक्यं ब्रह्मपरम् । अत्र
तु ब्रह्मासाधारणधर्मपरोपक्रमोपसंहारादर्शनात् ब्रह्मपरतेति
संगती । अथवा आकाशवाक्यानन्तर्यात्प्राणवाक्यस्येति सं-
गतयः । तत्र प्रथमत्वप्रधानत्वादिभिः पूर्वपक्षः । ‘कतमा सा
देवता’ इति चेतनवचनदेवताशब्देन प्राणशब्दात्प्रागेव प्रश्नोप-
क्रमात्प्राणश्रुतिप्राथम्यश्रुतेः, ‘प्राण इति होवाच’ इत्युत्तरस्य च
प्रश्नेन समानविषयत्वात्पूर्वप्रतीतप्रश्नानुसारेण च चरमप्रतिव-
चनस्य नेतव्यत्वान्, पृष्टदेवतायाश्चेतनाया एव प्रधानत्वात्
सर्वभूतसंवेशनोद्गमनलिङ्गाच्च ब्रह्मैवात्र प्राणशब्दमिति पूर्वव-
देव सिद्धान्तः । तर्हि तेनैवैतद्ब्रह्मम्; तत्र । यतः—

अथे श्रुत्येकगम्ये हि श्रुतिर्नवाट्टियामहे ।
मानान्तरावगम्ये तु तद्वशात्तत्रवस्थितिः ॥

आकाशवाक्ये हि ब्रह्मणो वा सर्वभूतकारणत्वं नभसो वा वाय्वादिकारणत्वं न मानान्तरेणावगन्तुं शक्यम् । पौ-
र्वापर्यालाचनायाम् आम्नायो यत्र समश्वसः स तदर्थः, नेतरः ।
इह तु भूतसंवेदानाद्रमने प्राणं प्रति श्रूयमाणे, किं ब्रह्म प्रति
श्रूयते, किं वा वायुविकारं प्रतीति विज्ञये, 'यदा वै पुरुषः
स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति' इत्यादिकायाः श्रुतेः सुषुप्तिमभये
जाग्रतमभये च सर्वभूतसारेन्द्रियोपलक्षितसर्वभूतानां प्राणे
ल्योद्भवप्रतिपादिकाया मानान्तरसंवादलक्ष्यवलाया बलान् 'स-
र्वाणि ह वा' इति वाक्यमपि वायुविकारे सर्वभूतोत्पत्तिलय-
परिमल्यधिकाशङ्का अत्र निवर्त्यते ।

पुंवाक्यस्य बलीयस्त्वं मानान्तरसमागमान् ।

अपौरुषेयं वाक्यं तत्संगतिः किं करिष्यति ॥

संवाद्वा प्राणेन्द्रियमात्रलयस्य दृश्यते, न सर्वभूतानाम् ।
तेन 'यदा वा' इति वाक्यमिन्द्रियमात्रस्य प्राणे लयं वक्ति, न
तद्वलान् 'सर्वाणि' इति वाक्यव्यवस्था । किंच—

यदा वा इति संवर्गविज्ञायां श्रूयते वचः ।

सर्वाणीत्येतदुद्दिष्टे नानयोरैकवाक्यता ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानान् ॥ ११ ॥

‘अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेपूत्तमेपु लोकेष्विदं नाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः’ इति समान्नायते । विश्वशब्दस्य संकोचमाशङ्क्य सर्वत इत्युक्तम् ; नास्त्येभ्योऽधिकमन्यदुत्तममित्यनुत्तमेष्वित्यभिहितम् । अत्र संशयः— किं ज्योतिःशब्देन तेजोऽभिधीयते, उत ब्रह्मेति । ‘तदेवा ज्योतिषां ज्योतिः’ इत्यादिषु श्रुतिषु ब्रह्मणि निरूढप्रयोगात्तेजसि रूढेश्च । पूर्वत्र वाक्यशेषगतब्रह्मलिङ्गादाकाशप्राणशब्दौ ब्रह्मणि नीतौ । ज्योतिर्वाक्ये तु नास्ति ब्रह्मलिङ्गम् । अथवा तद्विङ्गाद्ब्रह्मनिर्णयवत्तेजोलिङ्गादिह तेज एव ज्योतिःशब्दम् । तथा हि, मुख्यगौणग्रहणविशये मुख्ये संप्रत्ययश्च

औत्सर्गिकत्वाद्वाक्यस्थतेजोलिङ्गोपलम्भनात् ।

वाक्यान्तरेणानियमात्तदर्थप्रतिसंधितः ॥

तेज एव ज्योतिःशब्दमित्यधस्तानप्रतिज्ञया संबन्धः । बलवद्वाधकाद्वा आकाशप्राणशब्दौ मुख्यार्थादपोदितौ । ज्योतिःपदस्य तु मुख्यतेजोवचनत्वे वाधकस्तावद्वाक्यशेषो नास्ति । एतेनाग-
तार्थत्वं च सिद्धम् । प्रत्युत तेजोलिङ्गमेव वाक्यशेषे दृश्यते ‘दी-
प्यते’ इति प्रबलत्वम् । ‘इदं नाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्यो-
तिः’ इति च कौशेयतेजस्यध्यस्यमानं तत्स्वरूपं भवितुमर्हति,
सारूप्यनिमित्तत्वादारोपस्य । तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत
चक्षुष्यो रूपवान् श्रुतो विभ्रुतः—इति च अल्पफलश्रवणं न ब्र-
ह्मोपासनस्य युक्तम् । ‘तस्यैषा दृष्टिर्गदेतत्तन् स्पशेन्नोष्णिमानं

जानाति तस्यैवा श्रुतिर्यदेतत्कर्णावपिधाय निनदमिव शृणोति' इति चौष्ण्यघोषानुमितत्वं कौक्षेयस्यैव तेजसः । तस्मादत्र वाक्ये तेजोलिङ्गमेव दृश्यते । न च 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति ब्रह्मप्रतिपादकं वाक्यान्तरम् 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति ज्योतिःशब्दं ब्रह्मणि व्यवस्थापयति, संनिधानाच्छ्रुतेर्वलीयस्त्वात् । तदिदमुक्तं वाक्यान्तरेणानियमादिति । अपि च वाक्यान्तरे दिवीति द्यौराधारत्वेनोक्ता । अत्र तु दिव इति मर्यादात्वेन । अतोऽर्थप्रत्यभिज्ञाभावरूपलिङ्गादपि मंनिधिवाचः । तदिदमुक्तं तदर्थोप्रतिसंधित इति । अपि च अभ्युपेत्य वाक्यान्तरस्य ब्रह्मविषयत्वमिदमुक्तम् । न त्वेतदस्मि । तत्र गायत्रीच्छन्दोभिधायित्वमंदेशान् । तदभ्युपेतं तदर्थोप्रतिसंधित इति । अर्थानिश्चयादित्यर्थः । एवं प्राप्ते, उच्यते—

मर्वेनामप्रमिद्वार्थं प्रमाध्वार्थविधातकृन् ।

प्रमिद्वपपेक्षिमत्पूर्ववाक्यममपकपंति ॥

तद्बलात्तेन नेयानि तेजोलिङ्गान्यपि ध्रुवम् ।

प्रद्वष्येव प्रधानं हि प्रद्व छन्दो न तत्र तु ॥

न चय वाक्यान्तरस्य ब्रह्मलिङ्गमात्राज्योतिःश्रुति याधामं-
दे । किन्तु तदुपर्युहितयच्छब्दभृत्या । अथ हि 'यदतः' इति प्रथम-
पठितयच्छब्दोक्तमेव ज्योतिःपदेन वाच्यम् । यच्छब्दश्च प्रज्ञात-
यचनः । अगत्या तु प्रज्ञाम्यमानं यदनि । स च पूर्ववाक्यति-

दिष्टं त्रिपाद्ब्रह्म परामृशति । लोकप्रसिद्धेरपि वाक्यप्रसिद्धेः श्रुतिं प्रति संनिकर्षात् । येनैष पूर्ववाक्यस्थमपकर्षति, तेन तस्य सर्वनामो बलात्तेजोलिङ्गानि ब्रह्मण्येवं नेयानि, दीप्यमानकार्यज्योतिषि तत्कारणत्वेनानुगते ब्रह्मणि लक्षणया दीप्यमानत्वं व्याख्येयम् । साहस्यं चारोपेऽनैकान्तम्, नाग्निं ब्रह्मारोपात् । अल्पफलवत्त्वमपि अन्नह्योपास्तित्वे सव्यभिचारम् । 'अज्ञादो वसुदानो विन्दते वसु' इत्यादावज्ञादत्वादिगुणविशिष्टब्रह्मोपास्तेरनादिप्राप्तिफलश्रवणात् । न च दिव्याधेयस्य त्रिपाद्ब्रह्मणो दिवःपरत्वायोगाज्ज्योतिर्वाक्ये नास्ति प्रत्यभिज्ञेति वाच्यम् । अर्थतः प्रधानस्य सुप्रातिपदिकार्थस्योभयत्र प्रत्यभिज्ञाने तद्विशेषणविभक्त्यर्थभेदस्याकिञ्चित्करस्य तदनुसारेण नेतव्यत्वात् । तदुक्तं प्रधानं हीति । प्रातिपदिकार्थ इत्यध्याहारः । शरीराद्ब्रह्मिः शरीरमध्ये हृदयपुण्डरीकमध्ये च आकाशास्त्रिधावच्छिन्नः । तस्मिन् सर्वत्र वर्तमानमपि ब्रह्म अन्तराकाशावच्छिन्नं बाह्याकाशभागापेक्षया दिवः परमित्युच्यते । तत्तदवकाशावच्छेदाच्च तदेष दिवीत्युक्तमिति । यत्तु पूर्ववाक्ये छन्द उक्तमिति, तत्र । यतः 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इति गायत्रीं प्रकृत्य 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः' इत्यस्यामृचि तावन्नतुष्पाद्ब्रह्मोक्तम्, पुरुषपदश्रवणात् । नैव च 'तदेतद्वाभ्यन्तकम्' इति तदेतच्छब्दाभ्यां प्रकृतार्थे संगमिता । सर्वभूतात्मत्वं च न छन्दसः । न च भूतपृथिवीशरीरहृदयात्मत्वादयः । तस्माद्वायव्युपलक्षितं ब्रह्म उपास्यम् ॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥ १२ ॥

अस्मि कौपीतकिन्नाद्यणोपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका ।
 'प्रतर्दनो ह वै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं घामोपजगाम युद्धेन च
 पौरुषेण च' इत्याम्नाता । तस्यां श्रूयते 'स होवाच प्राणोऽस्मि
 प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व' इति तद्देवताया लिङ्गम् । त-
 थोत्तरत्र 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापय-
 ति' इति एतत्प्राणस्य । तथा 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्त्रारं वि-
 गान्' इत्यादि एतन् जीवस्य । अन्ते च 'स एष प्राण एव प्रज्ञा-
 त्मानन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि इदं मद्मणः । नैतन् 'अत एव
 प्राणः' इत्यनेन गतार्थम् । तत्र हि मद्मलिङ्गात्प्राणश्रुतिर्नीता ।
 इह तु श्रुतिभङ्गाय न्यायो न निरूप्यते, किं तु तां म्वीकृत्यैव ॥

अनेकलिङ्गमंदोहे बलवत्कस्य किं भवेत् ।

लिङ्गिनो लिङ्गमित्यत्र चिन्त्यते प्रागचिन्तितम् ॥

अनेकेषां जीवादीनां प्रत्येकमेतेकानि लिङ्गानीह मिलन्ति ।
 तेन भूयसां न्यायोऽपि सर्वेषां ममः । तत्र किं लिङ्गं बल-
 वत्किं मर्दानि ममबलानि, उतैकस्यैव लिङ्गिनो लिङ्गं बलवत् ?
 यदैकस्य, तदापि कस्य लिङ्गिनः— किं जीवादेकत मद्मण इति
 इह चिन्त्यते । न परंतप्राक् 'अत एव प्राणः' इत्यत्र चिन्तितम् ।
 चिन्ता पंचम— 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्युपक्रमान् 'स एष
 प्राण एव प्रज्ञात्मा' इत्युपमंटागार्थकमिदं वाक्यम् । एकधास्या-
 थः । म ण क इति विचारं कार्यदेवताप्राणयोर्धर्माः कारणे मद्म-

णि संभवन्ति, तस्य कार्येऽनुगतत्वात् । न कारणधर्माः कार्ये,
कारणस्य कार्यान्तरेष्वप्यनुगमात्कार्यस्य च व्यावृत्तत्वात् । एवं
ब्रह्मावच्छेदकल्पितजीवधर्मा ब्रह्मणि संभवन्ति ; न ब्रह्मधर्मा-
स्तस्मिन्निति । एतत्तु 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इत्यनेन न गतम् ।
तत्र हि भार्वात्म्यसर्वदुरितविरहाभ्यां ब्रह्मणि सर्वकारणे-
ऽवगते रूपवत्त्वादिकार्यधर्मा नीताः । इह तु प्रका-
रान्तरेण वर्ण्यते । अथ संशयः— किं जीवप्राणब्रह्मणि
त्रोणीहोपास्यानि, ब्रह्मैव वा ज्ञेयं प्रतिपाद्यत इति, पदार्थ-
वाक्यार्थयोः परस्परं प्राथम्यदीर्घन्यानवधारणात् । पूर्वत्र
दिवि दिव इत्यत्र प्रधानप्रकृत्यर्थाभेदमाश्रित्य गुणभूतप्र-
त्ययार्थभेदो नीतः । एवमिहापि स्वतन्त्रप्राणादिपदार्थभेदप्र-
तीत्या एतत्सापेक्षत्वेन गुणभूतवाक्यार्थप्रतीतेर्युक्तमन्यथा-
नयनम्, तथा हि—

पदार्थयुद्धयपेक्षत्वाद्वाक्यार्थस्य स्वतन्त्रतः ।

पदार्थानां च वाक्यैक्यं प्रतीतमपि बाध्यते ॥

अत्र तावत् 'यावद्धयस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदा-
युः' इत्याद्यध्यात्मसंबन्धबाहुल्यदर्शनात् पराचीन्ट्रे तदनु-
पपत्तेः 'मामेव विजानीहि' इत्यादेश्च शास्त्रदृष्टयोपपत्तेर्न देव-
तोपास्तिशङ्का । अत एव हि भगवान्सूत्रकारो देवतापक्षं फल्गु-
त्वात्प्रथमेव निरस्य 'उपासात्रिविध्यात्' इत्याह । इतरथा चा-
तुर्विध्यादित्यवश्यम् । जीवप्राणब्रह्मणां तु संभवति, 'प्राणोऽस्मि

प्रज्ञात्मा सं मामासुरस्युतमुपास्त्र ' इत्युपास्यत्वेनोक्तप्राणप्रज्ञा-
त्मनोः 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा म प्राणः सह ह्येताव-
स्मिन्न शरीरे वसतः महोत्क्रामत ' इति महोत्क्रान्तिभिधानात्
द्विवचनात् प्राणस्य प्रज्ञात्मनश्च जीवस्य उपाम्ययोर्भेदात् । न
च ब्रह्मण्यभेदे द्विवचनं पठते । महप्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यामनयोर-
भेद उक्तः 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा' इत्यादिना 'आनन्दोऽजरः'
इत्यादि ब्रह्मणो भविष्यति । तस्मात्प्राणामुपास्यत्वम् । न चो-
पक्रमोपमंद्हारैककल्प्यावगतैकवाक्यत्वाद्वाक्यभ्यंकार्थपरत्वम्,
वाक्यार्थावगमस्य पदार्थावगमस्यत्वेनापि जीव्यादुर्वलत्वात् ।
न च सर्वत्रैव वाक्यार्थभङ्गप्रसङ्गः, प्रधानभूतपदार्थावगमस्य
वाक्यार्थैकवाक्यगमाधिरोधित्वात् । अत्र चोक्तक्रमेण पदार्थानां
म्यनन्त्रस्वमित्येवं प्राप्ते, श्रुमः ॥

वाक्यार्थशोध उद्देश्यः पदानां नान्तरंग्यकः ।

पदार्थशोध एवं च वाक्यार्थस्य प्रधानता ॥

मन्यं पदार्थावगम उपायो वाक्यार्थशोधस्य, न तु पदार्था-
वगमपरारण्येव पदानि, तन्मात्रस्य निष्कलत्वात् । अपि तु
एकवाक्यार्थावगमपरगणि तमेव त्वैकवाक्यार्थावगमं पदार्थाव-
गमेन विना न शक्नुवन्ति कर्तुमित्यन्तरा तदर्थमेव तमपि
शुचिन्ति । तेन प्रधानवाक्यार्थस्योपक्रमोपमंद्हारैककल्प्यावगतस्य
न भङ्गः । तेन पदानि विशिष्टकार्थशोधनस्वरमान्येव शब्द-
द्वयशोधनिसामानाधिकार्यशोधपरतां नीयन्ते । यथाहुः—' सं-

भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि नेष्यते' इति । यथा उपांशु-
याजवाक्ये जामितादोपोपक्रमे तत्प्रतिसमांघानोपसंहारे च
एकवाक्यस्थाः 'विष्णुरुपांशुयष्टव्यः' इत्येवमादयो न पृथ-
ग्विधयः किंत्वर्थवादा इति निर्णीतम्, तथेहापि 'गामेव
विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्युक्त्वा
अन्ते 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः'
इत्युपसंहाराद्ब्रह्मण्येकवाक्यत्वावगतौ सत्यां जीवसुख्यप्राण-
लिङ्गे अपि तदनुगुणतया नेतव्ये, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात् ।
यत्तु भेददर्शनम् 'मह ह्येतौ' इति, तत् ज्ञानक्रियाशक्तिमद्बुद्धि-
प्राणयोः प्रत्यगात्मोपाधिभूतयोर्निर्देशः प्रत्यगात्मानमेव ता-
भ्यामुपलक्षयितुम् । अत एवोपलक्ष्यस्य प्रत्यगात्मन एकत्वगुप-
लक्षयितुं उपलक्षणयोरभेद उक्तः 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा'
इत्यादिना । एवमुपलक्षितप्रत्यगात्मन इह ब्रह्मत्वं बोध्यते 'स
एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोः' इत्यादिना ॥

एवं चानन्यथासिद्धब्रह्मलिङ्गानुसारतः ।

एकवाक्यतया प्राणजीवलिङ्गोपपादनम् ॥

कारणधर्माणां कार्येऽनन्यथासिद्धिश्च पूर्वोक्तवेति ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमदनुभवानन्दपूज्य-
पादशिष्यस्य भगवदमतानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः ॥

—

स्पष्टब्रह्मलिङ्गवाक्यानि प्रथमपादे उदाहरणम् । द्वितीय-
तृतीययोस्तु अस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि । तयोऽस्तु प्रायशः सविशेष-
निर्विशेषब्रह्मलिङ्गवाक्यविषयतया रूढियोगविषयतया वा अ-
वान्तरभेदः । प्रथमपादे ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वसामर्थ्य-
सिद्धमर्वात्मत्वादेरुपजीवनादुत्तरसंदर्भस्थ तदानन्तर्यम् ॥

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

‘सर्वं स्थित्वं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत’ — तस्मा-
ज्जायत इति वक्ष्यम्, तस्मिँहीयत इति तदम्, तस्मिन्निति स्थि-
तिकाले चेषुत इति तदन, इतिर्यस्माद्धेयैः एवं यस्मात्सर्वं स्थित्वं
ब्रह्म, ततो रागद्वेषविषयाभावान् शान्त उपासीतेत्यर्थः । ‘अथ
स्वल्पं क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँहोके पुरुषो भवति । तथैतः
प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वति मनोमयः प्राणशरीरः’ इत्यादि ।
तत्र संशयः— किमिद् मनोमयत्वादिभिर्धर्मैः शरीर आत्मो-
पाह्यत्वेनोपदिश्यते, आहोस्त्वत्तु ब्रह्मैति, मनोमयत्वादीनां
प्रकृतब्रह्मनैरेपेक्ष्यमापेक्षत्याभ्याम् । पादान्तरत्वादेव न अवा-
न्तरमंगनिः । तत्र—

क्रतुमित्यादिवाक्येन विहितं क्रतुभावनाम् ।

अनूय सर्वमित्यादिवाक्यं शमगुणे विधिः ॥

शमगुणविधिसंक्रान्तत्वात् 'सर्वं खलु' इति वाक्यं नोपास्तिविधिष्यमम् । अपि तु 'स क्रतुं कुर्वीत' इति वाक्यविहितां क्रतुप्रवृत्तिमनूय तदङ्गत्वेन शमं विधत्ते । न च 'सर्वं खलु' इति वाक्यं स्वपाठात्पूर्वमविहितानुपास्ति कथमनुवदेत् अग्रामत्वादिति युक्तम् । 'सर्वं खलु' इति वाक्यस्य 'स क्रतुम्' इति वाक्यार्थोपजीवित्वेन पाठक्रमत्यार्यक्रमेण बाधात् ततः परत्वोपपत्तेः । ननु विधीयतां 'स क्रतुम्' इत्यादिवाक्येन उपासना ; तस्यास्तु 'सर्वं खलु' इति वाक्यान्नातं ब्रह्म विषयः स्यात् । तन्न, क्रतुवाक्यस्य स्वगतमनोमयत्वादिविशिष्टवस्तुविषयत्वेन पर्यवसाने वाक्यान्तरगनगुणविश्वर्षवादस्य ब्रह्ममाश्रयायोगात् । तस्मान्मनोमयत्वादिविशिष्टजीवोपास्तिविधौ पर्यवसिते पश्चाच्छमो विधीयते । एवं च उत्पत्तिशिष्टगुणावरुद्धोपास्तिः नोत्पन्नशिष्टब्रह्मणा संबध्यते । न च 'सर्वं खलु' इति वाक्यं ब्रह्मपरम्, अपि तु सृष्टिवाक्यसिद्धमावांत्त्यानुवादेन शमविध्यर्थो हेतुवन्निरादार्यवादः । न च अन्यपरादत्यपेक्षितं ब्रह्म ग्राह्यम्, एकवाक्योपात्तमनोमयत्वादिभिरपेक्षाशान्तेः । तस्माज्जीवोपास्तिपरत्वं प्राप्ते, अभिधीयते—

समाप्तः सर्वानामर्थः संनिकृष्टमपेक्षते ।

उद्धितार्थोऽपि सामान्यान्नापेक्षाया निवर्तकः ॥

तस्मादपेक्षितं ब्रह्म ग्राह्यमन्यपरादपि ।

तथा च सत्यसंकल्पप्रमुखानां यथार्थता ॥

इह हि प्राणः शरीरमस्येति बहुव्रीहिसमासः सर्वनामार्थः; सर्वनाम्नोऽर्थ एवार्थो यस्य स तथा । तेन समासान्तवर्तिनी अस्येति सर्वनामश्रुतिः संनिकृष्टमपेक्षमाणा 'सर्वं खलु' इति संनिहितं ब्रह्म प्राप्य पर्यवसिताभिधाना तदेव विधीयमान-ऋतुविषयं गमयति । न च मनोमयपदोक्तद्वितीयार्थः सर्वना-माकाङ्क्षां गमयेत्, मयटस्तद्वितस्य विकारप्राचुर्यसाधारण्येन संदिग्ध्यत्वेन जीवनिश्चायकत्वायोगात्, मनःप्राचुर्यस्य च मनस्युपलभ्यत्वेन ब्रह्मण्यपि संभवात् । एवं च मनोमयत्वा-देरुपास्यासमर्पकत्वे सति विहितोपासनया विषयत्वेनापेक्षितं ब्रह्म गमविधिपरादपि वाक्यात् गम्यमानं प्राक्ष्यम् । तथा च वाक्यशेषस्थानां सत्यमंकल्पादिशब्दानां यथार्थता म्यादिति । न च ज्योतिर्विचारेण गतार्थत्वम्; तत्र हि दृसंबन्धः प्रत्य-भिज्ञापकोऽस्ति, नात्रेति शङ्कायास्तद्वितीयार्थसंदेहेन अशान्ते-रिति ॥

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ २ ॥

कठकहीषु पठ्यते 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं शोभे भवत ओदनः मृत्युर्यन्योपमेचनं क इत्या वेद यत्र मः' इति । अत्र कश्चि-दोदनोपमेचनसूचितोऽत्ता प्रतीयते । म किमग्निः, उत जीवः, आहो परमात्मेति संशयः । तदर्थं च किमनृतं भोक्तृत्वम्, उत महर्षुत्वमिति संशय्यते— ओदनपदश्रवणात्, ब्रह्मक्षत्रप-दश्रवणात् । पूर्वाधिकरणान्ते पग्मेश्वरग्याभोक्तृत्वोक्तः इह

न सोऽत्ता, किं तु जीवः इति प्रसाधनात्संगतिः । अचृत्वं च भोक्तृत्वमेव । तथा हि—

इहोदनस्य भोग्यत्वप्रसिद्धेर्बुद्धिमागतम् ।

भोक्तृत्वं प्रथमं पश्चात्संहर्तृत्वं च गम्यते ॥

ततश्च प्रथमावगतभोक्तृत्वानुसारेण जीव एव अत्ता अत्रो-
पास्यः ; ब्रह्मक्षत्रादिश्च जीवस्य कार्यकारणसंघातवत्तो भोगा-
यतनतया भवति भोग्यः । मृत्युरपि कस्यचिद्व्याघ्रादेर्ब्रह्मक्षत्रा-
दिभोजने भवत्युपसेचनम् । अथ तु मृत्यूपसेचनश्रवणस्य
असंकोचाय संहर्तृत्वमचृत्त्वम्, ततः 'अग्निरन्नादः' इति
श्रुतेः लोकप्रसिद्धेश्च अग्निरत्ता स्यात् ; न परमात्मा, तस्या-
धिक्रियत्वात्— इति प्राप्ते, नूमहे—

अच्छोदनशब्दस्य मुख्यार्थो न तु भोग्यता ।

लक्षणायां तु तद्वारं भोक्तृत्वं प्रथमं कृतः ॥

ओदनशब्दस्य न भोग्यत्वमर्थः, चन्दनादावप्रयोगात् ।
अथ भोग्यत्वं लक्ष्येत, तर्हि भोग्यद्वारकभोक्तृत्वस्य संहर्तृत्व-
स्यैव न प्राथम्यम् । तथा च विशेषमृत्यूपसेचनसंनिधानात्
ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितविनश्रवस्तुमात्रे ओदनगतविनाशित्वगुण-
योगेन ओदनशब्दो वर्तते । तत्संहर्ता च अत्ता अत्र प्रतीयते ।
स च अक्रियोऽपि मायोपाधिः संहर्ता ॥

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ३ ॥

‘ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्वे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पश्चात्तयो ये च त्रिणाचिकेताः’
इति । अत्र बुद्धिजीवौ प्रतिपादौ, जीवेश्वरौ वेति संशयः,
वभयत्र लक्षणाया अविशेषान् । ऋतपानकर्तृत्वं हि जीवेन
सह बुद्धेरिव परमेश्वरस्यापि छत्रिन्यायेन लाक्षणिकम् । पूर्वत्र
ब्रह्मक्षत्रशब्दस्य संनिहितमृत्युपदानुसारेण अनित्यवस्तुपर-
त्ववन्, इहापि पिबन्च्छब्दस्य संनिहितगुहाप्रविष्टादिशब्दानु-
सारेण बुद्धिजीवपरत्वम् । तथा हि—

नियताधारता बुद्धिजीवसंयन्धिनी न हि ।

हेशात्कल्पयितुं युक्तं सर्वगो परमात्मानि ॥

नियतहृदयगुहाश्रितत्व हि परिच्छिन्नयोर्बुद्धिजीवयोर्यु-
क्तम् । परमात्मा तु बुद्धावन्यत्रापि वर्तते । स तु सालग्रामे
इव कमलनाभः तत्राभिव्यक्तत्वेन तन्नियतालय इति कल्पनं
क्लिष्टमयुक्तम् । अत्रोत्तरम्—

ऋतपानेन जीवात्मा निश्चितोऽस्य द्वितीयता ।

अद्भर्गव सरूपेण न तु घुर्हया विरूपया ॥

गौः सद्विर्तायेत्युक्तं हि गवान्तरेण सजातीयेन सद्विती-

यता अवगम्यते; न तु विजातीयेन सुरंगमादिना । तदिह
पिवन्तावित्यत्र जीवे कर्मफलात्मकव्रतपानकर्तरि निश्चिते तस्य
द्वितीयश्चेतनत्वेन सजातीय ईश्वर एव; नाचेतना विजातीया
बुद्धिः । यत्तु गुहाहितंत्वम्, तत्र समाधिः—

प्रथमं सद्वितीयत्वे ब्रह्मणावगते संति ।

गुहाहितत्वं चरमं व्याख्येयमविरोधतः ॥

पिवन्ताविति पदे प्रथमं परमात्मना सद्वितीयत्वे जीवस्य
वर्णितमार्गेणावगते सति गुहाप्रविष्टत्वं चरमश्रुतं प्रथमावा-
तानुसारेण सालम्बामकमललोचनन्यायेन व्याख्येयम् । एवं
सुकृतलोकवर्तित्वमपि छात्रिन्यायेन परमात्मनि गमयितव्यम् ।
एवं छायातपतुल्यत्वं जीवस्याविद्याश्रयत्वात् परमेश्वरस्या-
नामृतबोधोपात्मत्वाद्युक्तम् ॥

अन्तर उपपत्तेः ॥ ४ ॥

‘य एषोऽन्तरिक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचै-
तदमृतमभयमेतद्ब्रह्म’ इत्यत्र छायात्मा चक्षुष्पुपात्सः, ईश्वरो
वेति दर्शनस्य लौकिकत्वशास्त्रीयत्वाभ्यां संशयः ॥

उपक्रमवशात्पूर्वमितरस्योपवर्णनम् ।

कृतं न्यायेन यैर्नैव स खल्वत्रानुपपद्यते ॥

पूर्वव हि ‘ऋतं पिवन्तौ’ इत्यत्र जीवपरमात्मानौ प्रथमाव-

गताविति तदनुरोधेन गुहाप्रवेशादयः पश्चात् व्याख्याताः । तद्वदिहापि 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति प्रथममवगते छायात्मनि तदनुरोधेन अमृताभयत्वादयः स्तुत्या कथंचिद्व्याख्यायाः । इयं च सुखविशिष्टब्रह्मप्रकरणं नास्तीति कृत्वाचिन्ता । अतश्च 'य एषः' इति सर्वनामनी वक्ष्यमाणार्थे । तेन च मनोमयताद्वितार्थवदत्र संदेहः, 'दृश्यते' इत्यस्य छायात्माभिधायकत्वात् । तथा हि—

एष दृश्यते इत्येतत्प्रत्यक्षेऽर्थे प्रयुज्यते ।

परोक्षं ब्रह्म न तथा प्रतिबिम्बं तु युज्यते ॥

सिद्धान्तस्तु— 'य एषः' इत्येते हि

अनिष्पन्नाभिधाने द्वे सर्वनामपदे सती ।

प्राप्य मनिहितस्यार्थं भवेतामभिधातृणी ॥

इह हि 'दृश्यते' इत्यस्मात् प्रागेव 'य एषः' इति सर्वनामनी अपर्यवसिताभिधाने सती पुरुषपदोक्तमर्थे प्राप्य पर्यवसिताभिधाने स्याताम् । 'दृश्यते' इत्येतदपि सापेक्षं पुरुषपदार्थं प्राप्य पर्यवस्येत् । पुरुषपदं च नैरपेक्ष्येण चेतनमभिधत्त इति । एवं सति 'दृश्यते' इत्यतः प्रागेव पुरुषस्य प्रस्तावान् तद्रूपक्रमत्वं वाक्यस्य । पुरुषस्य च शास्त्रजन्यमेव ज्ञानं स्फुटत्वात् 'दृश्यते' इत्युपचरितम् । अक्षि च अन्तर्यामिणः स्थानं निर्दिष्टम्— 'यश्चाक्षुषि तिष्ठन्' इति, तदेवेह 'अक्षिणि' इत्युपात्त्यर्थमुक्तम् । किं च,

कं खं ब्रह्मेत्युपक्रान्तमीश्वरं सर्वनामनी ।
वदेतामिति निर्णीतं ब्रह्मप्रकरणादपि ॥

न च तत्र अग्नीनां वक्तृत्वान् इह आचार्यवक्तृके वाक्ये न
ब्रह्माभिधानमिति युक्तम्, 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इत्य-
ग्निभिः उक्तशेषाभिधानस्याचार्यकृत्यस्य निवेदितत्वादिति ॥

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि यो-
ऽन्तरो यमयति' इत्यादि । अत्र अन्तर्यामी जीव ईश्वरो वे-
त्ति अशरीरस्य नियन्तृत्वासंभवसंभवाभ्यां संशयः । प्रधानप-
क्षस्तु वाक्यशेषगतद्रष्टृत्वाद्यसंभवेन दूषितो भाष्ये तुच्छः ।
पूर्वत्र 'य एषोऽक्षिणि' इति परमात्मानः स्थाननिर्देशोपपाद-
नाय 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादिः तस्यैव स्थानव्यपदेशो
दृष्टान्त उक्तः । स आक्षिप्यते । तथा हि—

स्वकर्मोपार्जितं देहं तेनान्यच्च नियच्छति ।
तक्षादिरशरीरस्तु नात्मान्तर्यामिणां व्रजेत् ॥

ईश्वरो न नियन्ता, अशरीरत्वात्— घटवत् इत्युक्तम्—
अशरीरस्त्विति । स्वशरीरनियन्तरि तक्षुषि शरीरान्तररहिते
अनैकान्तमशरीरत्वमाशङ्क्योक्तम्— स्वकर्मोपार्जितमिति ।
न नियम्यातिरिक्तशरीररहितत्वं हेतुः ; किं तु शरीरेण भोक्तृ-
त्वेनानन्वयः । तक्षा तु स्वकर्मजेन देहेन तादृशसंबन्धवानेव

तं देहं तेन द्वारेण अन्यच्च वास्यादि नियच्छतीति न व्यभि-
चार इति । न च अचेतनत्वमुपाधिः, मुक्तात्मसु सत्यपि साध्ये
उपाध्यभावेन साध्याव्याप्तेरिति । अत्राभिधीयते—

देहेन्द्रियादिनियमे नास्य देहेन्द्रियान्तरम् ।
वत्कर्मोपाजितं तच्चेत्तदविद्याजितं जगत् ॥

किमशरीरित्वम्—यतो नियन्तृत्वाभावः, नियम्यातिरिक्त-
देहरहितत्वं वा, देहसंबन्धाभावो वा, देहे भोक्तृत्वा-
भावो वा' आद्ये अनैकान्तिकः, यतोऽस्य तक्ष्णः स्वशरीरा-
दिनियमने साध्ये न देहाद्यन्तरम् । अस्तु द्वितीय इति चेत्,
तदा हि तत् तक्षदेहादि तस्य तक्ष्णः कर्मोपाजितमिति ; तर्हि
परमात्मनोऽपि शरीरसंबन्धाभावोऽमिद्धः, तद्विषयाविद्या-
जितत्वेन शरीरादिजगतः तेन संबन्धात् । तृतीये तु परमा-
त्मा न नियन्ता, अभोक्तृत्वात्— इत्यत्र अचेतनत्वमेवोपाधिः ।
न च मुक्तात्मसु साध्याव्याप्तिः, तेषां परमेश्वराभेदेन पक्ष-
निश्रेपात् । अपि च अत्र नियन्तृत्वम्यात्यन्ताभावसाधनान्
मुक्तानां प्राह्नियन्तृत्वान् न साध्यं तेषु विद्यते । ईधरं पक्षी-
कृत्यानियन्तृत्वसाधने आगमविरोधश्चेति ॥

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥

१ अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते । यत्तदद्रेश्यमप्राप्तम-
गोत्रमवर्णमचक्षुश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं

सुसूक्ष्णाम् । तदन्यथं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः । इत्यत्र किं प्रधानमदृश्यत्वादिधर्मकं सर्वज्ञाद्विवेकाय निर्दिश्यते, उत जीवो देहादिव्यतिरिक्तोऽभ्युदयनिश्चयसप्राप्तये निरूप्यते, किं वा ब्रह्मैव प्रतिपाद्यत इति अदृश्यत्वादिसाधारणधर्मदर्शनात्संशयः । पूर्वत्र द्रष्टृत्वादिश्रवणान्न प्रधानमन्तर्यामीत्युक्तम् । इह तदश्रवणादक्षरं प्रधानम् ; भूतयोनित्वमपि तस्यैव ; यतः—

परिणामो विवर्तो वा सरूपस्योपलभ्यते ।

चिदात्मना तु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते ॥

जडं प्रधानमेवातो जगद्योनिः प्रतीयताम् ।

योनिशब्दो निमित्तं चेतुतो जीवनिराक्रिया ॥

‘न विलक्षणत्वान्’ इत्यत्र परिणाममभ्युपेत्यापि परिणामसारूप्ययोर्व्याप्तिनिवार्यते ; इह तु विवर्तसादृश्ययोः । परिणामस्तु तत्रत्य इहानूद्यते । इह हि हेमादेः परिणामो रुचकादिहेमसरूप एव दृश्यते । शुक्त्यादेर्विवर्तश्च रजतादिस्तत्सदृश एव । जगतस्त्वचेतनत्वान्न चिदात्मसादृश्यम् । अतः प्रधानं जडं जडस्य जगतः प्रकृतिः । प्रयोगोऽपि भूतयोनिर्जडा परिणममानत्वान् विवर्तमानत्वाद्वा हेमरज्ज्वादिवदिति । अथ भूतयोनिरित्यत्र योनिशब्दो निमित्तार्थः, तथापि प्रह्वण इव जीवस्यापि निमित्तत्वसंभवात् मदा भूतयोनिर्जीवो चेत्यविनिगमेन पूर्वः पक्षः । अत्रोच्यते— न तावद्भूतयोनिर्जडत्वम् ; यतः—

अक्षरस्य जगद्योनिभावमुक्त्वा ह्यनन्तरम् ।
 यः सर्वज्ञ इति श्रुत्वा सर्वज्ञस्य स उच्यते ॥
 तेन निर्देशमामान्यात्प्रत्यभिज्ञानतः स्फुटम् ।
 अक्षरं सर्वविद्विश्चयोनिर्नाचेतनं भवेत् ॥
 अक्षरात्परत इति श्रुतिस्त्वव्याकृते मता ।
 अश्नुते यत्स्वकार्याणि तेनाव्याकृतमक्षरम् ॥
 विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।
 अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते ॥

अत्र हि अक्षरं भूतयोनिं प्रक्रम्य वाक्यशेषे 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमज्ञं च जायते' इति सर्वज्ञस्य जगद्योनित्वमुच्यते । उपादानप्रा-
 यपठितायाश्च तस्मादिति पञ्चम्या न निमित्तार्थताशङ्का ।
 अतः उपादानत्वप्रत्यभिज्ञयैकवाक्यत्वे सति वाक्यप्रमाणात्स-
 र्वज्ञ एव भूतयोनिर्विश्चयोनिः । यदक्षरं तत्सर्वविद्वेने इत्यु-
 द्देश्यविधेयभावः । ननु यदक्षरशब्दवाच्यभूतयोनिः सर्वज्ञत्वम्,
 कथं तर्हि 'अक्षरात्परतः परः' इति सर्वज्ञस्य कार्यापेक्षया परा-
 त्कारणादक्षरान् परत्वमुक्तम् श्रुती ? अत आह—अक्षरात्परत
 इति । अत्र वाक्ये अक्षरशब्देन ब्रह्मणो भूतयोनेरुपादानत्व-
 निर्वाहकमव्याकृतं मायाशक्त्यपरपर्यायं योगवृत्त्या अभिधी-
 यते । यन् यस्मादर्थे । न च अक्षरशब्दप्रत्यभिज्ञानान् भूत-
 योनिरेव अक्षरशब्दनिर्दिष्ट इति वाच्यम् । प्रथमश्रुते 'यः

सर्वज्ञः' इति वाक्ये सर्वज्ञस्य जगदुपादानत्वप्रत्यभिज्ञया अस्य बाध्यत्वात्, 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' इति च अक्षरस्य ब्रह्मविद्याधिगम्यपुरुषत्वाभिधानाच्च । यत्तु परिणामविवर्तयोः सारूप्यापेक्षेति, तत्र न ब्रह्मपरिणामो जगत्, किं तु विवर्तः, स च शङ्खपीतिमादौ विसदृशोऽप्यस्तीति ; विवर्तमानत्वहेतुश्च देहात्मत्वाद्यारोपाधिष्ठानं जीवे अनैकान्तः ॥

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥

'कौ न आत्मा किं ब्रह्मेति' 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' इति च उपक्रम्य, शुसूर्यादीनां सुतेजस्त्वादिगुणयोगमेकैकोपासननिन्दया वैश्वानरं प्रत्येषां मूर्धादिभावमप्युपदिश्य आम्नायते— 'यस्त्वेतमेवं प्रादेश-मात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' स सर्वलोकाद्याश्रयं फलं भुङ्क्ते 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः प्रथिड्येव पादाधुर एव वेदिलोमानि षडिहृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनमास्यमाहवनीयः' इत्यादि । किमयं वैश्वानरो जाठरः, उत परमेश्वर इत्यात्मब्रह्मशब्दाभ्यां अग्निवैश्वानरशब्दाभ्यां च संशयः । अग्निशब्दोऽपि हि स-मानप्रकरणे बाजसनेयके श्रूयते—'अयमग्निर्वैश्वानरः' इति । ये त्विह भाष्यकारेण भूताग्निदेवताजीवपूर्वपक्षा उपन्यस्ताः,

ते उपक्रममात्रम्, तेषु प्राणाहुत्याधारत्वादेद्युर्मूर्धत्वादेक्ष अमा-
मखस्यात् । पूर्वत्र हि—

सार्वात्म्यरूपोपन्यासादक्षरं ब्रह्म वर्णितम् ।

जाठरेऽसावनेकान्त इति शङ्कात्र वार्यते ॥

तत्र—

अग्नित्रेताप्रकल्पस्यादिविहिताग्न्यादिशब्दतः ।

आरोपितद्युर्मूर्धादेरौर्ध्याग्नेरुपास्यता ॥

‘हृदयं गार्हपत्यः’ इत्यादिना हि शरीरावयवाः संनिहित-
स्यौर्ध्वभ्याग्नेः गार्हपत्यादिभावेन कल्प्यन्ते । ‘आस्यमाहवनीयः
तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्वोमीयम्’ इति च वैश्वानरस्यास्या-
नुगतस्य प्राणाहुत्याधारस्याहवनीयकुण्डत्वेन आस्यं कल्प्यते,
‘तस्य ह वा एतस्य वैश्वानरस्य’ इति प्रकृतत्वान् । एताभ्यां-
मुपोद्गलिताभ्याम् अग्निवैश्वानरशब्दाभ्यां जाठरोऽग्निरुपास्यः
प्रतीयते; न च युर्मूर्धत्वादेः तस्मिन्नसंभवः, वाजसनेयके हि
‘स होवाच मूर्धानमुपदिग्नेष वा प्रतिष्ठा वैश्वानरः’ इत्या-
दिना मूर्धाद्यवयवानां शुभ्लोकाद्यात्मना संपादितत्वात् वैश्वान-
रस्य जाठरस्यापि युर्मूर्धत्वादिमंभवान् । एवं च आरोपित-
द्युर्मूर्धत्वादिना रूपेण वृहत्त्वान् ब्रह्मत्वम् आपनादात्मत्वम् ।
अत एव च ब्रह्मण्यप्यारोपाद्गनित्रेतादेरुपपत्तिः—जाठर इव
द्युर्मूर्धत्वादेरिति न जङ्घनीयम् । जाठरे द्युर्मूर्धत्वादिकल्पना-

याः श्रुतिकृतत्वेन ब्रह्मण्यग्नित्रेतादिकल्पनायाश्च पौरुषेयत्वेन विशेषे सति प्रतिबन्धनवतारादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

कल्प्यं च गार्हपत्यादि कुक्ष्यग्नावीश्वरे पुनः ।

द्युमूर्धत्वादि सहजमित्येतद्रूलवत्तरम् ॥

इह हि उपक्रमधुनैरग्निवैश्वानरात्मब्रह्मशब्दैर्जाठरपरमात्मसंदेहे किं वाक्यशेषगताग्नित्रेताप्रकल्पनादेर्जाठरः परिगृह्यताम्, उत द्युमूर्धत्वादेर्वाक्यशेषगतात् परमात्मेति वाक्यशेषस्याप्यनिर्णायकत्वे प्राप्ते, जाठरे समारोष्यादग्नित्रेतादेः सकाशात् सगुणेदवरे सर्वकारणे सहजद्युमूर्धत्वादेर्वूलवत्त्वात् तदनुसारेणात्मब्रह्मशब्दयोर्मुख्यार्थत्वम् । अग्निवैश्वानरशब्दयोस्तु जाठरोपाधिब्रह्मपरत्वमिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यधामदनुभवानन्दपूज्य-

पादाशिष्य भगवदमलानन्दद्विरचिते शाश्वदर्पणे

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



तृतीयः पादः ॥

शुभ्वाद्यायतनं स्वशब्दान् ॥ १ ॥

‘यस्मिन्द्यौः पृथिवीं चान्तरिक्षमातं मनः सह प्राणेश्च सर्वैः । तमेवैकं जानय आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चयामृतस्यैष सेतुः’ इत्यत्र शुभ्रमृतीनाम् ओतत्ववचनेन यदायतनमवगम्यते, तर्हि प्रधानम् इत ब्रह्मैवेति आयतनत्वसाधारणधर्मदर्शनान् संशये, प्राप्ते तावन्—

पारवत्त्वेन सेतुत्वाद्भेदे षष्ठ्याः प्रयोगतः ।

शुभ्वाद्यायतनं युक्तं नामृतं ब्रह्म कर्हि चित् ॥

नदीपारावारमध्यवर्ती हि जलाविधारकः पारवान् सेतुशब्दायः, न बन्धनहेतुमात्रम्; निगलादीनामपि मेतुशब्दायस्त्वप्रमङ्गान् । तथा च जगद्व्यवस्थाया बन्धके परमेश्वरे पिह् बन्धने इति धातोर्निष्पन्नस्य सेतुशब्दस्य वृत्तिरित्ययुक्तम् । अतः पारवत्त्वेनैव सेतुत्वान् ब्रह्मणश्चापारत्वान् वस्तुतः परिच्छिन्नं प्रधानमेव जगदायतनम् । अपि च ‘अमृतस्य सेतुः’ इति षष्ठीप्रयोगः सेतोरमृताद्भेदे भवति । ब्रह्मणश्चामृतस्य नामृताद्भेदः, ब्रह्मव्यतिरिक्तामृताभावात् । प्रधानं त्वमृतान्मुक्तनीयाद्भिन्नम् बन्धावस्थायां च तस्य भोग्यमिति ‘ज-

मृतस्य' इति व्यपदेशमर्हति । आत्मशब्दश्च स्वभाववचन इति । सिद्धान्तस्तु—

धारणाद्वामृतत्वस्य साधनाद्वास्य सेतुता ।

पूर्वपक्षेऽपि मुख्यार्थः सेतुशब्दो न हीष्यते ॥

मृदाऋविरचिते जलविधारके हि सेतुशब्दः प्रसिद्धः । न च प्रधाने मृन्मयादात्मत्वमस्तीति पारवत्वाद्गुणाद्बर्तयितव्यः । तत्र अस्मिन्मतेऽप्यात्मशब्दानुसारेण ब्रह्मणि वा तज्ज्ञाने वा गुणात्प्रवर्तिष्यते । न च आत्मशब्दः स्वभाववार्त्ता, वस्तुक्तेरेव स्वभावसिद्धौ तत्प्रयोगवैयर्थ्यात् । तथा हि—अस्य शुभ्वादायतनस्य ब्रह्मणोऽस्य वा तज्ज्ञानस्य 'जानथ' इति प्रकृतस्य यथाक्रमममृतत्वस्य धारणाद्वारकत्वात्, साधनात्साधकत्वाद्वा सेतुता भवति । अमृतशब्दश्च भावप्रधानः अमृतत्वस्येत्यर्थः । यद्यपि ब्रह्मैवामृतम्, तथापि तदज्ञातं न मोक्षः, अपि तु ज्ञातम् । ज्ञातरूपं च निरवद्यममृतत्वं तस्येति व्यपदेशार्हम् । यथा हि सेतुर्जलं धारयति, एवं ब्रह्मामृतत्वं धारयतीति तस्य सेतुता । यथा वा सेतुः प्रवाहनिरोधेन प्रभूतमुदकं साधयति, एवं ब्रह्मैक्यज्ञानममृतत्वं साधयतीत्यस्यापि सेतुतेति ॥

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ २ ॥

इदमामनन्ति— 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति, भू-

मानं भगवो विजिज्ञासे' इति, 'यत्र नान्यत्वश्यति नान्य-
 च्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा अथ यत्रान्यत्पश्य-
 त्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' इत्यादि । भूमाशब्दः
 बहुत्ववाची तद्वन्तं लक्षयति । तत्र संशयः—किं प्राणो भूमा
 स्यात्, आहोस्वित्परमात्मेति, उभयोरपि प्रकृतत्वात् । 'तरति
 शोकमात्मवित्' इति परमात्मा प्रकृतः, 'प्राणो वा आशाया
 भूयान्' इति च प्राणः । आत्मशब्दात्तु शुभ्वावायतनं ब्रह्मे-
 त्युक्तम् । तत्रात्मशब्दः प्राणैकान्त इति प्रत्यवस्थीयते ।
 तथा हि—

प्राणादूर्ध्वमपृष्टत्वाद्भ्रूस्तस्यातिसंनिधेः ।

प्रतीकोपास्त्युपक्रान्तेर्ब्रह्मप्रकरणादपि ॥

पित्वाद्यात्मत्वनिर्देशः प्राणसार्वात्म्यबोधनात् ।

स आत्मा स च भूमेति तद्विच्छोकाम्बुधिं तरेत् ॥

अस्मिन् हि प्रकरणे उक्तादन्यो भूमा उच्यमानः प्रश्नपूर्व-
 कमुच्यते । यथा 'नाम्नो वाव किं भूयोऽस्ति' इत्यादयः प्रश्नाः ।
 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' इत्याद्युत्तराणि । नैवम् 'प्राणो
 वा आशाया भूयान्' इत्यस्यानन्तरं प्राणात् किं भूय इति
 पृच्छयते ; नापि इदं प्राणद्भूय इति प्रत्युच्यते । तस्मात् प्राणा-
 दुपरि भ्रूःऽनुपदेशात् प्राण एव भूमा ; पूर्वं तु भूमानस्तत्प्रति-
 पत्त्यर्थाः भावेक्षिकाः । अपि च भूमेति भावो भवितारमपेक्ष-
 ते । प्राणश्च भूमवाक्यात्समनन्तरवाक्ये निर्दिष्ट इति स एव

भूमा । 'तरति शोकमात्मविन्' इति तु अनेकवाक्यैर्विप्रकृतम् । न च प्राणसंनिधिः आत्मप्रकरणाद्वाच्यः । अनात्मविद्ः आत्मानं विविदिषोर्नारदस्य सोऽहं भगवो अनात्मवित् तं मामात्मविज्ञानप्लवेन शोकस्य पारं तारयतु इति परमात्मनो विजिज्ञास्यत्वेन प्रक्रमान् सनत्कुमारीयोत्तरस्यापि तत्प्रतिपादनाङ्गत्वेन पर्यवसानादिति वाच्यम् । सनत्कुमारस्य 'नाम ब्रह्मेत्युपास्व' इति प्रतीकोपदेशरूपेण उत्तरेण अब्रह्मविषयत्वेन निर्णयितेन नारदप्रश्नस्यापि तद्विषयत्वेन परमात्मोपदेशप्रकरणस्यानुत्थानात् । 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' इत्यादिना च प्राणस्य सर्वात्मत्वाभिधानात् आत्मब्रह्मभूमशब्दाः प्राणे एव वर्तन्ते । एवं च 'आत्मवित्' इत्यत्र आत्मविद्या नामादिषु प्राणदृष्टिः । सा च शास्त्राच्छोकनिवृत्तिहेतुरिति प्राप्ते, आचक्ष्महे—

प्राणादुपरि निर्देशात्सत्यश्रुत्या परात्मनः ।

तथा प्रकरणेनापि प्राणसंनिधिबाधनम् ॥

नं प्राणवादिनं चैत् श्रूयुः अतिवाद्यसीति, 'अतिवाद्यस्मीति श्रूयात् । नापदुवीत' इति प्राणदर्शिनोऽतिवादित्वमभ्युपगम्य तस्माद्वावर्तयन् ब्रह्मविदम्, 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इत्याह । न चैतत् नामाद्यतिवादित्वात्प्राणविदो व्यावृत्त्यर्थम्, सत्यशब्दश्च प्राण एवेति युक्तम्; नामाद्यतिवादित्वस्य शब्दतोऽनुक्तेः ततो विशेषाप्रतीतेः, सत्यशब्दस्य च ब्रह्मणि परमार्थे रूढत्वात्, भाक्तत्वाच्च प्राणे । न च प्राणव-

दिन एव सत्यवदनं गुणविध्यर्थम्, अतिवादित्वं प्रति सत्यस्य हेतुभावबोधितृतायाश्रुतिविरोधान् । न च सहार्थे कर्तव्येयम्, अतिवादित्वे हेत्वनुपदेशप्रसङ्गान् । न च संनिहितप्राणवचने हेतुः कल्प्यः, श्रौतहेतुसंभवे तस्यायोगात् । न च प्रभेदेनैवार्थान्तरपरत्वम्, प्रकृतसंभवकृतत्वात्तस्य । एवम् 'तरति शोकमात्मविन्' इति प्रकरणादपि प्राणसंनिधिवाधः । यत्तु प्रतीकापदेशात्तत्परत्वमिति तत्र, नामादिव्यापकवस्तूपदेशानां परमसूक्ष्मपरमव्यापकब्रह्मप्रतिपत्त्युपयोगित्वात् । तेषु प्रतीकेषु ब्रह्मदृष्टिविधीनां गोशेहनविधिवत् आश्रित्यविधानत्वादिति ॥

अक्षरमम्बरान्तघृनेः ॥ ३ ॥

कस्मिन्स्वन्वाकाशाऽध्याकृतमोक्षश्च दीर्घतन्तुवत्प्रोक्तश्च तिर्यक्तन्तुवदाश्रित इति गार्ग्या पृष्टः याज्ञवल्क्यः । 'स होवाचतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यास्थूलमनणु'— इत्यादिवाक्ये किमक्षरं वर्णाः, उत ब्रह्मेति संशयः— 'अक्षरसंयात्रायः' इत्यादौ वर्णं अक्षरवाच्यस्य रूढप्रयोगान्, 'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादौ ब्रह्मणि च निरूढप्रयोगान् । पूर्वत्र 'प्राणो ह पिता' इत्यादिप्राणसार्वात्म्यं गौणमित्युक्तमयुक्तम्, अत्र ब्रह्मणोऽपि प्रणवस्य मुख्यसार्वात्म्यदर्शनादिति प्रत्यवस्थानात्मंगतिः । तत्र—

रूढैर्योगाद्वर्णैर्यस्त्वादार्थानां शब्दनाप्रतः ।

शब्दानां प्रणवात्मत्वादाकाशस्य स आश्रयः ॥

अश्रुते न क्षरतीति वा ब्रह्मणि यावद्योगादक्षरशब्दोऽवय-
ववृत्त्या व्याख्यातुमारभ्यते, तावदनपेक्षसमुदायप्रसिध्या वर्ण
एव बुद्धौ निविशमानः अवयवकरुणानां बाधेत । न च वर्णेष्वा-
काशस्योत्प्रोतत्वे नोपपद्येत ; अर्थस्य सर्वस्य घटोऽयम्—इत्या-
दिप्रतिमासे शब्दतादात्म्योपलम्भात् । न चैष शब्दानामर्थ-
बुद्धुपायत्वकृतः, धूमोपायाया वह्निबुद्धेरपि धूमात्मकबह्विवि-
पयत्वप्रसङ्गात् । न ह्येषा धूमो वह्निरिति वह्निं विपयीकरोति ।
किं तु धूमाद्वह्निरिति वैयधिकरण्येन । तस्मादभेदकृतोऽयं शब्दा-
र्थयोः सामानाधिकरण्योपलम्भः । अपि च शब्दानुपायेऽप्यर्थ-
प्रत्यये लिङ्गेन्द्रियादिजन्ये अस्ति शब्दसामानाधिकरण्यात्मक-
त्वोद्देशोऽर्थस्य । तस्मान्नामसु पृथिव्यादयो अम्बरान्ताः ओसाश्च
प्रोसाश्च । नामानि च ओकारात्मकानि तद्व्याप्यत्वात् प्रणवे ;
तद्यथा शङ्कुना पर्णमध्यस्थसिरया सर्वाणि पर्णानि पर्णाव-
यवाः संवृण्णानि, एवमोकारेण सर्वा वाक् संवृण्णा विद्धा
इति श्रुतेः । तस्माद्धर्ण एवाक्षरं न परमात्मेति प्राप्ते, अभि-
धीयते—

रूपक्रियाप्रमाभेदाद्विभेदो नामनामितोः ।

निरन्तरप्रतीतत्वकृतध्रान्तेस्तदेकता ॥

शब्दत्वसामान्यात्मकानि श्रोत्रप्राज्ञाणि अभिधेयप्रत्ययार्थ-
क्रियाणि नामधेयान्यनुभूयन्ते । रूपधेयानि तु घटपटादीनि
घटत्वपटत्वसामान्यात्मकानि चक्षुरादीन्द्रियप्राज्ञाणि क्षीरधा-
रणप्रावरणार्थक्रियाणि ; अतश्च नामधेयेभ्यो भेदेनानुभू-

यन्ते । कुतो नामात्मकत्वममीषाम् । न च घटोऽयमिति प्रत्य-
येऽपि इदंशब्दार्थस्य घटस्य घकारटकारात्मत्वं प्रतीयते । कि-
न्तु कुम्भस्य संनिहितदेशकालत्वम् । घटोपलम्भानन्तरक्षणे तु
गृहीतसंबन्धे घटसंज्ञा घटाननुप्रविष्टैव संस्कारोद्बोधात् स्म-
र्यते । अतश्च निरन्तरप्रतीतः शब्दार्थयोरैक्यध्रमः । तस्मा-
द्दूर्णानामम्बरान्तधारकत्वायोगः । स्फोटपरिमहे च अक्षर-
शब्दस्य रूढित्यागस्तुल्यः । तदप्रामाणिकत्वं च वक्ष्यते ।
तदेवमक्षरशब्दस्य रूढयनुपपत्तेः अम्बरान्तजगदधिष्ठाने ब्रह्म-
णि योगाद्भुत्तिरिति ॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ ४ ॥

‘एतद् सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोकारस्तस्माद्विद्वा-
नेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति’ इति प्रकृत्य श्रूयते— ‘यः
पुनरंत विमात्रेणोमित्येतैर्नवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत
स तेजसि सूर्ये संपन्नः स सामभिरुज्जीयते ब्रह्मलोकम्’ इत्यत्र
परं ब्रह्म अभिध्यातव्यमुच्यते, उतापरमिति पुरापरब्रह्मणोः
प्रकृतत्वात्संशयः ॥

अक्षरादम्बराधारात्प्रणवः पयुंदामितः ।

तद्व्यपेयमपरं किं वा परमित्यत्र चिन्त्यते ॥

इयं बुद्धिमनिधिसंगतिः । तत्र—

ब्रह्मलोकाभिदंतुत्वादपानम्पार्थविभागतः ।

इदंनम्पानार्थेयमपरं ब्रह्म गम्यते ॥

यः परं पुरुषमभिध्यायीत, स सामभिरुज्जीयते ब्रह्मलोकम्—इति देशपरिच्छिन्नफलत्वाद्ध्यानस्य ध्येयमपरं ब्रह्मेति गम्यते । न च ईक्षणस्य तत्त्वविषयत्वान् ध्यानस्यापि तत्समानविषयत्वान् परब्रह्मविषयता, ध्यानस्य परपुरुषविषयत्वेन दर्शनस्य परात्परविषयत्वेन च समानविषयत्वासिद्धेरिति । ईक्षणश्च तत्त्वविषयत्वं स्वप्रेक्षणादौ सव्यभिचारमिति प्राप्तं, राद्धान्तः—

ईक्षणध्यानयोरेकः कार्यकारणभूतयोः ।

अर्थ आत्मर्गिकस्तत्त्वविषयत्वं तथेक्षतेः ॥

ध्यानस्य हि साक्षात्कारः फलम्, साक्षात्कारश्च उत्तर्गतस्तत्त्वविषयः । न चेहास्त्यपवादः । तथा च ध्यानस्यापि तद्धेतोस्तत्समानविषयतेति तत्त्वविषयता । प्रकारान्तरेण च एकविषयत्वम्—इह हि 'स एतस्मात्' इति प्रकृतापेक्षान् समाभिव्याहरादेकवाक्यता अवगता । तदनुगृहीता च 'परं पुरुषमभिध्यायीत' 'परं पुरुषमीक्षते' इति च परपुरुषप्रत्याभिज्ञा ध्यानेक्षणयोरेकविषयत्वं गमयति । यस्तु 'परम्' 'परात्परम्' इति च रूपभेदः, स प्रतीतिकवाक्यत्वभङ्गकत्वात् 'जीवयतात्परात्' इत्यत्र जीवघनशब्दस्य जीवब्रह्मलोकयोरन्यतरविषयत्वम्, न तु ध्यातव्यपुरुषविषयत्वमिति नेतव्यः । जीवो ह्यौपाधिकत्वेन घनः, जीवानां च समष्टिकरणात्मनि हिरण्यगर्भे करणद्वारा अस्ति घनीभावः; सन्निवासत्वात् ब्रह्मलो-

कोऽपि जीवघनः । ब्रह्मलोकप्राप्त्सुपदेशोऽपि क्रमसुक्तिपर-
त्वादिनिरूढः । न चैवं 'परं चापरं च ब्रह्म' इत्यत्रापरब्रह्मो-
पक्रमस्य निष्प्रयोजनत्वम्, त्रिमाश्रायतनोपास्तेः परब्रह्मविष-
यत्वान्, प्रणवगतैकैकमाश्रायतनोपास्तेरपरविषयत्वादिति ॥

दह्र उत्तरेभ्यः ॥ ५ ॥

'अथ यदिदमस्मिन्नब्रह्मपुरे दह्रं पुण्डरीकं वेदम दहरोऽस्मि-
न्नन्तराकाशस्तस्मिन्त्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासि-
तव्यम्' इत्यादि । तत्र द्विपर्वो विचारः— किं दह्राकाशादन्य-
दन्वेष्टव्यम्, उत दह्राकाश इति ; यदा 'तस्मिन्त्यदन्तः' इ-
त्यम तच्छब्दस्याकाशेनान्वयः, तदा आकाशादभ्यन्तरस्यान्वे-
षणा । यदा दह्रपुण्डरीकेण, तदा आकाशस्यान्वेष्टव्यत्वमिति ।
यदापि दह्राकाशः, तदा न किं भूताकाशः, किं वा जीवः,
उत परमात्मेति । अत्र च संग्रहे कारणमाकाशब्रह्मपुरशब्दौ—
आकाशशब्दो हि लोकं न भवति रूढः ; ब्रह्मणि च वेदे निरूढः ;
ब्रह्मपुरशब्दोऽपि ब्रह्मणः पुरमिति विग्रहे ब्रह्मशब्दादीश्वरः
प्रतीयते । पशुणा च पुरःस्वामी जीवः । तत्र आकाशा-
दन्यदन्वेष्टव्यमिति प्राप्तम् । तथा हि—

मंनिवृष्टान्वयं लभ्ये विप्रकृष्टेन नान्वयः ।

तच्छब्दस्यात आकाशादन्नरीतमुपास्यताम् ॥

यदा 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशात्तस्मिन्त्यदन्तः' इति तच्छब्देन
अप्यर्थात्तमाकाशं परामृश्यते, तदा तच्छब्दाय मंनिवृष्टान्व-

यो लभ्यते । यदा तु 'दहरं पुण्डरीकं वेदम्' तस्मिन्पुण्डरीके यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्— इत्यन्वयं कृत्वा किं तस्मिन्विद्यते इत्याकाङ्क्षायाम् 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति वाक्यं योज्यते, तदा तच्छब्दस्य व्यवहितान्वयप्रसङ्गः । अत्रोच्यते—

यावान्त्रा अयमित्यादावाकाशव्याप्तिवर्णनात् ।

न ततोऽन्तर्गतं चिन्त्यं दिवादेस्तत्प्रसङ्गतः ॥

इह हि 'यावान्त्रा अयमाकाशः सावानेयोऽन्तर्हृदय आकाशः' इत्याकाशमहिमवर्णनान् तदेवोपास्यम् । इतरथा तदभिधानवैयर्थ्यात् । तदप्याकाशान्तर्गतवस्तुप्रतिपत्त्यर्थमिति चेत्, न । तथा सति 'उभे अस्मिन् वावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्यादिना अभिहितस्य वावापृथिव्यादेरुपास्यत्वप्रसङ्गात् । 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येता ५ अ सत्यान्कामा ५ स्तेषा ५ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यात्मोपास्तेः फलवत्त्वावगमात् । 'उभे अस्मिन्वावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इति समाधानाधारत्वेनोक्तस्याकाशस्य 'अस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मा' इत्यभिहितस्यात्मनश्च समाधानाधारत्वेन प्रत्यभिज्ञया एकत्वावगमाच्च । 'एषः' इति 'आत्मा' इति च एकवचनपुंलिङ्गशब्दाभ्यां तद्रूपेणोक्ताकाशाभिधानस्य न्याय्यत्वाच्च । एवं च 'तस्मिन्' इत्यस्य व्यवहितपुण्डरीकेण संबन्धः संनिहिताकाशसंबन्धामंभवादिति । यदा च दहराकाश एवान्वेष्टव्यः, तदा न भूताकाशः, तत्राकाशशब्दस्य रूढत्वान्

पुण्डरीकावच्छिन्नस्य च नभसो वाहेनापमानान्; आकाश-
स्वरूपादिशेषाश्च हार्दनभसो चावापृथिव्याद्याश्रयत्वोपचारा-
दिति पूर्वपक्षः तुच्छः, वाक्यशेषगतबहुलिङ्गैष्वत्मश्रुतौ च
मत्याम् अस्याः शङ्काया अनुत्थानान्, 'आकाशस्तद्विज्ञान्'
इत्यादौ च स्मृदित्यागस्य आश्रितत्वान् । तथा हि—

तेन तस्योपमेयत्वं रामरावणयुद्धवत् ।

अगत्या भेदमारोप्य गतौ सत्यां न युज्यते ॥

'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यत्र हि एकस्मिन्नपि
युद्धे अगत्या भेदे परिकल्प्य उपमेयत्त्रसिद्ध्यर्थमेवं व्यपदि-
श्यते । अस्ति तु इह दहराकाशस्य नभसोऽन्यत्वादुपमोक्ते-
र्गतिः । तथा 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः'
इत्यादि द्रष्टव्यम् । तस्माज्जीवपूर्वपक्ष एव अत्र दृढः । पूर्वत्र ईक्ष-
तिध्यायनिकर्मणोः परपुरुषविषयत्वेन प्रत्यभिज्ञानादैक्ये मति
ध्यायनिकर्म परं मद्येत्युक्तम्, तदयुक्तम्, दहरवाक्यापक्रमो-
क्तर्जावम्य वाक्यशेषे 'म उत्तमपुरुषः' इति उत्तमपुरुषश-
ब्दाभिधानान्, तद्वत्परपुरुषशब्दम्याप्यशब्दविषयत्वमंभवान्-
इत्याशङ्कापाकरणान् मंगतिः । तत्र—

भाषेयत्वादिशेषाश्च परं जीवस्य युज्यते ।

कदा न ब्रह्मणो युक्तं हेतुद्वयवियोगतः ॥

जीवस्य परिच्छिन्नत्वेन 'मद्यपुरं' इति मद्यर्मात्रिर्दिष्टाधारं

प्राप्ते आधेयत्वान् भोगायतनेन भोक्तृविशेषसंबन्धाच्च जीवस्य ब्रह्मणः पुरामिति समाप्तान्तर्वर्तिषष्ठ्युक्तसंबन्धोपपत्तेः तस्यैव शरीरं पुरं युज्यते । न ब्रह्मणः, तस्य सर्वगतत्वेनानाधेयत्वात्, शरीरेण विशेषसंबन्धाभावाच्च । कारणत्वेन संबन्धस्य सर्वविकारसाधारण्यात् । असाधारणनिमित्ता हि व्यपदेशा भवन्ति । तद्यथा क्षितिजलपवनबीजादिसमवधानजन्माप्यङ्कुरः शालिर्बीजेन व्यपदिश्यते शाल्यङ्कुर इति । न क्षित्यादिभिः, तेषां कार्यान्तरेष्वपि साधारणत्वात् । ननु जीवस्वामिकेऽपि पुरं पुण्डरीकवेशमनि आकाशशब्दं ब्रह्म वर्तताम्— यथा वत्मराजस्य पुरे उज्जयिन्यां चैत्रः स्वगृहे वर्तते इति । नैतन्, वेशमनोऽनिर्दिष्टाधेयविशेषस्वाधेयाकाङ्क्षायां ब्रह्मपुरशब्दसंनिहितपुरस्वामिनो जीवस्वाधेयत्वेन संबन्धात् । ब्रह्मशब्दस्य च रूढिं परित्यज्य देहादिवृंहकत्वयोगाद्वा चैतन्यगुणयोगाद्वा जीवेऽपि प्रवृत्तत्वादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

ब्रह्मेति प्रकृतिः षष्ठ्याः प्राधान्याद्ब्रह्मवत्तरा ।

ब्रह्मातो दहरः षष्ठी नेया तदनुसारतः ॥

यदुक्तं ब्रह्मणः पुरेण असाधारणसंबन्धाभावात् ब्रह्मणः पुरामिति षष्ठ्यनुपपत्तिरिति, तन्न, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थस्य विशेष्यस्य प्राधान्यात्, तद्विशेषणभूतषष्ठ्यर्थस्य तदनुसारेण ब्रह्मणि नेतव्यत्वात् । तथा हि—

उपलब्धेरधिष्ठानं ब्रह्मणो देह इष्यते ।
तेनासाधारणत्वेन देहो ब्रह्मपुरं भवेत् ॥

देहे हि ब्रह्मोपलभ्यत इत्यासाधारणतया देहो ब्रह्मपुर-
मिति व्यपदिश्यते । 'पुरे' इत्याधारनिर्देशोऽपि प्रथमभूतब्रह्म-
शब्दानुमागिणोपलब्ध्याधारत्वपरः । अस्तु वा ब्रह्मपुरं जीवपु-
रम् ; तथापि अस्मराजपुरे चैत्रसदनवत् जीवपुरे ब्रह्मसदनं
हृदयपुण्डरीकं भविष्यति । न च संनिधानार्त्वात् एव वेदमना-
धेयत्वेन मन्थयन्त इति वाच्यम् । उत्तरेभ्यः अहरहर्ब्रह्मलोकग-
त्यादिलिङ्गेभ्यो ब्रह्मावगमान्, संनिधेश्च लिङ्गादुर्वलत्वा-
दिति ॥

उत्तरागन्धदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ ८ ॥

अन्तरागन्धमित्तिदमधिकरणम् । दहरविद्याज्ञायोपरि इ-
न्द्रविरोचनयोर्हिमण्यगर्भेण महः संवाद्गरूपायामाख्यायिकायां
समाम्नायने—य आत्मापहृतपाप्मत्वादिमान् सोऽन्वेष्टव्यः—
इत्युपक्रम्य—य एषोऽक्षिणि पुरुषो जामदग्न्यायां हृदयते,
एष आत्मनि होवाचैतद्भूतमभयमेतद्ब्रह्मेति, तथा य एष
म्वत्रं मर्हायमानशरत्येष आत्मनि होवाच, तथा सद्यश्चेत्सु-
प्तः समन्तः, उपसंहृतकरण इत्यर्थः, मंत्रमन्त्रः म्वत्रं न विजा-
नानि एष आत्मनि होवाच, तथा एष मंत्रमादोऽस्मान्छरी-
गात्ममुत्थाय परं श्योतिरूपमेषत्त इति रूपेणाभिनिष्यद्यते
इति । तत्र श्योत्यं प्रायश्चित्तप्रथामु तुर्ये च पर्याये निर्दिष्ट

आत्मा, स किं जीवः, परमात्मा वेति संशयः, अवस्थात्रय-
लिङ्गाद्मृताभयत्वादेश्च । पूर्वत्र अपहृतपाप्मत्वादिलिङ्गात्
दहरो ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र अपहृतपाप्मत्वादेर्जीवेऽपि अनेन
वाक्येन अभिधानादनैकान्तिकत्वमिति प्रत्यवस्थानात् संग-
तिः । तथा हि—

अवस्थावत्त्वतो देहाद्बुद्धितेर्जीव एव सन् ।

उपाध्यपगमात्पाप्ममृत्युशोकादिवर्जितः ॥

जाग्रदाद्यवस्थावत्त्वं शरीरास्तमुत्थानं च जीवस्यैव सं-
भवति; न च तस्यापहृतपाप्मत्वाद्यसंभवः । शरीराद्युपा-
धिको हि अस्य पाप्मादिः, तन्निवृत्तां निवर्तत इति ।
उत्तरम्—

उपाधिभिर्वियुक्तस्य जीवस्य ब्रह्मरूपतः ।

अपापत्वादि तस्मिन्नेद्ब्रह्मण्येव तदिष्यताम् ॥

अनुकृतेस्नस्य च ॥ ७ ॥

‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विशुतो भान्ति कुतो-
ऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं
विभाति’ इत्यत्र यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा
सर्वमिदं विभाति, तस्मिन् तेजः, उत ब्रह्मेति सप्तम्याः मति
विषये च साधारण्यात्संशयः । पूर्वम् ‘एतं त्वेव ते’ इत्ये-
तच्छब्दस्य प्रकृतार्थत्वात् दहरस्य जीवता निरस्ता; तदयु-

कम्, 'तत्र' इत्यादीं सर्वनाम्नः प्रकृतार्थत्वानियमादिति प्रत्य-
यस्थानात्मंगतिः । 'तत्र' इति विषयसप्तमीस्वीकारे न तद्भा-
सयतीति णिजध्याहारप्रसङ्गान् सतिसप्तमीयम् । तथा च—

अभातं तेजसो दृष्टं मनि तेजोऽन्तरे यतः ।

तेजो धात्वन्तरं तस्मादनुकाराच्च गम्यते ॥

यद्यप्यसौ मारेण तेजसा मन्दतेजश्चन्द्रवारकाद्यभिभूयते,
नाल्पतेजसा । तस्माद्यत्र सति सूर्याद्यभिभूयते, तत्तेजः । न च
प्रदीपविधायकघटगृहादीं व्यभिचारः, तस्याभासकत्वान् । अस्य
तु अभिभावकस्य 'तस्य मामा सर्वमिदं विभाति' इति भासक-
त्वश्रवणान् । विभक्तं तेजः, प्रकाशकत्वे सति तेजोऽभिभावक-
त्वान्-सूर्यवन् । न च 'सर्वमिदं विभाति' इति सर्वलिङ्गात्पर-
मात्मेहाभिमत इति युक्तम्, सर्वशब्दस्य प्रकृतमूर्याद्यपेक्षत्वान् ।
न च अनिन्द्रियभावमापन्नस्य तेजसः कथं तेजःप्रकाशकतेति
मांप्रतम् । अस्य तेजसोऽन्यत्रादृष्ट्यापि तेजःप्रकाशकत्वस्य
श्रुतिवशादाश्रितत्वान्, अनिन्द्रियत्वेऽप्यश्रितत्वान् । न चैव-
मन्तेजस्यपि प्रकाशे श्रुतिवशादभिभवानुकारौ किमिति नाभि-
ताविति वाच्यम् । अन्याप्ययोः द्वयोः श्रुतिवशादाश्रयणे श्रुति-
शिरसि सुकृतभारारंभप्रसङ्गान् । तस्मादभिभवादिह तेजो-
ऽन्तरं गम्यते । अनुकाराच्च गम्यते; अनुमानं ह्यनुकारः; स च
समानेभ्यश्च दृष्टः गण्यन्तमनुगण्यतीति । यद्यपि 'यस्मिन्श्रीः
पूर्विषी चान्तरिभ्रमोत्तम' इति प्रथमकृतम्, तथाप्यभिभवानु-

कारलिङ्गाभ्यां प्रकरणबाधया तेजः । न च 'तत्र' 'तम्' 'तस्य'
इति सर्वनामश्रुतिभिः प्रकृतब्रह्मपरामर्शाच्छ्रुतिभिरेव लिङ्ग-
बाध इति सांप्रतम् । न हि सर्वनामश्रुतिनियमेन प्रकृतमेव
परामृशतीति नियन्तुं शक्यम् । 'तेन रक्तं रागात्' 'तस्याप-
त्यम्' इत्यादौ पूर्वोक्ताभावेन तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्व-
दर्शनात् । ततश्चेदिहैव तच्छब्दैर्ब्रह्मार्ण्यमाणं परामृश्यते, तर्हि
तेज एव परामृश्यतामिति तेज एवालौकिकमिहोपास्यत्वेन
गम्यते इति प्राप्ते, अभिधीयते—

ब्रह्मण्येव हि तल्लिङ्गं न च तेजस्यलौकिके ।

तस्मान्न तदुपास्यत्वं ब्रह्म ज्ञेयं तु गम्यते ॥

न तावत् 'न तत्र' इति सतिसप्तमी, तथा सति हि तेजः-
प्रतिरोधितेजसः प्रकाशमानत्वेन तेजःप्रकाशकत्वासंभवात्
'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति भासमानस्य सतः सूर्यादि-
सर्वजगदवभासित्वमसंकुचद्वाचि सत् विरुध्येत । तथा सति
लोकशब्दानवगतं दृष्टतेजोविपरीतं तेजः परिकल्प्य तदुपासितः
कल्प्या । ततो वरम् 'भारूपः सत्यकामः' इति 'अगृह्यो न हि
गृह्यते' इति च अविषयस्य सर्वावभासकस्य ब्रह्मणः श्रुतिप्रसि-
द्धस्येह ब्रह्मणम् । तथा च 'तत्र' इति विषयसप्तमी । 'न तद्भा-
सयते' इति स्मृतेरपि विषयसप्तमीयम् । तथा च अभिभवरूप-
तेजोलिङ्गमसिद्धम्, अपि तु ब्रह्मण्येवैतदुक्तप्रकारेण लिङ्गम् । न
च अत्र भासयतीति णिजध्याहारप्रसङ्गः । 'तत्र' इति विषयत्वे

उक्ते अर्थाद्विषयित्वेन भासयतीति लभ्यत्वात् । तस्मात् 'ज्यो-
तिषां ज्योतिः' इति प्रकृतम्, तत्किमित्यपेक्षायां द्वेषं ब्रह्मैह
प्रतिपाद्यते । अनुकारस्तु सजातीयत्वे नैकान्तः, तस्मायःपिण्डो-
ऽग्निं दहन्तमनुदहतीति दर्शनात् । अपि च 'तत्र' इत्यादि-
भिः सर्वनामभिः प्रकृतं ब्रह्म परामृष्टव्यम् । 'तेन रक्तम्'
इत्यादौ च प्रकृतं परस्य प्रत्ययस्यार्थविशेषे अन्वाख्यायमाने
पूर्वस्याः प्रकृतेरर्थस्य सतः प्रकृतस्य तच्छब्देन परामर्श इति
न सर्वनाम्नः प्रकृतार्थत्वव्यभिचारः ॥

शब्दादेव प्रमितः ॥ ८ ॥

'अद्भुष्टमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानो भूत-
मध्यस्य म एवाद्य स उ च एतद्ब्रह्म तत्' यदन्यत्र धर्मादिति
पृष्टम्—इत्यत्र अयमद्भुष्टमात्रः पुरुषः किं जीवः उपास्यत्वेनो-
पदिश्यते, उत परमात्मा ईश्वरत्वेन प्रतिपाद्यते इति संशयः ।
कस्मान् !

नाश्वसा मानभेदोऽस्ति परस्मिन्मानवर्जिते ।

भूतमध्येशिता जीवे नाश्वसी तेन संशयः ॥

यत्र परमात्मा प्रतिपाद्यः, तर्हि परिमाणविशेषप्रतिपाद्य-
काद्भुष्टमात्रश्रुतिर्न सुख्या । यदि जीवः, ईशानश्रुतिर्न सुख्या ।
अत एकत्र गौणता । सा च केन्द्रज्ञानात्मसंशयः । पूर्वं सति
विषये च माधारणा मत्तमी 'न तद्भासयते' इति विषयत्वनि-
षेधकम्भूत्या विषये व्यवस्थापिता । तद्वत्परिमाणमपि जैवमै-

श्वरं वेति संशये, 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्षं यमो बलात्' इति निर्णयार्थस्मृत्या जैवमिति प्रत्यवस्थानात् संगतिः । तत्र—

उपाधिना बिना पूर्वं परिमाणोपवर्णनात् ।

भूतभव्येशिता पश्चात्तनी जैवीति नीयताम् ॥

हृत्पुण्डरीकस्थाननिर्देशाद्धि दहरत्वं परमात्मन एवोपाधिकं युक्तम् । न च अत्र स्थानं किञ्चिन्निर्दिष्टम्, परिमाणमात्रनिर्देशात् । न च अत्रापि 'मध्य आत्मनि' इति स्थानविशेषो गम्यते । आत्मशब्दो ह्ययं स्वभाववचनो वा जीववचनो वा ब्रह्मवचनो वा स्यात् । तत्र स्वभावस्य स्वभवित्रधीननिरूपणतया स्वस्य भवितुरनिर्देशात् न ज्ञायते कस्य मध्य इति । न च जीवपरयोरस्मि मध्यमश्चेति — नैष स्थाननिर्देशः स्पष्टः । तस्मादुपाधिमन्तरेण परिमाणनिर्देशात्तस्य च प्रथमत्वाच्चीवस्य च परमात्मावच्छेदस्योपाध्यन्तरमन्तरेण परिमितत्वाच्चरमप्रतीतं भूतभव्येशानत्वमापेक्षिकं व्याख्येयमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रभोत्तरत्वादीशानश्रवणस्याविशेषतः ।

जीवस्य ब्रह्मरूपत्वप्रत्यायनपरं वचः ॥

अङ्गुष्ठमात्रभूतेः प्राथम्यमसिद्धम् । ततोऽपि प्राक् 'अन्यत्र धर्मात्' इति परमात्मनः पृष्टत्वात् । तदनन्तरस्यास्य संदर्भस्य तत्प्रतिपत्ततोचिता । तर्हि जीवनिर्देशस्य का गतिरिति,

रच्यते— अङ्गुष्ठमात्रजीवानुवादेन विरुद्धांशप्रहाणेन तस्ये-
 शानत्वप्रतिपादनपरमिदं वाक्यम्— तद्वचमस्यादिवत् । एवं
 भूतभव्येशानत्वं न संकोचयितव्यम् ॥

तदुपर्यपि यादरायणः संभवात् ॥ ९ ॥

इदानीं नखदेवादीनां ब्रह्मविद्यासाधनवेदान्तवाक्यविचा-
 रादिषु अधिकारोऽस्ति न वेति विचार्यते, तेषां सामर्थ्यासंभ-
 वसंभवाभ्याम् । यद्यपीयं चिन्ता शास्त्रसंगता, तथापि समन्व-
 यलक्षणे साक्षादसंगतेति प्रासङ्गिकी । अङ्गुष्ठमात्रभृतिर्मनु-
 प्यहृदयापेक्षा, मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तम् । तर्हि वेदा-
 न्ता अपि मनुष्याधिकारा एवेति प्राप्य प्रतिविधीयते ।
 यद्यप्ययमधिकारविचारो न देवादिप्रवृत्त्यर्थः, तथापि क्रमसु-
 क्तिफलोपास्तिषु भोगद्वारा मोक्ष्यमाणमनुष्यप्रवृत्त्यङ्गम् ।
 तद्य—

देवानामशरीरत्वाद्देदाध्ययनवर्जनात् ।

दृष्टशस्त्रीयमामर्थ्यहानिर्विद्या न विद्यते ॥

अपि च ।

नानादेशे नैकदेवैकदेवो यागानां स्यात्संप्रदानं विरोधात् ।

देर्ध्वमे ध्वंसमापद्यमानः शब्दैर्नित्यैर्नेप शक्योऽभिधातुम् ॥

अत्रोच्यते—

विष्येकवाक्यतां यातुं योऽर्थः शब्दैरतत्परैः ।

अविरुद्धः प्रतीयेत स तैरेव प्रसीयते ॥

दिति चेत्; न, औपनिषदस्य ब्रह्मणो मानान्तरायोग्यतया वाधासंभवेन अगौणत्वान्ः तात्पर्यागम्यविधेयस्तुतौ द्वारतोऽपि देवताविप्रहाद्यवगतां तत्र तात्पर्यकल्पनानुपपत्तेः । न च यत्र यस्य न तात्पर्यं तत्र तस्याप्रामाण्यम्; यतः—

विशेषणानि मीयन्ते विशिष्टविधिभिर्यथा ।

अतत्परैस्तथा देवदेहा मन्त्रार्थवादतः ॥

‘एतम्यैव रेवतीषु वाग्धन्तीयमग्निष्टोममाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत’ इत्यत्र रेवतीनामृचां वारवन्तीयसान्नाय्यं संबन्धो विशेषणं मानान्तरागम्यम्; तद्विशिष्टयागविधिर्न विशेषणपरः; तथा सति विध्यावृत्त्यापातान् । अथ च विशेषणेऽपि प्रमाणम् । न च विशिष्टविषयत्वेन विशेषणाक्षेपः; तथा सति परस्पराश्रयान्— आक्षेपाद्विशेषणप्रतिपत्ता सत्यां विशिष्टविषयत्वम्; विशिष्टविषयत्वाच्च तदाक्षेप इति । न च कर्मणि विरोधः, मन्त्रार्थवादप्रमितश्रयाणां देवतानां नानाविप्रह्वतीनामन्तर्धानादिशक्तियोगान् परैरदृष्टानां युगपदनेकदेशवर्तियोगेषु मंत्रदानत्वसंभवान् । न च शब्दे विरोधः; अवान्तरप्रलये वरवादिशब्दानां विद्यमानत्वान् तेषां च वसुत्वादिजात्यर्थत्वात् महाप्रलये शब्दानां संस्कारशेषं लीनानां पूर्वक्रमसदृशक्रमवतां पुनरुद्भवान् अर्थानां च जातीनां पूर्वसदृशीनामुत्पादान् वर्णानित्यत्वपञ्चेऽपि क्रमोपगृहीतवर्णानां वेदत्वान् क्रमस्य उच्चारणोपलब्ध्योरन्यतरधर्मस्यानित्यत्वान् तत्सादृश्यनियम-

स्यैव वेदानित्यत्वप्रयोजकत्वात् । जन्मान्तरे च विधिवदधीत-
वेदस्य देवजन्मन्याविर्भावान् स्मर्यमाणवेदात् देवानां विद्या
स्यात् । अस्माकमपि वेदो न अधीयमानदशायामेवार्थबोधकः ;
किं तु अध्ययनोत्तरकालं भीमांसादिसहकृतः स्मर्यमाण
एवेति ॥

शुद्रस्य नदनादरश्रवणात्तदाद्रवणा-
त्सूच्यते हि ॥ १० ॥

शूद्रस्य ब्रह्मविद्यासाधनवेदान्तवाक्यविचारादिषु अधिका-
रोऽस्ति न वेति अध्ययनस्य प्रधानकर्मत्वसंस्कारकर्मत्वाभ्यां
संशयः । पूर्वत्र अत्रैवार्णिकदेवानाम् 'तद्यो यः' इति लिङ्गादधि-
कार इत्युक्तः । तद्वद्विद्याधिकारिणः शूद्रशब्देन परामर्शलिङ्गा-
न्तुष्टस्यप्यधिकारः । श्रूयते हि— 'अहं हारेत्वा शूद्रं तवैव
महं गोभिरस्तु' इति । न च ब्रह्मविद्यायामलौकिकमस्ति
साधनम्, यन्तुष्टस्य न स्यात् । वेदार्थावबोधे अध्ययननि-
यमस्य स्वाध्यायविध्यबोधितत्वान् । शूद्रस्य उपनीतद्विजात्य-
धिकारकाध्ययनाभावान् ब्रह्मज्ञानसाधनविचारादावनधिकार
इति चेत्, नः यतः—

अनारभ्यविधेः कर्मव्याप्तार्थानाधितत्वतः ।

न कत्वर्थेऽस्य नियमो न पुमर्थेऽनमीष्टतः ॥

'स्वाध्यायोऽप्येतत्तयः' इति हि विधिः कंचित्कृतुं प्रकृत्य
न पठ्यते । न च स्वाध्यायः केनचित्कृतुना जुटूरश्रियतमं-

बन्धः ; यतस्तेनोपस्थापिते ऋतौ अध्ययनं वाक्पत्रेण क्रतुसंबन्धमनुभवेत् । तस्मान्न ऋत्वर्थेऽक्षराधिगमे अर्थबोधे वा अध्ययनं नियन्तुं शक्यते । नापि पुरुषार्थे, पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिर्हि पुरुषार्थः ; न च स्वाध्यायावाप्तिः तदर्थधिगमो वा विधिं विना पुरुषेच्छाधीनप्रवृत्तिः ; प्रवृत्तिविषयस्य इष्टसाधनत्वेन इष्टत्वेन वा अनधिगतत्वात् । तस्मान्न पुरुषार्थे अध्ययनं नियन्तुं शक्यम् । तस्माद्विधिविपरिणामेन अध्ययनेन अदृष्टं फल कल्प्यम् । अतः अध्ययनविधेरनियामकत्वान् शूद्रस्वाध्ययनेन वा पुस्तकादिपाठेन वा वेदार्थाधिगमासिद्धेः सामर्थ्यसंभवात् सोऽपि ब्रह्मविद्यायामधिक्रियते ॥

एवं स्वाध्यायविधिना विरोधेऽपाकृते सति ।

अर्थवादगतालिङ्गादपि शूद्राधिकारिता ॥

लिङ्गं च दर्शितम् 'अहं हारेत्वा शूद्र' इत्यादि । दृष्टञ्च अत्रैवार्णिकस्यापि निपादस्वपतेरिष्टवधिकारः । एवमत्रापीति प्राप्ते, अभिधीयते—

सामर्थ्यरूपलिङ्गेन लोककल्प्या च वृंहितात् ।

तन्न्यप्रत्ययतो वेदः संस्कार्योऽध्ययनान्मतः ॥

अध्ययनसामर्थ्यादवाप्तवेदाद्भ्युदयनिःश्रेयसोपयोग्यार्थावबोध उत्पद्यते । तेन सामर्थ्यादर्थबोधे अध्ययनं विनियुज्यते । विशेषनिष्ठत्वाद्याम्य लिङ्गस्य न सामान्यसंबन्धापेक्षा । 'अध्येतव्यः' इति च तन्न्यप्रत्ययेन स्वाध्यायस्य कर्मत्वम् अध्ययनस्य

तं प्राप्तिं गुणत्वमवगतम् । तथा च अध्ययनविधिः अध्ययनस्या-
 पोक्षितोपायत्वमवगमयन् अवाप्तस्वाध्यायसामर्थ्यासिद्धे अर्धा-
 वबोधे दृष्टफले सति नादृष्टं कल्पयति । न च श्रुतपदान्वयानु-
 नुरोधेन अध्ययनस्य गुणकर्मत्वसंभवे 'स्वाध्यायेनाधीयीत'
 इति अश्रुतपदान्वयकल्पनया प्रधानकर्मत्वस्वीकारेण स्वर्गादि-
 फलकल्पना उचिता । तस्मात् अध्ययनसंस्कृतेन स्वाध्यायेन
 जन्यमानोऽर्थावबोधः फलवत्कर्मब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगी । अ-
 ध्ययनं च उपनीतस्यैव, 'उपनीत' 'तमध्यापयीत' इति वच-
 नान् । उपनयनं च वैवाणिकस्यैव 'अष्टवर्षे ब्राह्मणमुपनयोत'
 इत्यादिवचनात् । तथा च शूद्रस्य वेदाध्ययनाभावात् न वि-
 द्याधिकार इति । एवं च अध्ययनविधिविरोधे अर्थवादगत-
 लिङ्गं न शूद्रमधिकारयितुमलम् । निपादस्य तु विधिवल्ल-
 दिष्ट्यधिकार इति वैपम्यम् । शूद्रशब्दस्तु वर्णितेन प्रकारेण
 रूढत्वसंभवे क्षत्रिये एव जानश्रुतां शुचमभिदुद्राव इत्यादि-
 योगाद्दर्शयितव्यः ॥

अपि च—

राजयाजककापेययाम्यस्याभिप्रतारिणः ।

प्रायेऽपाठि यतो जानश्रुती राजा ततो भवेन् ॥

कम्पनात् ॥ ११ ॥

'यदि किं च जगत्सर्वं प्राण एतति निःभूतं महद्भयं वक्ष-
 मुपतं य एतद्दिदुरमृताग्ने भवन्ति' इत्यत्र वायुः प्राणः संवर्ग-

विशयाभिव उपास्यत्वेन आम्नायते, उत ब्रह्म ज्ञेयं प्रतिपाद्यते
—इति प्राणशब्दस्योभयत्र प्रयोगदर्शनान् सर्वश्रुतिप्राणश्रुति-
भ्यां वा संशयः । वस्त्रोद्यमनेहेतुत्वेन च अत्र वायुप्रतीतिः । न
हि आध्यात्मिकप्राणा वस्त्रोद्यमननिमित्तमिति । अस्याधिकरण-
स्य अनुपपत्तेन अपशुद्धविचारेण न संगतिरिति व्यवहितेन
उच्यते — 'अध्यादेव प्रमितः' इत्यत्र ब्रह्मवाक्यं जीवानुवादो
ब्रह्मक्यबोधार्थेत्युक्तम् । इह तु प्राणस्य स्वरूपेण कल्पितस्य
न ब्रह्मक्यसंभवः । यतोऽनूद्यते । अतस्त्वदुपास्तिविधिरिति
प्रत्यवस्थाप्यते । 'प्राणमेवाभिर्भविशन्ति' इत्यत्र निरपेक्षकार-
णत्वपरिष्कारश्रवणान् ब्रह्मपरत्वम् ; इह तदभावान् 'अत
एव प्राणः' इत्यनेन अगतार्थत्वम्, उपक्रमोपसंहारकरूप्यस्य
अस्यष्टत्वाच्च प्रातर्दनविचारेणापीति । तत्र—

प्राणवत्प्रथुनी वायोऽन्यत्रार्थं न विन्दतः ।

सर्वशब्दान् संकोच्यः स्वार्थहेतुस्य लाभतः ॥

ब्रह्मपरिषदे हि प्राणशब्दशब्दो म्बार्थं सर्वशब्दं त्यजतः,
अथमुगतमिवन्नुपसोपादानान् । ब्रह्मनिमित्तं वस्तुमुगतमिति
व्याख्यानेऽपि वक्ष्येण ब्रह्मणः असाधारणसंबन्धाभावाद्ब्रह्म-
शब्दार्थसागः । कार्योक्त्यर्थत्वे तु प्राणशब्दस्तावन् प्राण-
मावापन्नं वायव्यर्थवान् । वक्ष्यशब्दोऽपि वस्तुन्यभावेन परिसम-
मानस्य शार्थैवाज्ञानिभावापत्तः साध्यकः । तथापि सर्वं जग-
त् इति महायुक्तं जगत्प्रतीयते, तथापि सर्वशब्दो वासुदेवार्थो-

पेक्षया संकोच्यमानोऽपि न स्वार्थं जहति ; किं तु अर्थैक-
देशं लभते । तस्मात्स्वार्थत्यागाद्वरं श्रुतिसंकोच इति प्राप्ते,
अभिधीयते—

पूर्वापरैकवाक्यत्वप्रक्रियाभ्यां समन्वितः ।

सर्वशब्दस्य संकोचः श्रुत्यर्थत्यागकारणम् ॥

न श्रुतिसंकोचमात्रं श्रुत्यर्थपरित्यागे हेतुः । अपि तु पूर्वा-
परवाक्याभ्यामस्य वाक्यस्य एकवाक्यत्वेन प्रकरणेन च संब-
लितश्रुतिसंकोचः । पूर्वत्र हि 'तदेव शुक्रं तद्वह्न' इति ब्रह्म
निर्दिष्टम् । परत्र च 'भयादस्याभिस्तपति' इति ब्रह्म निर्दे-
क्ष्यते । ताभ्यां वाक्याभ्यामिदं वाक्यमेकवाक्यतां लभेत यदि
ब्रह्मपरं स्यात् । 'अन्यत्र धर्मात्' इति च ब्रह्म प्रकृतम् ॥

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ १२ ॥

'एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य
स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यत्र ज्योतिः आदित्यो ब्रह्म वा—
इति ज्योतिःश्रुतेः परश्रुतेश्च संशयः । पूर्वत्र सर्वशब्दस्येव इह
न कन्याश्चिच्छ्रुतेः संकोचः । अथवा प्रागिव इहापि 'समु-
त्थाय' इत्यादिश्रुतिसंकोचात् 'स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदा-
दित्यं गच्छति' इति नाडीखण्डप्रस्तुतादिसंप्रकरणाच्च आदित्य
एव ज्योतिः । तथा हि—

समुत्थायोपसंपद्य तथा ज्योतिरितीह हि ।

श्रुतीनां तिसृणां पीडा ब्रह्मपक्षे प्रसज्यते ॥

ब्रह्मज्योतिः व्यापीति न तत्प्राप्तौ शरीरात्समुत्थानापेक्षा ।
 तथा परंज्योतिष एव स्वरूपत्वात् तत्प्राप्तिरप्येकैवेति तद-
 पेक्षया तस्या एव पूर्वकालत्वायोगात् 'उपसंपद्य' इति श्रुति-
 रयुक्ता । ज्योतिःश्रुत्ययुक्तिः प्रसिद्धैव । आदित्यं तु अचिरा-
 दपेक्ष्य परमुपसंपद्य तस्य समीपे भूत्वा स्वेन रूपेणाभिनि-
 प्पद्यते । कार्यब्रह्मप्राप्तौ क्रमेण मुच्यत इत्युपपद्यन्ते श्रुतयः ।
 'परम्' इति श्रुतिस्तु विशेषणविषया विशेष्यार्थज्योतिःश्रुत्या
 संकोच्या । 'य आत्मापहतपाप्मा' इति प्रकरणस्य च तिसृभिः
 श्रुतिभिर्यापया आदित्य एव ज्योतिरिति प्राप्ते, अभिधीयते—

आनर्थक्यप्रतिहतश्रुतिभ्योऽपि बलीयसा ।

ब्रह्म प्रकरणेनेह ज्योतिःशब्दस्य गोचरः ॥

आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमिति स्थितिः । इह
 च 'अशरीरं वाच मन्तं न प्रियाप्रिये स्पृगतः इत्यशरीरता-
 फलध्रवणान् निर्गुणविद्येयम् । अस्यां च न अचिरादिमार्गं
 इत्यादित्यः अनर्थक' । न च मगुणविद्यासु उत्कृष्येत ; वासु
 'संवेत्सगादादित्यम्' इत्यादिना स्पष्टं मार्गपरत्वेन आदित्यस्य
 श्रुतत्वान् ; अधृतस्थले च स्पष्टम्येषांपमंहारान् ; इह च ज्योतिः-
 पदमाद्यध्रवणान्मार्गानिर्देशाच्च मार्गातिवाहकत्वम्यास्पष्टत्वान् ।
 अतः आदित्यादेरभिधाने तिस्रः श्रुतयः अनर्थिकाः स्युरिति
 आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमिति प्रकरणान् मद्देव
 ज्योतिःशब्दम् । तस्य 'य आत्मापहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः'

इति प्रकृतत्वात्, तत्प्रतिपादनार्थत्वाच्च उत्तरग्रन्थस्य; मध्ये च 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इति परामर्शात्, अन्ते च 'स उत्तमः पुरुषः' इत्युपसंहारात्। यत्तु नाह्नीखण्डे आदित्योऽपि प्रकृत इति, स तु तत्रः प्राक्प्रस्तुतदहरविद्याफलप्राप्त्यर्थ इत्यविरोधः। एवं च 'शरीरात्समुत्थाय' इति परोक्षशरीरादिविवेकज्ञानमुक्तम्। स्वरूपाभिनिष्पत्तिः साक्षात्कारः। परंज्योतिरुपसंपत्तिः इत्यविद्यानिवृत्तौ ब्रह्मभावः। साक्षात्कारपूर्वकत्वेऽप्यविद्यानिवृत्तेः व्युत्क्रमनिर्देशः 'मुखं द्यादाय स्वपिति' इतिबहूप्लव्य इति ॥

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ १३ ॥

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा' इत्यत्र आकाशशब्दार्थो नभः, उत ब्रह्म— इति आकाशशब्दब्रह्मश्रुतिभ्यां संशयः। न च 'आकाशस्तद्विद्महात्' इत्यनेन गतार्थत्वम्; नामरूपनिर्वहणख नभस्यापि वाय्वादिकारणत्वादुपपत्तेः, 'सर्वाणि ह वा इमानि' इत्यत्रेव इह सर्वशब्दाभावात्, नामरूपयोरन्तरालस्वरूपप्रपञ्चाधिष्ठानत्वस्य 'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इत्युक्तब्रह्मधर्मत्वेन आकाशधर्मत्वाभावात् अन्तरालस्य च ब्रह्मणो यत्तच्छब्दाभ्यां नपुंसकाभ्यामाकाशनैरपेक्ष्येण प्रतिपादितस्य आकाशादन्यत्वात् निर्वोदुश्चाकाशस्यान्तरालात् भेदेन पुंलिङ्गाकाशनिर्वहिशब्दाभ्यां निर्दिष्टस्य नामरूपाधिष्ठानब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वेन निवेद्या-

न । पूर्वं ब्रह्मप्रकरणादानर्थक्यप्रतिहतज्योतिःश्रुतिर्नीता ; इह तु न ब्रह्मप्रकरणम्, नाप्याकाशश्रुत्यानर्थक्यम्, ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वादाकाशस्य ॥

तस्माच्छ्रुतेर्वैलीयस्याः संकोचे हेत्वसंभवात् ।

तन्मूलभूतमात्रस्य ब्रह्माधिष्ठानता भवेत् ॥

पूर्वपक्षे आकाशकार्यवाच्यादिमात्राधिष्ठानं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

निर्वाहृत्वं नियन्तृत्वं चेतनस्यैव युज्यते ।

संभवलोकवाक्यत्वे वाक्यभेदोऽपि दुर्बलः ॥

राज्यस्य निर्वाहा इत्यादी हि निर्वाहकत्वं चेतनधर्मः प्रतीयते । स इह प्रतीयमानो न नभसि युज्यते । नामरूपशब्दश्च प्रकाश्यप्रकाशकसर्वजगन्मात्रवाची न संकोच्यः । एवं च निर्वाहदुरेवान्तरालत्वेन वाक्यस्यैकार्थविषयत्वेनैकत्वसंभवे सति नोपायोपयपत्त्वेन वाक्यभेदकल्पना उचिता । सति चैवं ब्रह्मशब्दो अमृतामयत्वादीनि च आकाशगोचराणि तस्य ब्रह्मतां गमयन्ति । तत्र च आकाशश्रुतौ ब्रह्मश्रुतौ निरुद्धायां लिङ्गब्रह्मनिर्णयः । यत्तच्छब्दावपि प्रस्तुतार्थलाभे न प्रस्तोष्यमाणं वदत इत्याकाशविषयावेव ॥

प्रकृतः प्रकृतार्थे च निवेशे प्रत्ययार्थता ।

परिणयान्यर्थवेद् गुणे त्वन्याव्यकल्पनान् ॥

यच्छब्दप्रातिपदिकं हि प्रधानं प्रकृताकाशे संभवति ।

नपुंसकलिङ्गं तु प्रत्ययार्थो विशेषणत्वेन गुणभूतत्वात् प्रधानानुरोधेन पुंस्त्वेन परिणीयते । अत्र च निर्वोद्धृत्वमधिष्ठातृत्वम् अन्तरालत्वमधिष्ठानत्वेनोपादानत्वमिति विवेकः । यदा ते नामरूपे यस्माद्भिन्ने इति व्याख्यायते, तदापि प्रपञ्चवैलक्षण्यं ब्रह्मलिङ्गम् । तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मेति ॥

सुषुप्त्युत्क्रान्तपोर्भेदेन ॥ १४ ॥

बृहदारण्यके पष्ठेऽध्याये 'कृतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु ह्यनन्तर्व्योतिः पुरुषः इत्युपक्रम्य भूयानात्मविषयः प्रपञ्चः कृतः । तत्र किं संसारिस्वरूपान्वाख्यानपरं वाक्यम्, उत असंसारिब्रह्मात्मप्रतिपादनपरमिति उपक्रमगतविज्ञानमयशब्दादुपसंहारवर्तिसर्वेशानादिशब्दाच्च संशयः । 'अङ्गुष्ठमात्रः' इत्यत्र नोपक्रमोपसंहारौ जीवे; अत्र तु विद्येते इत्यागता चिन्ता । पूर्वत्र नामरूपाभ्यां भेदव्यपदेशादाकाशं ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र भेदव्यपदेशोऽनेकान्तः, असत्यपि भेदे 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' इति भेदोपचारदर्शनादित्याशङ्क्य तत्रापि मुख्यभेदपरत्वसाधनात्संगतिः । तत्र—

आदिमध्यावसानेषु संसारिप्रतिपादनात् ।

तत्परे ग्रन्थसंदर्भे सर्वं तत्रैव युज्यते ॥

आदावन्ते च 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति संसारी पठ्यते । मध्ये च 'स वा एष एतस्मिन् संप्रसादे स्वप्ने बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा' इत्यादिना अवस्थात्रयाभिमानो जीवो अभि-

धीयते । अतः साभ्यासे ग्रन्थे जीवपरं सति 'महानजः' 'सर्वस्य वशी' इत्यादि सर्वमापेक्षिकत्वेन संसारिण्येव योज्यते । 'प्राज्ञेनात्मना संपरिप्वक्तः' इति तु सुषुप्तौ विषयोपरागाभावात् घनीभूतप्राज्ञेनात्मना स्वरूपेण परिप्वक्त इत्यभेदेऽपि भेदोपचारं जीवे योजनीयम् । जीवप्रतिपादनप्रयोजनं तु कर्माधिकारसिद्धिरिति प्राप्ते, अभिधीयते—

विविच्य लोकसंसिद्धं जीवं प्राणाद्युपाधितः ।

ब्रह्मत्वमन्यतोऽप्राप्तं महानात्मेति बोध्यते ॥

अनधिगतार्थबोधकं हि शाब्दं प्रमाणं न जीवानुवादमात्रपरं भवितुमर्हति । न च कर्माधिकारिमात्ररूपो जीव इह प्रतिपाद्यते । अपि तु स एष जीव एव सर्वेशानादिरूपः, विज्ञानमयं प्रकृत्य 'स एष सर्वस्य वशी' इति वचनात् 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति च विज्ञानमयानुवादेन न महानात्मेति विधानान् । जीवस्य तु उपक्रमे संकीर्तनं प्राणादिविवेकार्यम्, स्वप्रादेर्व्यभिचारादनात्मधर्मत्वार्थं मध्ये निर्देशः, शोधितत्वंपदार्थस्य ब्रह्मत्वबोधार्थमन्ते कीर्तनमित्यभ्यासोऽप्यन्यथा सिद्धः । एवं च महत्त्वसर्वेशानत्वादि न सति संभवे आपेक्षिकं कल्पितं भवति । नापि भेदनिर्देशस्योपचारिकत्वमिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यधामदनुभवानन्दपूज्य-
पादभिष्य भगवद्मन्वानन्दविराचने शास्त्रदर्पणे

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः ॥

जगत्कारणत्वेन ब्रह्मणः प्रतिवेदान्तं प्रतिपाद्यत्वान् यद्यपि सर्ववेदान्तानां ब्रह्मणि गतिसामान्यमवधारितम्, तथापि वेदान्तेषु कानिचिद्वाक्यानि प्रधानादिकारणत्वमपि प्रतिपादयन्तीति ब्रह्मकारणत्वमभ्युपेत्यैव प्रधानादिकारणत्वशङ्काया अपाकरणार्थं पाद आरभ्यते ॥

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूप-
कविन्पस्तगृहीतेदर्शयति च ॥ १ ॥

‘महत्तः परमव्यक्तम्’ इत्यत्र अव्यक्तपदं प्रधानपरं शरीर-
परं वेति स्मार्तक्रमश्रौतक्रमपारिशेष्याभ्यामुभयोः प्रत्यभिज्ञा-
नात्संशयः । सांख्यानां श्रुतिस्मृत्योरनुमानसिद्धानुवादित्वेन
तुल्यता । तत्र,

रूढेर्योगात्कमात्स्मार्तादव्यक्तं प्रकृतिर्मता ।

व्यक्तत्वात् शरीरं स्यादव्यक्तपदमोचरः ॥

अव्यक्तशब्दो हि सांख्यस्मृतौ प्रधाने रूढः । शब्दादि-
हीनत्वेन प्रधानस्याव्यक्तत्वान् यौगिकश्च ; महदव्यक्तपुरुषाश्च
श्रुतौ स्मृतौ च क्रमेण पठ्यन्ते । यद्यपि प्रकृतं परिशिष्टं च

शरीरम्, तथापि तन् व्यक्तत्वेन अयोग्यत्वात् न अव्यक्तशब्द-
महति । अतः प्रधानमिह अव्यक्तशब्दार्थः । तदेव जगत्प्र-
कृतिः, 'महत्तः परम्' इति महत्तत्त्वमपेक्ष्याविप्रकृष्टपूर्वकाल-
त्वेन कारणत्वप्रतीतेः इति प्राप्ते, अभिधीयते—

यौगिक्यव्यक्तगर्भं प्रकृततनुमुदम्यान्यदीष्टेऽभिधातुं

रूढा नैषा प्रधाने समधिभिरुदिता र्वदिरप्यप्रमाणम् ।

योगार्थीभूतमायाप्रभवमभिवदेदक्षणायत्मनैव

प्रकान्तार्थस्य आभाद्वयवहितविषया स्यात्प्रधानाभिधाने ॥

इह हि 'मौऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्'
इति विष्णुपदाख्यः पुरुषः प्रधानम् ; तत्प्रमित्यङ्गानि इन्द्रिया-
दीनि 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादिना निर्दिष्टानि । तानि
च 'आत्मानं रथिनम्' इत्यादिवाक्येषु रथादिरूपितान्येव गृह्य-
न्ते, रूपकोपन्यासस्य दृष्टार्थत्वात् । एवं स्थिते रथत्वेन रूपितं
शरीरं पुरुषपरत्वप्रतिपादकवाक्यान्वयमपेक्षते । न च स्वा-
भिधेयावरूढाः इन्द्रियशब्दादयः तदभिदधन्ति— इति अस्त्य-
व्यक्तशब्दापेक्षा शरीरस्य । अव्यक्तशब्दोऽध्वनमिव्यक्तं किं-
चिद्योगाद्भवति । किं तन्—इत्यभिधेयविशेषाकाङ्क्षी स्वशब्दो-
पात्तेन्द्रियादि अभिधातुमक्षमः शरीराकाङ्क्षी शरीरमेव वदेत् ;
न प्रधानम् । तस्मि पौरुषेयवाक्यार्थं विप्रकृष्टम्— इत्येवं
प्रकृतार्थानलम्बित्वे अव्यक्तशब्दस्य, यद्यपि शरीरम् अस्य न
मुख्यार्थः, तथापि मुख्यार्थमायाजन्यत्वाद्दृश्यं स्यादिति ॥

चमसवदविशेषात् ॥ २ ॥

‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां मुक्तभोगामजोऽन्यः’ इति मन्त्रः प्रधानपरः, तेजोऽवन्नलक्षणावान्तरप्रकृतिमायारूपपरप्रकृत्योरन्यतरपरः—इति संशयः, अजाशब्दस्य छागतोऽपकृष्टस्य प्रधानमाययोः तेजोऽवन्ने च गुणवृत्तिसंभवात् । पूर्वत्र प्रधानस्वार्थतोऽप्रत्यभिज्ञानात् न अव्यक्तपदवाच्यता—इत्युक्तम् । इह तु त्रिगुणत्वादिना प्रधानप्रत्यभिज्ञानात् तत्परो मन्त्रः । तथा हि—

ऐक्यादजायास्त्रिगुणात्मकत्वप्रतीतिसौ लोहितशुक्लकृष्णैः ।
पुंभेदगीतेर्जुषमाणभेदान्मन्त्रः प्रधाने भवति प्रमाणम् ॥

‘अजाम्’ इत्येकत्वमवगम्यते । मायाश्च प्रतिजीवं भिन्नाः न अजाशब्दार्थाः । तेजोऽवन्नानां त्रित्वात् नैकवचनार्हत्वम् । नापि न जायत इत्यजात्वम्, जन्मवत्त्वात् । न च अजावदजैति गौणोऽर्थः शब्दः; मुख्ययोगवृत्तिसंभवे गौण्या जघन्यवृत्तेरयोगात् । लोहितादिशब्दैश्च रञ्जकत्वप्रसन्नत्वावरक्तत्वगुणयोगात् रजःसत्त्वतमांसि लक्ष्यन्ते । लोहितं हि कुसुम्भादि रञ्जयति, शुक्लं चाम्भः प्रसन्नम्, कृष्णं च तम आवरकम्—इति सिद्धान्तेऽप्येते शब्दा लाक्षणिकाः, तेजभादेर्मायायाश्च साक्षाद्गोहृत्त्वाद्ययोगात् । अजो ह्येको जुषमाणो यो अजामनुशेते स तां जहत्ततोऽन्यः स्यात् इत्यात्मभेदाभिधानाच्च कापिलं मतं

प्रत्यभिज्ञायते । औपनिषदानामात्मैक्याभ्युपगमात्— इति
प्राप्ते, अभिदध्महे—

अनुवाचः पुंभेदां गुणवचनैर्गुणेषु लक्षणासन्ना ।

रूढार्थापरिहाराद्गौणी योगाद्वरा वृत्तिः ॥

अत्र तावदात्मभेदो बन्धमोक्षव्यवस्थार्थं लोकसिद्धोऽनू-
च्यते । लोकप्रसिद्धिश्च 'एको देव. सर्वभूतेषु' इत्यादिशास्त्र-
वाधिता न प्रमाणम् । तत्र लोहितादिशब्देर्वा प्रधानं गम्यते,
अजाशब्दाद्वा । नाद्यः, लोहितादिशब्दानां हि शुक्लादिशब्दवत्
गुणवचनत्वान् द्रव्येषु लक्षणा निरूढेति तेजोऽवन्नलक्षणा प्र-
त्यासन्ना ; रश्मिकत्वादिभिः सत्त्वादिलक्षणा साप्रतिकी तैरेव
व्यवहिता चेति विप्रकृत्यन्ते । नापि द्वितीयः, अजादिशब्दाद्धि
रूढोऽर्थः प्रथमं प्रतीतः ; स यदि वाक्यार्थे नान्वेति, ततः त-
द्रूपयोगादन्यत्र वृत्तावपि न लज्यते । तत्त्व्यागे तद्रूपस्या-
प्यलाभेन गुणवृत्तेर्लोपात् । योगं तु स त्यक्त इति स गौण्या
वृत्तेर्दुर्बलः । तथा च तेजोऽवन्नमपि अजंति वक्तुं शक्यम् ।
प्रधानं च 'यदमे रोहितं रूपम्' इत्यादिश्रुत्यन्तरश्रुतत्वात् तदे-
वेह प्राह्यम् । न प्रधानं मानहीनम् । यदापि यौगिको अजा-
शब्दः, तदा 'देवात्मशक्तिमपश्यन्' इति प्रकृतत्वात् भाषा
प्राया । तस्यां च प्रमाणवत्याम् एकवचनं जात्यभिप्रायमिति ॥

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावाद-
तिरेकाच्च ॥

‘यमिन्पञ्च पञ्च जना अकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्प्रज्ञामृतोऽमृतम्’ इति मन्त्रः सांख्यसंमततत्त्वपरः, उतार्थान्तरपर इति योगरुद्धयधिनिगमात्संशयः । पूर्वत्र अध्यात्मप्रकरणे रूढच्छागाया असंबन्धाद्वाक्यं च तत्सदृशतेजभादेरन्वयसंभवात् अजा तेजआदिकेत्युक्तम् । इहापि रूढमनुष्यग्रहं वाक्यस्य निस्तात्पर्यप्रसङ्गात् लक्ष्यमाणप्राणदेश्च वाक्येऽनन्वयान् अवयववृत्त्या सांख्यीयतत्त्वपरत्वम् । तथा हि—

रूढार्थस्याश्रितौ भ्याद्वच इदमफलं रूढवाच्यान्वितस्य

प्राणदैर्लक्षणायां भवति हि कलहः काण्वमाध्यन्दिनानाम् ।

तेनैषा पञ्चमंग्या जनवचसि ममामं प्रपदान्यसंख्या-

संपन्धात्सांग्यमिद्वान्गमयति नितरां पञ्चविंशत्युपार्थान् ॥

न तावदयं पञ्चजनशब्दो रूढ्या मनुष्यान्वक्तुमर्हति, पञ्च मनुष्या यस्मिन् प्रतिष्ठिताः इति वदतो वाक्यस्य निस्तात्पर्यप्रसङ्गान् । न च रूढमनुष्यसंबन्धस्य ‘प्राणस्य प्राणम्’ इति वाक्यशेषगतस्य प्राणादंः पञ्चकस्य जनशब्देन लक्षणा; तथा एते माध्यन्दिनानामग्रेण काण्वानां ज्योतिषा च पञ्चमंग्यापरिपूरणेन विरोधान् । न च विकल्पः; वस्तुनि सदयोगान् । तस्मात्सांगिकोऽयं पञ्चजनशब्दः— पञ्च च ते जनाभ्येति । जायन्त इति च जनाः तन्वानि । जायमानत्वं च दृण्डिन्यायेन जायमानात्रायमानेषु साधनिकम् । तैश्च पञ्चमंग्या-

विशिष्टैः आद्यपञ्चशब्दवाच्या संख्या संबध्यते इति न नोपस-
 र्जनन्यायः अत्रावतरति— संख्यया संख्यायाः संबन्धे हि स-
 म्यान्, न संख्येयेन संबन्धे; तस्य प्राधान्यात् । न च समान-
 पदोपात्तसंख्यावच्छिन्नत्वान् जनानां न संख्यान्तराकाङ्क्षा;
 संख्यान्तरस्थाकाङ्क्षया निराकाङ्क्ष्वपि जनेषु रक्तपटन्या-
 येन आकाङ्क्षोत्थापनान् । तस्मात्पञ्चजनाः प्रत्येकं पञ्च-
 संख्यायोगिनः पञ्चविंशतिः । सांख्यैश्च तावन्ति संख्या-
 तानि—‘मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
 षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः’ इति ।
 मूलत्वात्प्रकृतिरेव प्रधानम्; न विकृतिः । महदहंकारतन्मा-
 त्राणि सप्त प्रकृतयश्च विकृतयश्च; महानहंकारस्य प्रकृतिः
 मूलप्रकृतेरु विकृतिः । अहंकारस्तामसः प्रकृतिः पञ्चतन्मा-
 त्राणाम् । स एव मात्स्विकः प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणाम् । राज-
 मस्तु क्षोभयति परम्; न प्रकृतिः कस्यचिन् । स एवाहंकारो
 महतो विकृतिः । तन्मात्राणि शब्दादीन्यहंकारस्य विकृतिः,
 प्रकृतिराकाशादीनाम् । पञ्चभूतानि एकादशेन्द्रियाणि षो-
 ढशसंख्यावच्छिन्नो गणो विकार एव; न प्रकृतिः । तत्त्वा-
 न्तरपेक्षया च इह प्रकृतित्वम् । तथा च पृथिव्यादयो यद्य-
 पि षट्पादीनां प्रकृतिः, तथापि न तानि तेभ्यस्तत्त्वान्तरमिति
 न प्रकृतित्वमभिमतम् । पुरुषस्तु कूटस्थत्वान् न विकृतिः,
 अपरिणामित्वान् न प्रकृतिरिति । अत्र भूमदे—

नेह रक्तपटन्यायः समानेन विशेषणात् ।

उपासाया विकल्प्यत्वाच्छ्रुत्योरप्यविरुद्धता ॥

यदुक्तं पञ्चजनाः इति समासे कृते द्वितीयपञ्चशब्दान्वय इति, तन्न; तदा जनानामनाकाङ्क्षत्वात् । न हि पञ्चजनाः इत्युक्ते, पुनः कति- इत्याकाङ्क्षा भवति । न च रक्तपट- न्यायेनाकाङ्क्षोत्थापना; 'रक्तः पटो भवति' इत्यत्र हि पटो भवतीति वाक्यपर्यवसानसंभवेऽपि, रक्तत्वस्य भवतीत्येतस्मा- द्विजातीयत्वात् युक्तमाकाङ्क्षोत्थापकत्वम् । अत्र तु द्वितीयप- ञ्चसंख्याया समासान्तर्वर्तिसंख्यया समानजातीयत्वात् न आकाङ्क्षोत्थापकत्वम् । न हि रक्तो रक्तः पटः—इत्यत्राकाङ्- क्षोत्थापनम् । एवमिहापि पञ्चजनानां न पञ्चसंख्याकाङ्क्षि- त्वमिति संख्ययैव संख्याया अन्वयो वाच्यः । तत्र पञ्चशब्द एव तावच्छ्रुत्यादिशब्दवत् संख्येयं प्रत्युपसर्जनां संख्यामाह, विशेषतस्तु समासे संख्याया जनान्प्रत्युपसर्जनत्वात् । तथा च न उपसर्जनेन संख्यान्तरस्य संबन्धः, सामर्थ्यस्य नरपे- क्ष्यरूपत्वात्, संख्यान्तरसापेक्षसंख्यायास्तेनाकृष्यमाणाया ज- नैः सह समासायोगात् । एवं च योगासंभवे, रूढ्यर्थस्य च वाक्यार्थानन्वये, पञ्चजनशब्दो रूढ्यपरित्यागप्रवृत्तलक्षणया मनुष्यसंबन्धान् प्राणादीन् लक्षयति । ते च पञ्चैवेति न पञ्चविंशतितत्त्वानामिह प्रतीतिः । न च काण्वमाध्यन्दिन- श्रुत्योर्विरोधः, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्युक्तोपास्तौ अन्नज्यो- तिषोर्महाभित्तयोर्विकल्पेनोपास्यत्वात् । उपारितश्च साक्षात्का-

रार्थं कर्तव्यत्वेन प्राप्ता 'द्रष्टव्यम्' इत्यनूयते । सा च क्रियात्वाद्धिकस्त्वेन कर्तुं शक्येति ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदि-
ष्टोक्तेः ॥ ४ ॥

जगज्जन्मादिकारणे ब्रह्मणि समन्वयपर्यवसानाय कारण-
विषयवाक्यानामविरोध इह प्रतिपाद्यते । पर्यवसिते तु का-
रणे वेदान्तसमन्वये, कार्यविषयवाक्यानामितरेतरविरोधात्
परपक्षवत् स्वपक्षस्याप्यसमञ्जसत्वमाशङ्क्य, तेषामविरोधो
द्वितीयाध्याये प्रतिपादयिष्यते । एतदुक्तं सूत्रकारेण—'कार-
णत्वेन च' इति । यद्यपि कार्यश्रुतिविरोधः इहैव परिहर्तुं
शक्यते, तथापि कार्ये न वेदान्ततात्पर्यमिति गमयितुम् इह
न परिहृतम् । अभ्युपेत्य तु प्रतिपाद्यतां तत्र परिहरिष्यते ।
काचित्कस्य असच्छब्दस्य कर्मकर्तृप्रयोगस्य च असद्वादप-
रत्वं स्वभाववादपरत्वं च व्युदस्य गतिसामान्यव्यवस्थाप-
नात्पादमंगति । अथवा एतदारभ्य त्रीण्यधिकरणानि पादा-
न्तरमंगतान्यपि अवान्तरसंगतिलोभादिह लिखितानि । 'प्रकृ-
तिश्च' इत्यस्य तु अध्यायावसाने लेखने निमित्तं वक्ष्यते ।
'एतेन' इत्यस्यापि सर्वन्यायातिदेशत्वान् अध्यायावसान-
प्य निवेशः । जगत्कारणवादिवाक्यानि ब्रह्मणि प्रमाणं न
वा इति विप्रतिपत्तेः मंशये, पूर्वव अन्नज्योतिषोः विकल्पे-
नोपान्तौ निवेशादविरोध उक्तः । इह तु सिद्धे कारणे विक-

त्पायोगाद्विरोधे सति अप्रामाण्यम् । तथा हि—

वाक्यानां कारणे कार्ये परस्परविरोधतः ।

समन्वयो जगद्योनौ न सैत्स्यति परात्मनि ॥

‘सदेव सोम्येदमप्र आसीत्’ ‘तद्धैक आहुरसदेवेदमप्र आसीत्’ ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्’ इति कारणविषयाः श्रुतयो जगतः सद्धेतुकत्वं असद्धेतुकत्वं स्वयंकर्तृकत्वं च वदन्त्याः परस्परं विरुध्यन्ते । तथा ‘आत्मन आकाशः संभूतः’ ‘तत्तेजोऽसृजत’ ‘स प्राणमसृजत’ इति च प्राणादीनां प्रायमन्यमभिवदन्त्याः तथा क्रमे विवदन्ते । कचित्क्रमात्सृष्टिं प्राप्ति— ‘आत्मन आकाशः’ इत्यादि । कचिदक्रमान्— ‘स इमाँल्लोकानसृजत’ इति । कचिद्व्युत्क्रमान्— ‘एतस्माज्जायते प्राणः’ इत्यादि । तस्मात्कार्यविषयाणामपि श्रुतीनां परस्परविरोधः । तत्र कार्यविगानात्तद्विषयकारणं विगानम्— धूमानिश्चये धूमध्वजानिश्चयवन् । कारणविप्रतिपत्त्या च तद्वक्षितपरमात्मनि विप्रतिपत्तिः । तथा च कारणे तुरीये च परमात्मनि न वेदान्तानां समन्वय इति प्राप्ते, उच्यते—

सर्गक्रमविवादेऽपि न स ऋष्टरि विद्यते ।

यतस्त्वसद्ब्रह्मो भक्त्या निराकार्यतया कचिन् ॥

अन्यकर्तृकत्वस्वयंकर्तृकत्वाभ्यां सर्गे क्रमव्युत्क्रमाक्रमश्च विवादेऽपि ऋष्टरि विवादो न विद्यते ; यतः ‘अस्ति ब्रह्मेति चेद्देद’ इति प्रकृतं ब्रह्म ‘तदप्येव श्लोको भवति’ इति

तच्छब्देन परामृश्य 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इति श्लोकस्य
 उदाहृतत्वान् अमच्छब्दः अनभिष्वक्तिगुणात् सत्यपि प्रयुक्तः ।
 'असेदेवेदमग्र आसीत्' इति तु निराकार्यत्वेन असद्वादः
 अनूदितः, 'कथमसतः सज्जायेत' इति च निराकृतः । विम-
 तं सज्जन्यम्, कार्यत्वान् कुम्भवत्—इति मानान्तरबाधितश्च ।
 वक्ष्यमाणोऽपि कार्यश्रुतीनामविरोधः इह संक्षिप्य कथ्यते—
 तत्र न तावत्स्वयं कर्तृकत्वेन सर्गे विवादः, 'व्याक्रियत' इति
 कर्मकर्तृलकारस्य सत्येवान्यस्मिन्कर्तरि सौकर्यापेक्षत्वात् ।
 अत एव 'व्याक्रियत इत्यत्र आक्षिप्तस्य व्याकर्तुः 'स एष
 इह प्रविष्टः' इत्युपरि परामर्शो दृश्यते । न च क्रमे विगा-
 नम् । तथा हि—

अनेकशिल्पकुशलो देवदत्तः प्रथमं चक्रदण्डादि करोति,
 तदुपकरणश्च कुम्भम्, कुम्भापकरणश्चाहरत्युदकम्, उदको-
 पकरणश्च गोधूमकणिकाः संयवनेन पिण्डीकरोति, पिण्डोपक-
 रणश्च पचति घृतपूर्णम् ; तदत्र सर्वसैतस्मिन् देवदत्तस्य कर्तृत्वान्
 गम्यं वक्तुम्— देवदत्ताच्चक्रादि संभूतम्, तस्माच्चक्रादेः कु-
 म्भादीति, देवदत्तस्य सर्वत्र क्रमवत्यपि कार्ये साक्षात्कर्तृत्वान्,
 चक्रादेश्च कुम्भाद्युत्पत्ता द्वारत्वात् । तथेहापि यद्यप्याकाशादि-
 क्रमेणैव सृष्टिः, तथापि आकाशानिलानलादौ सर्वत्र परमेश्व-
 रस्य कर्तृत्वान् पूर्वपूर्वावान्तरप्रकृतित्वाच्च उत्तरोत्तरविकारस्य
 शक्यं वक्तुम्— ईश्वरादाकाशः मभूत इति ईश्वरादनिलोऽन-
 लभेति ; शक्यं भाषितुम्— ईश्वरादनिलः समजनि, अनिला-

दनल इति । यदि तु आकाशाद्वायुः वायोस्तेज इत्युक्त्वा,
तेजसो वायुर्वायोराकाश इति ब्रूयात्, भवेद्विरोधः; न चैतद-
स्ति । तस्मान्न व्युत्क्रमाभिधानविरोधः । नाप्यक्रमाभिधानवि-
रोधः, 'स इमाँल्लोकानसृजत' इति हि क्रमवतीमपि सृष्टि-
मक्रमेण वदति यथाक्रमात् ज्ञानानि जातानीति । तदिह श्रुते-
रभिधाव्यापार एव अक्रमः । अभिधेयानां तु कार्याणां ज्ञा-
नानामिव क्रमः स्थित एव ॥

श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम् ।

मद्भात्मैक्यपरत्वात् तासां तन्नैव विद्यते ॥

तेन कार्यविगानात्तद्धारगम्यं कारणत्वं यद्यपि तत्त्वतः
प्रमातुमशक्यम्, तस्यापि मायार्थानत्वेन कल्पितत्वात्;
तथापि सत्यज्ञानादिलक्षणमद्भाणि अविगानेन वेदान्ताः मम-
न्वीयन्ते इति सर्वमवदातम् ॥

जगंटाचित्यात् ॥ ५ ॥

कौपीतकिम्राज्ञणे थालाक्यजातशत्रुसंवादे भ्रूयते—'यो वै
बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म म वै वेदि-
तव्यः' इति । तत्र किं जीवो वेदितव्यत्वेनोपदिश्यते, उत
प्राणः, किं वा मध्येति मंशयः—'मद्भा ते मद्भाणि' इत्युप-
क्रमान् मद्भा भाति, उपरि च 'यस्य वैतत्कर्म' इति भ्रूयते;
तत्र कर्मशब्दभेदलनवचनः तर्हि प्राणः प्रतीयते; अट्टव-
चनत्वे च जीव इति श्रेया मंशयः । काचित्कहूरण्यगर्भमत-

द्योतककर्मशब्दस्य ब्रह्मानुगुण्यवर्णनात्पादसंगतिः । एक-
वाक्ये सच्छब्दादसच्छब्दो नीयताम् ; वाक्यभेदे तु न ब्रह्म-
शब्दात्कर्मशब्दो नेयः । यदा तु अत्राप्येकवाक्यत्वम्, तदा
यथा उत्तरसच्छब्दात्प्राचीनासच्छब्दो नीत एवमुत्तरस्मा-
त्कर्मशब्दात् प्राचीनब्रह्मशब्दो नेतव्य इति संगतिः । तत्र—

विरुद्धा गार्ग्यगी राज्ञा जीवप्राणोपवर्णनान् ।

वाक्यैक्येऽप्यविरुद्धार्थाद्विरुद्धार्था नियम्यते ॥

यद्यपि 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति प्रातजज्ञे बालाकिः, तथापि
प्रतिज्ञां न निर्वहति; अपि तु, य आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि
पुरुष एनमहं ब्रह्मोपासे इत्यब्रह्माभिदधातीति भ्रान्तोऽस्ती;
तस्मान् नैव तद्वाक्याद्ब्रह्मप्रमितिः । राज्ञा च 'यस्य वैतत्कर्म'
इति वदन् कर्मशब्दस्य चलने रूढत्वेन प्राणं कर्मसंबन्धितमाह;
अदृष्टलक्षणया वा अदृष्टकर्तारं जीवम्; न तु क्रियत इति
व्युत्पत्त्या कार्यभात्रस्य कर्तृ ब्रह्म कथयति । रूढौ स-
त्यां व्युत्पत्तेश्चरयोगान् । रूढ्यपरित्यागप्रवृत्तलक्षणाभ्युपेक्ष्य
तत्परित्यागप्रवृत्तयोगायोगाच्च । एवं वाक्यभेदे मति
नेह ब्रह्माधिगतिः । यदि तु बालाकिमब्रवाणि ब्रह्मा-
भिधायिनमपोष्य तदुक्ताद्विशेषं विवक्षोरत्रातज्ञानोऽब्रह्माभि-
धानमसंबद्धमिति मतम्, तर्हि तेन ब्रह्मैव वर्णनीयम्; न तु
वर्णयति; यतः पुरुषाणां कर्तृवैदनाद्योपेनाय बालाक्ये यष्टि-
पातोत्थापितं जीवमात्मत्वेन बोधयति । मति चेत् ब्रह्माभे-

दात् ब्रह्मोक्तम् । ये च प्रश्नप्रतिवचने 'कैपोऽशयिष्ट कुत एतदागात्' इति 'प्राण एवैकधा भवति' 'आत्मनः सर्वे प्राणादयो विप्रतिष्ठन्ते' इति च, ते च व्यष्ट्युपाधिकरणे समष्टिहिरण्यगर्भे प्राणात्मनि जीवे षटेते । तस्माज्जीवविशेषः प्राणात्मको हिरण्यगर्भः प्रतिपाद्यः । दालाकिस्तु व्यष्टिदेवतावादित्वाद्पोदितः । जीवमात्रं वा 'आकाशे शेते' इति प्रतिवचनान् निरूपितम्, न तु ब्रह्म; प्रागुत्तरीत्या जीवस्यैह प्रतिपाद्यत्वनिर्णयादिति; प्राणशब्दश्च सुपुंसः प्राणप्राधान्याभिप्राय इति प्राप्ते, अभिधीयते—

मृषावादिनमापोय दालाकिं ब्रह्मवादिनम् ।

राजा कथमसंबद्धं मिथ्या वा वक्तुमर्हति ॥

यद्यपि गार्ग्यो भ्रान्तः, तथापि न भ्रान्तो ब्रह्मोपक्रमः । 'महस्रमेतस्यां वाचि दद्यद्दे' इति ब्रह्मप्रस्तावस्य प्रशमितत्वेन ब्रह्मणि वाक्यस्य तात्पर्यावगमान् । तत्र—गथा केनचिन् मणिलक्षणज्ञमानिना काचो मणिरप्य वेदितव्य इत्युक्ते, तमन्यः काचोऽयं न मणिः तद्वक्ष्णरहितत्वादित्यभिधाय, कस्तर्हि मणिरिति जिज्ञासवे पूर्वमै यद्यत्त्वं वर्णयेन्, असंयद्धमुक्तं भवेन्; अस्मा वा मणिरिति वदता न पूर्ववादिनः आत्मनो विशेष आपादितो भवति, स्वस्यापि मृषावादित्यान्; तस्मादनेन मणितत्त्वमेव वक्ष्य्यम्— एवमजातशत्रुणा दालाके-रात्मनो विनेपे दर्शयता जीवप्राणाभिधानमसंबद्धं स्यात्;

अब्रह्मणोर्वा तयोर्ब्रह्मत्वाभिधानं मिथ्याभिधानं भवेत् इति ब्रह्मैवानेन वक्तव्यम् । तस्मात् 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इति ब्रह्मोपक्रमात्, 'सर्वान्पाप्मनोऽपहृत्य सर्वेषां भूतानां स्वाराज्यं पर्येति य एवं वेद' इत्युपसंहारान्, 'कैष एतद्बालाके' इत्यादिप्रश्नोत्तरस्य जीवाधारावधिभूतब्रह्मविषयत्वात्, हिरण्यगर्भस्य च सुषुप्तिस्थानस्य अप्रसिद्धेः, 'आकाशे शेते' इत्यत्रापि आकाशशब्दस्य 'आकाशस्तल्लिगात्' इति न्यायेन जीवसुषुप्त्याधारत्वलिगात् ब्रह्मविषयत्वान्, प्राणानामामन्त्रणेन प्राणस्याबोधं दर्शयित्वा यष्टिघातोत्थापनेन प्राणव्यतिरिक्तत्वप्रतिपादनाच्च वाक्यस्य जीवप्राणपरत्वाभावे निश्चिते, योगेनापि कर्मशब्दस्य क्रियमाणजगद्वाचित्वाद्धिधकतृब्रह्मपरं वाक्यमिति सिद्धम् ॥

वाक्यान्वयात् ॥ ६ ॥

शृङ्गारण्यके मैत्रेयीयाम्नवल्क्यसंवादे अर्थायते—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'आत्मनो दर्शनेनेद् सर्वं विदितम्' इत्यादि । तस्मिन् जीवपरम्, ब्रह्मपरं चेति संशयः, प्रियमसूचितभोक्तोपक्रमादात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपदेशाच्च । पूर्वत्र ब्रह्मोपक्रमात् तत्परत्ववन् इह जीवोपक्रमात्तत्परत्वमिति अवान्तरसंगतिः । कचित्मन्वयस्य जीवमात्रपर्ययसाननिवधेन ब्रह्मपरत्वसाधनान् पारसंगतिः । तत्र प्रियमसूचितभोक्तोपक्रमात्, मध्ये च 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानपत्र एवैभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय

तान्येवानुविनश्यति' इति ब्रह्मणो विज्ञानात्मभावेन समुत्थानश्रुतेः, अन्ते च 'विज्ञातारं केन विजानीयात्' इति विज्ञातशब्देन जीवाभिधानाजीवपरत्वम् । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानाभिधानं तु भोक्तृत्वात् भोग्यजातस्य गौणम् इति पूर्वः पक्षः ॥

सिद्धान्तस्तु प्रियोपक्रमात्प्रागेव 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन वित्तेन कुर्यां यदेव भगवानमृतत्वसाधनमात्मज्ञानं वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वोपक्रमान् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानाभिधानस्य च 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादिभिरुपपाद्यमानस्य गौणत्वायोगात् ब्रह्मपरत्वमस्य संदर्भस्येति । ननु प्रातर्दनवाक्य इव जीवब्रह्मलिङ्गसंदोहे सर्वात्मब्रह्मण्यन्तर्भवन्तो जीवधर्मा ब्रह्मपरतया योज्यन्ताम्; यदा सुषुप्त्युत्क्रान्त्याधिकरणोदाहृतज्योतिर्ब्राह्मण इव प्रसिद्धजीवानुवादेन अप्रसिद्धब्रह्मात्मत्वबोधनपरत्वमवधार्यताम्; तत्र कृतो जीवमात्रपरत्वशङ्का ! सत्यम्, तथापि—

भोक्तृताज्ञानृताजीवरूपोत्थानसमाधये ।

मैत्रेयीब्राह्मणे पूर्वपक्षेणोपक्रमः कृतः ॥

इह तावन् जीवमनूय ब्रह्मात्मना बोध्यते । तत्र जीवलिङ्गः— अनुवादाविधेययोर्भेदाभेदौ इत्यादिसरण्यादिमतं निराकृत्य काशकृत्स्नायमेतेन अभ्यस्तभेदेनानुवादात्त्वं जीवम्य, यस्तुत एकान्तिकमेकत्वमिति समाधये— जीवपरत्वपूर्वपक्षेणो-

पक्रममात्रं कृतम्, जीवब्रह्मभेदस्य मलत्वे ज्ञानात्तन्निवृत्त्य-
योगान्; ज्ञानान्मोक्षं वदन्ती श्रुतिः आश्चर्यादेर्न संगच्छते
इति ॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥

जन्मादिमूत्रे ब्रह्मण. कारणत्वमात्रमुक्तम्, तद्विशेष इह वि-
न्यते । यद्यपि तदनन्तरमिदमधिकरणमारब्धुं युक्तम्, त-
थापि निर्णीततात्पर्यवेदान्तनिमित्तत्वमात्रमाधकानुमानस्य
कालानौतत्वं धक्तुं शक्यमिति समन्वयाध्यायावसाने लिखि-
तम् । अप्रदर्शिते विषये समन्वयो दुष्टप्रतिपाद इति कारण-
त्वमात्रं तत्रोक्तम् । ब्रह्मकारणत्वमभ्युपेत्य विशेषविप्रतिपत्तिनि-
रासमाम्यान् पादसंगतिः । ब्रह्म जगतोऽधिष्ठातृकारणमेव
उत नपादानमपीति संशयः, 'म ईश्रां चक्रे' 'म प्राणमसृ-
जत्' इति ईश्रणपूर्वकर्तृत्वशुनेः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानो-
पदेशाच्च । पूर्वव प्रतिज्ञां मुख्यामाश्रित्य जीवपरत्वं वाक्यस्य
निरसम् । इह तु निमित्तोपादानभेदाद्रौणी मेति प्राप्नोति ।
तथा हि—

ईश्रापूर्वकर्तृत्वं प्रभुत्वममरूपता ।

निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचिन् ॥

ब्रह्म न द्रव्यप्रकृतिः, ईश्रितृत्वात्कर्तृत्वान्; स्वतन्त्रत्वादि-
ति यावन्; प्रभुत्वान् 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादिश्रुतिप्रमाणेन
ईश्वरत्वान्- गजवन् । सुखाद्युपादाने राजनि माध्यैकत्ववा-

रणार्थं प्रतिज्ञायां द्रव्यग्रहणम् । ब्रह्म न पृथिवीपकृतिः,
निर्गन्धत्वात्— अभाववन् इत्यादयश्च प्रयोगाः असरूपता—
इत्यनेन सूचिताः । कारणत्वमात्रपरागमापेक्षितविशेषसम-
र्पणात् नानुमानादागमबाध इति प्राप्ते, प्रतिविद्महे—

प्रकृतिश्च ब्रह्म न निमित्तमात्रम् ; प्रतिज्ञाया मृदादिरष्टा-
न्तानां च अनुपरोधात् । ननु प्रतिज्ञा ब्रह्मप्राधान्यपरा गौ-
णी— यथा सोमशर्माणि विदिते सर्वे कठा विदिता इति ;
न, यतः—

न मुख्ये संभवत्यर्थे जयन्त्या वृत्तिरिष्यते ।

न चानुमानिकं युक्तमागमेनापसाधितम् ॥

सर्वे हि तात्पद्मेदान्ताः पौर्वापर्येण वीक्षिताः ।

एकान्तिकाद्वैतपरा द्वैतमात्रनिषेधतः ॥

इंश्चिन्तत्वादिहेतवो हि आश्रयामिद्धाः ; पञ्चभ्य अप्रमिद्ध-
विशेष्यः, इंश्चरामिद्धेः ; न हि सोऽनुमेय इति वक्ष्यते । आग-
मात्तत्सिद्धिरिति चेन्, तर्हि स उभयकारणमीश्वरं गमयतीति,
पक्षे विशेष्यभूतस्य हेतुं प्रत्याश्रयभूतस्य च ईश्वरस्य माह-
केणागमेन विरोधादनुमानानुदयः । न च मुख्यसंभवे प्रति-
ज्ञा औपचारिका । अपि च अद्वैतमेव उपक्रमोपसंहारादौक-
रूप्येण वेदान्ताः अवगमयन्ति ; तदेव पर इयं प्रतिज्ञा प्र-
कृतिविकाराभेदेन समर्पयतीति तात्पर्यवत्त्वं न गौणी । न
च अन्या प्रकृतिः अन्यश्च विकारः इति द्वैतमाजहृनीयम्

यतो विकारत्वेन विवर्तत्वमुक्त्वा द्वैतमात्रं निषिध्यते । तस्मात्प्रतिज्ञा मुख्या । 'यतः इति पञ्चम्यपि जनिकर्तुः प्रकृतावपादाने विहिता । न चैषा हेतौ, हेतौ 'गुणवचनात्' इत्यधिकारेण जाड्यादृङ् इत्यादिगुणवचनेषु विहितत्वात् । तस्मात्प्रकृतिश्च ब्रह्मेति सिद्धम् ॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥

प्रधानस्य अशब्दत्वं शब्दविरुद्धत्वं चोक्तम् । तत् अणुस्वभावशून्यवादेष्वतिदिश्यते । 'अण्व्य इवेमा धाना भगवः' इत्यादिवाक्यम् अण्वादिकारणत्वपरम्, न चेति संशयः ; अण्कारणदृष्टान्तप्रदर्शकेऽस्मिन्वाक्ये अण्वादिशब्दप्रयोगात्, मृदादिदृष्टान्तैः सर्वकार्याभिप्रायैतत्सत्यत्वावगमाच्च । तत्र—

जगतः प्रकृतिर्ब्रह्म यदि स्यान्मृत्तिदर्शनात् ।

अण्वादयोऽपि किं न स्युर्वदधानानिदर्शनात् ॥

श्वेतकेतूराटकसंवादे हि श्रूयते—'न्यमोषफलमाहरेति इदं भगव इति भिन्दीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीति अण्व्य इवेमा धाना भगव इति आसामङ्गैकां भिन्दीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति तद् होवाच यं वै सोम्येदमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सोम्येषोऽणिम्र एवं महान्न्यमोषस्तिष्ठति ब्रह्मत्स्व सोम्य' इति । जगतः प्रागवस्थाया अयं दृष्टान्तः । पूर्वत्र च मृत्तिकादृष्टान्तान् प्रकृतिर्ब्रह्मेत्युक्तम् । तथात्र 'न किञ्चन' इति

वचनादाष्टान्तिके स्वभावशून्यवादौ प्रतिभातः अदृश्यमाना-
णुनिर्देशान् अणुवादश्च । अत एवावान्तरसंगत्यधिकशक्ते ।
सिद्धान्तस्तु—

मृदादयो हि दृष्टान्ताः प्रतिज्ञामनुरुन्धते ।
धानास्तामुपरुन्धाना भक्तिमार्गं प्रपेदिरे ॥

इह स्वत्वेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा प्रधानम् असदादि-
वादपक्षेषु न कल्पते । अतो 'न किञ्चन' इत्यनभिव्यक्तिः
'अणिम्रः' इति सूक्ष्मता च उक्तेति ॥

इति श्रीमत्परमहमपरिप्राजकाचार्यश्रीमद्भुमवानन्दपूज्य-
पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे
प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥
इति प्रथमोऽध्यायः ॥



द्वितीयोऽध्यायः ॥



स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्य-
स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

चेतनब्रह्मजगदुपादानवासिसमन्वयस्य सांख्यस्मृत्या अस्ति
संकोचः, न वा इति संशयः; श्रुतिस्मृत्योः सर्वज्ञभाषितत्व-
मामान्यात् बलाबलानवधारणान् । अत्र,

सर्वज्ञभाषितत्वेन श्रुतेः स्मृत्याविशेषतः ।

भावकाशश्रुतेः स्मृत्या संकोचोऽनवकाशया ॥

यथा कपिलबुद्धिपूर्वकं तन्त्रमिदम्, एवं ब्रह्मबुद्धिपूर्वको
वेदः । ततश्च स्मृतेः न दार्ढ्यम । वेदस्तु अनुष्ठेयोपदेशे साव-
काशः, स्मृतिः प्रधानादन्यत्र अनवकाशा इति चेतनस्य जग-
दुपादानत्वं जगदुपादानप्रधानस्वामित्वात् उपचर्यते इति
प्राज्ञे, अभिधीयते—

पूर्वक्रमानुरोधेन ब्रह्मणो वेदनिःश्रुतिः ।

स्मृतिः कर्षणतो जाताः तद्देशोत्प्रेक्षितक्रमात् ॥

यथा नृत्यं कुर्वन्त्यपि नर्तकी नर्तकदर्शितक्रमेणैव नृत्यति
न म्यतश्चा, एवं ईश्वरः प्राचीनस्वकृतक्रममनुरूप्य वेदं वि-

रचयति इति न स्वतन्त्रः । क्रमोपगृहीतवर्णात्मा च वेदः
 अर्थप्रत्ययकरः । तेन संस्कारारूढनियतक्रमो वेदः तदर्थश्च
 युगपदीश्वरज्ञाने परिस्फुरति । एवं च न वेदकरणे वेदार्थज्ञानं
 हेतुः ; क्रमवत्संस्कारारूढवेदं स्मृत्वा तादृशवेदरचनसंभवात् ।
 एतच्च वेदस्य कर्तृस्मरणमन्तरेण तदर्थानुष्ठानदर्शनात् निःश्व-
 सितश्रुतेश्च अवगम्यते । ततश्च स्वतः प्रमाणं वेदः । कपिलः
 स्मृत्यर्थं ज्ञात्वा अभिनवक्रमस्मृतिं निरभिधीत इति, स्मृति-
 प्रामाण्याय यावन्मूलभूतं प्रमाणं परीक्ष्यते, तावत् स्वतः-
 प्रमाणभूतया श्रुत्या स्वार्थो विनिश्चीयते इति, तद्विरुद्धा स्मृतिः
 प्रयत्नप्रमाणबाधितविषयत्वान् भ्रान्त्यादिमूलत्वेन सावकाशा
 इति ॥

स्मृतिविप्रतिपत्तौ च कस्यमूला हि कापिली ।

प्रत्यक्षश्रुतिमूलाभिः स्मृतिभिर्बाधमर्हति ॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ २ ॥

श्वेतनजगदुपादानत्ववादिवेदान्तानां प्रधानं यास्तवम् ईश्व-
 राधिष्ठितं जगदुपादानम् इति वदन्त्या योगम्मूला मन्त्रोपसं-
 देहे, पूर्वपक्षसिद्धान्तौ भतिदेशत्वान् पूर्ववन् । भाष्यविका-
 राणां तु,

श्रुतिसंवादात्तः सम्पत्काले योगोपयोगतः ।

मानं योगे स्मृतिर्वा वा प्रधाने कथमप्रमा ॥

‘तां योगमिति मन्यन्ते’ इति श्रुतेः योगशास्त्रविहितं ब-
हिरङ्गं यमादिकम् अन्तरङ्गं च धारणादिकं ब्रह्मज्ञानमपेक्षते
इति प्रमाणं योगस्मृतिः । न च सा तत्र प्रमाणम्, अप्रमाणं
च प्रधाने इति युक्तम्; एकत्र प्रसरन्त्याः अप्रमाणतापि-
ज्ञाच्याः सर्वत्र प्रसरन्ति । ‘प्रसरं न लभन्ते हि यावत्कचन
मर्कटाः । नाभिद्रवन्ति ते तावत्पिशाचा वा स्वगोचरे’ इति
न्यायान्— इति प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रधानादावतात्पर्यादप्रमाणमपि स्मृतिः ।

तात्पर्यविषये योगे प्रमा विध्यर्थवादवत् ॥

सूक्ष्मे आत्मनि चित्तनिवेशाय प्रधानाद्यनादि पूर्वपक्षा-
मामौत्येभित्तं चित्तनिवेशभूमित्वेन अनुसृते योगशास्त्रे । अत
एव योगशास्त्रकृतो ब्रह्मन्ति— ‘गुणानां हि परं तत्त्वं न
दृष्टिपथमृच्छति । यत्तु दृष्टिपथं प्राप्ते तन्मायैव सुबुद्ध्यकम्’
इति । अतः प्रधानादौ न योगशास्त्रस्य तात्पर्यम्; किं तु
योगे । न च अतात्पर्यविषयाप्रामाण्यं तात्पर्यगम्यार्थेऽपि
अप्रामाण्यमावहति; सा हि मूढप्रथवादाः स्वाभिधेयेषु प्रजा-
पतिवपौत्स्यननादिषु अप्रमाणमिति सूपरपञ्चादिस्तुतावपि अ-
प्रमाणम् । अत एव न स्मृत्येकदेशस्य प्रधानादावप्रामाण्यं
योगेऽपि एकदेशान्तराप्रामाण्यशङ्का; अर्थवादानां स्वाभि-
धेयव्यवसायार्थेऽपि विधीनां प्रामाण्योपलम्भान् । अवान्तर-
वाक्यानामिह स्वार्थबोधेऽनपेक्षत्वान् वाक्यान्तराप्रामाण्ये-

ऽपि न वाक्यान्तरस्य प्रामाण्यमुपहन्यते । न च देवविप्र-
हादिवत् अतस्परस्मृत्यापि प्रधानादि प्रमेयम्; ब्रह्मोपादान-
त्वक्षुतिविरोधात्, अविरोधाच्च विप्रहादौ । तस्मात् योग-
स्मृतिः अमानं प्रधानादौ, मानं च योगे इति ॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च

शब्दात् ॥ ३ ॥

चेतनोपादानजगद्धादिसमन्वयस्य, गगनादि न चेतनप्र-
कृतिकम्, द्रव्यत्वात्, पटवत्— इत्यनुमानेन संकोपसंदेहे,
वेदविरुद्धस्मृतेः मूलाभावादमानत्वमुक्तम्; अनुमानमूलं तु
व्याप्तिपक्षधर्मते लोकसिद्धे; अतः अनुमानैः समन्वयः सं-
कोचनीयः इत्युत्तराधिकरणसंदोहस्य स्मृत्यधिकरणेन संग-
तिः । वेदविरुद्धार्थस्मृतेः वेदवैलक्षण्यात् अतन्मूलत्ववत्
ब्रह्मवैलक्षण्यात् जगदपि अतन्मूलमिति निरन्तरसंगतिः ।
तथा हि—

प्रकृत्या सह सारूप्यं विकाराणामवस्थितम् ।

जगद्ब्रह्मसरूपं च नेति नो तस्य विक्रिया ॥

विशुद्धं चेतनं ब्रह्म जगद्ब्रह्मशुद्धिमाह ।

तेन प्रधानसारूप्यात्प्रधानस्यैव विक्रिया ॥

शुभाहुःत्वमोहात्मकतया जगद्ब्रह्मचेतनं च । ब्रह्म तु
तद्विपरीतमिति सरूपप्रधानप्रकृतिकं जगत् । प्रयोगश्च—

ब्रह्म न आकाशोपादानम्, चेतनत्वान्- जीववन् । औपाधि-
कर्जावस्य आकाशोपादानत्वस्य सिद्धान्तेऽप्यनिष्टत्वान् ससा-
ध्यः मयम्नः । आकाशो वा न चेतनप्रकृतिकः, द्रव्यत्वान्-
घटवन् । सुखदुःखमोहा वा जगदुपादानवर्तिनः, सकलजग-
दनुगतत्वान्- मत्तावन् । घटत्वादौ व्यभिचारवारणाय
मकलप्रहणम् ॥

सिद्धान्तस्तु—

मवात्मना हि सारूप्ये प्रकृतीतरतादृतिः ।

ब्रह्मत्ता जगत्प्रति किञ्चित्सारूप्य आश्रिते ॥

चेतनताया विरहाद्ब्रह्मोपादानतानिषेधे च ।

जगतोऽसाधारणता हेतोर्दृष्टान्तवैकल्यात् ॥

जगन् न ब्रह्मप्रकृतिकम्, अचेतनत्वान् इत्युक्ते कार्यस्य
मवेस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वस्वीकारान् तन्मध्ये नास्ति दृष्टान्तः ।
ब्रह्मस्य ब्रह्मप्रकृतिकत्वेन मयम्नत्वान् तत्र च हेतोर्प्रवेशान्
असाधारणता । प्रथमानुमाने च चेतनस्य सतः आकाशादु-
पादानतायां संमारित्वमुपाधिः । द्वितीये च मयम्नः साध्य-
विच्छेदः; पटस्यापि तन्त्वापन्नब्रह्मप्रकृतिकत्वस्य अस्माकमिष्ट-
त्वान् । तृतीये च कार्यत्वादिभिरनेकान्तः, तेषां सकलजगद-
मित्वान् प्रकृतावृत्तेभ्यः ॥

एतेन जिष्टापग्निग्रहा अपि

व्याख्याताः ॥ ४ ॥

अनवच्छिन्नब्रह्मणोऽवच्छिन्नकार्यं प्रत्युपादानत्वश्रुतेः, उ-
पादानात् कार्यं महत्परिमाणम् इत्यनुमानेन संकोचसंदेहे,
अतिदेशत्वादुपदेशवत् संगतिः । यथा हि वेदविपरीतत्वात्
सांख्यादिस्मृतिरतन्मूला, एवं ब्रह्मोपादानवैपरीत्यात् जग-
दपि अतन्मूलम्, तन्मूलत्वे हि ततो महत्त्वात् नाल्पम्-इ-
त्येवैव च अधिकाशङ्का । तथा हि—

उपादानस्य तन्त्वादेः पटादेर्न्यूनता यतः ।

जगन्मूलं ततो न्यूनपरिमाणं प्रतीयते ॥

पटमारभ्य यावन्नसरेणु महान्तो अवयविनः ततस्ततो
न्यूनपरिमाणरूपादानैः आरभ्यन्ते । त्रसरेणुश्च सावयवः,
चाक्षुषद्रव्यत्वात्, षटवन् । यश्च त्रसरेण्ववयवः, तदणुकम् ।
तथा त्रसरेण्ववयवाः सावयवाः, महान्तं प्रत्यवयवत्वात्,
तन्तुवत् इति द्वयणुकावयवपरमाणुमिद्धिः । न च सख्यापि
मूलत्वादिना सावयवत्वमनुमेयम्; तथा मति तदवयवाना-
मपि नावयवत्वापत्तां सुमेरुराजमर्षयोः अनन्तावयवार-
ब्धत्वात् समपरिमाणत्वप्रसङ्गात् । तस्मात् न ब्रह्मोपादानं
जगत् इति । तत्राभिदध्महे—

शिष्टेष्टापि स्मृतिर्माध्या यदा वेदविरोधतः ।

का कथा उत्परित्यक्ते मते वेदापमाधिते ॥

आरम्भेऽल्पान्मद्जन्म विवर्ते नियमो न हि ।

भूस्यस्य गिरिवृक्षेषु दूर्वात्वागोपदर्शनात् ॥

यत्तु त्रसरेण्वयवसावयवत्वानुमानम्, तत्र महत्त्वमु-
पाधिः । अस्तु वा अनेन परमाणोर्निरवयवत्वम्, तथापि न
नित्यत्वम्; त्रसरेणुः कार्यावयवावयवः, महत्कार्यत्वात् घट-
वन्-इति परमाणोः कार्यत्वानुमानात् । स्यादेतत्; कार्यद्रव्यं
चेत्परमाणुः, तर्हि मावयवः स्यान् घटवन्; तथा च अवय-
वानवस्थायां सुमेरुसर्पपरिमाणसाम्यापातः इति; तन्न, अयं
घटः एतदन्यमावयवत्वरहितकार्यद्रव्यान्यः, प्रमेयत्वात् घट-
वन्-इति मिद्वे निरवयवकार्यद्रव्ये, अस्य तर्कस्य मूलशैथि-
न्यान् । तथा च निरवयवोऽपि परमाणुः श्रुत्यवगतनित्यत्वान्
मूलकारणान् ब्रह्मणः उत्पद्येत इति ॥

भोक्त्रापक्षरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥

अद्वयब्रह्मणो जगत्सर्गवादिसमन्वयस्य भेदमाहिमानवि-
रोधमद्वेहं, निरन्तरपूर्वाधिकरणस्य अतिदेशत्वेन उपदेश-
मापेक्षत्वान् न तेनास्य संगतिरिति उपदेशभूतेन 'न विल-
भगत्वान्' इत्यनेन संगतिः उच्यते— तत्र हि जगत्कारणे
तर्कोऽप्रतिष्ठित इत्युच्यम्; तर्हि जगद्भेदे स प्रतिष्ठित इति
तेन भुतेर्भुगनिरोधान् अद्वैतविरोधः । तथा हि—

भिन्नाभ्यां भोक्तृभोग्याभ्यामभेदे ब्रह्मभिन्नता ।

तस्मात्तयोः भेदे च स्यादभेदः परस्परम् ॥

तत्र भेदमाहिप्रत्यक्षस्य निरवकाशत्वान् अद्वैतभुतिः स-

ताजात्यैक्यात् उपचारेण जगद्द्वैतबोधिका । शब्दस्य ह्युप-
चारः संभवति, न प्रत्यक्षस्य— इति प्राप्ते, अभिधीयते—

अव्यभिन्नतरङ्गादेरितरेतरभेदवत् ।

ब्रह्माभेदेऽपि भेदः स्यादन्योन्यं भोक्तृभोग्ययोः ॥

ये हि केनचिद्रूपेणाभिन्नाः ते परस्परमपि अभिन्ना इति न
व्याप्तिः, समुद्रतरङ्गादौ व्यभिचारादिति ॥

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ ६ ॥

अङ्गीकृत्य भेदप्राहिप्रत्यक्षादेः प्रामाण्यं भेदाभेदयोः कार्य-
करणात्मरूपभेदेन विरोधो वेदान्तानां परिहृतः । इदानीं
तु स्वीकृतं तत्प्रामाण्यं तत्त्वावेदकत्वपर्यन्तम् उत्सृष्टम् ; अतः
तदपवादेन व्यावहारिकत्वे व्यवस्थाप्यते । तत्त्वावेदकत्वे च
प्रत्यक्षादेः, तद्रम्यप्रपञ्चस्य सत्यत्वात् जगद्द्वैतविरोधः, व्या-
वहारिकत्वे तु नेति । तत्र प्रत्यक्षादि तत्त्वावेदकं न वा इति
प्रत्यक्षादिप्रामाण्यात् वेदान्तप्रामाण्याच्च संशयः । तत्र पूर्वा-
धिकरणे भेदाभेदसमाश्रयणेन यद्विरोधसमाधानं कृतम् एक-
देशिना, तदेव पूर्वपक्षीकृत्य इह निरस्यते । तथा हि—

वेदान्तेर्मानतायां समतुलिततया कर्मकाण्डाक्षजादेः

सत्याच्छ्रुत्याद्युपायादवितथपरमब्रह्मधीसंभवाच्च ।

सत्यत्वादीशतायाः श्रुतिषु परिणतोदाहृतेर्वेदगीते-

रद्वैतस्याप्यभिन्नं भवति च परमं ब्रह्म भिन्नं प्रमाणात् ॥

यदि हि एकमेव वस्तु, ततो नानात्वाभावात् वैदिकः कर्मकाण्डविषयो विधेयनिषेध्यादिभेदो वाच्येत; लौकिकश्च भेदः प्रत्याक्षादिप्राप्तं लक्ष्येद्येत । न च तद्युक्तम्, अनाभिधानधिगतासंदिग्धविज्ञानसाधनत्वस्य प्रमाणसामान्यलक्षणस्य प्रत्यक्षादीनां कर्मकाण्डस्य च वेदान्तैरविशेषात् । इतरथा वैदिकदेशकर्मकाण्डवत् वेदान्तानामपि अप्रामाण्यप्रसङ्गात् । ऐकान्तिकाद्वैतं च वर्णपदवाक्यप्रकरणादीनाम् अलीकत्वात् तत्प्रभवमद्वैतज्ञानम् असमीचीनं भवेत्— घूमाभासजन्यबद्धिबुद्धिवत् । जन्मादिसूत्रोक्तेश्वरत्वस्य सत्यत्वात् सत्यमीशितव्यमन्तरेण तदनुपपत्तेः । ब्रह्मकारणत्वे च 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विशातं स्यात्' इत्यादिना परिणामीनां मृदादीनां दृष्टान्तत्वेनाभिधानान् दार्ष्टान्तिकमपि ब्रह्मपरिणामीति गम्यते । एतद्वैतुभिः भेदः सत्यः । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिवाक्यैः अद्वैतभाषि अवगतम् । अतः मिथ्याभिन्नं ब्रह्म प्रमाणाभिष्टमिति न विरोध इति प्राप्ते, कभिधीयते—

तत्त्वं भूत्सुपपत्तिमित्यपगतं द्वैतस्य तद्वाद्भिः

प्रामाण्यं व्यवहारकारिष्वप्यं मिथ्यापि मद्गोचकम् ।

मायायन्तुरपीश्वरस्य मुक्ततः कूटस्थताप्रानतो

दृष्टान्तैः परिणामधीर्धम इति ब्रह्मैकमेकान्ततः ॥

'वेनापुनं भूतम्' इत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं

प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये श्रुत्या दृष्टान्त उच्यते— 'यथा सो-
म्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो
नामधेयम्' वाचा आरभ्यते परं वक्तुं विकारः, न तु
तत्त्वतोऽस्ति; यतः नामधेयमात्रमेतत्— यथा राहोः शिर
इति; यथाहुः— 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'
इति; 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति— एवं मिथ्याभूतस्य कार्य-
स्य कारणमेव तत्त्वम्; तत्त्वज्ञानं च ज्ञानम्; अतोऽन्यान्मि-
थ्याज्ञानमिति कारणज्ञानात् कार्यतत्त्वज्ञानसिद्धिरिति । परि-
णामाभिप्रायत्वे तु श्रुतेः, कार्यस्यापि सत्यत्वात् 'मृत्तिकेत्येव
सत्यम्' इति कारणस्यैव सत्यत्वावधारणमयुक्तं स्यात् । ततश्च
परिणामदृष्टान्तश्रुत्यर्थापत्त्या परिणामकल्पना निरस्ता; तस्याः
'मृत्तिकेत्येव' इत्येवकारश्रुतिविरुद्धाया अनुदयात् । परि-
णामस्वीकृतौ च भेदः सत्य इति तस्य न अभेदस्तत्त्वम् ।
ततश्च अभेदज्ञानेऽपि भेदो न ज्ञातः स्यात् । तथा च प्रधा-
नस्य प्रतिज्ञाया अनुरोधेन गुणभूतदृष्टान्तो वक्ष्यमाणयुक्तीर-
पेक्ष्य विवर्तपरतया ज्ञेयः । 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं नि-
रवद्यं निरञ्जनम्' इति परिणामस्यापि क्रियायाः साक्षात्प्र-
तिषेधात् अर्थापत्त्यनुदयः । 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति
कारणे ब्रह्मणि प्राप्तस्य कार्यस्य तत्रैव प्रतिषेधात्— शुक्तौ
निषिद्धरजतस्यैव मिथ्यात्वमवगम्यते । युक्त्यापि कार्यस्य
कारणव्यतिरेकेण अभावोऽवगन्तव्यः— कार्यस्य सत्त्वं
स्वरूपम् धर्मः, तत्त्वान्तरं वा । नाद्यः, सत्त्वभावस्य असत्त्व-

विरोधात् । न हि जातु घटः पटो भवति । न द्वितीयः,
यथा सत्त्वं घर्मः तथा असत्त्वमपि कार्यस्य घर्म इति सत्त्वा-
सत्त्वयोः कार्यं दण्डायेत । तथा च नित्यस्य कार्यत्वं न
भवेत् । न तृतीयः, तत्त्वान्तररूपासत्त्वे जातेऽपि का-
र्यस्याक्षतेः । कार्यविरोधि तदिति चेत्, विरोधिना तेन
कार्यस्य किं क्रियते ? असत्त्वमिति चेत्, तर्हि तदप्य-
सत्त्वं तेषां विकल्प्य दूष्यम् । अथ कार्यस्यासत्त्वं न
भवति, किं तु कार्यमेवासद्भवतीति— तत्र वक्तव्यम्—
किं भावात्मकस्य अभावमात्रत्वम्, उत अभावस्य भावमा-
त्रता ? पूर्वत्र कार्यव्यवहारः प्रलीयेत ; उत्तरत्र अभावत्रावां
उच्छिद्येत इति भावाद्भेदापात इति । प्रयोगश्च— पटत्वं
तन्तुनिष्ठम्, पटगतत्वात् सत्तावदिति । तदश्च पटस्य तन्तु-
व्यतिरेकेण अभावः । एवं सर्वत्र । तदेवं कार्यस्य कारण-
व्यतिरेकेण तत्त्वतो असत्त्वं युक्तिसिद्धं श्रुत्या दृष्टान्तितम्
‘मृत्तिकेत्येव सत्यम्’ इति । तच्च दार्ष्टान्तिकेऽपि जगति
अनुसंधेयम् । तथा जीवानामपि ब्रह्माव्यतिरेकः । ते तु
स्वरूपेण सत्याः— घटाद्याकाशानामिव महाकाशाद्भेदमा-
त्रमारोपितम् ; ‘तत्त्वमसि’ इति श्रुतेः । जीवत्वं ब्रह्म-
निष्ठम्, जीवनिष्ठत्वान् सत्त्ववत्— इत्यनुमानाच्च । एवं श्रुति-
युक्त्यवगते कार्यस्यातात्त्विकत्वे, तद्भेदमाहिप्रत्यक्षादेः अर्थ-
क्रियासमर्थवस्तुविषयत्वे याथाभावात् तादृशवस्तुपरिच्छेद-
कत्वमेव प्रामाण्यम् । न हि कुम्भादेरुदकाहरणादिहेतुत्वं

प्रत्यक्षादिसिद्धं वाध्यते । कर्मकाण्डस्यापि तादृशमेव प्रामा-
ण्यम् । न हि तद्वगतस्वर्गसाधनभावं यागमनुतिष्ठतो न
स्वर्गो भवति । तथा मिथ्यापि वर्णदैर्घ्यम् अगमनभागमनम्
इत्यादिप्रयोगभेदेषु सत्यबोधकं दृष्टम् । ईश्वरत्वमपि अनिर्वा-
च्यमायातत्कार्यनियन्वृत्वाहुपपन्नं न प्रपञ्चसत्यतां कल्प-
यति ॥

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोष-

प्रसक्तिः ॥ ७ ॥

जीवाभिन्नं ब्रह्म जगदुपादानमिति वदन् समन्वयः, यदि
तादृशं ब्रह्म जगज्जनयेत् तर्हि स्वानिष्टं न सृजेत्—इति न्यायेन
विहभ्यते न वा इति संशयः । पूर्वत्र कार्यकारणानन्यत्ववत्
घटाकाशकल्पजीवानां महाकाशोपमब्रह्मैक्यमुक्तम्; तन् हि-
ताकरणायनुपपत्तिभिः आक्षिप्यते । तथा हि—

सर्वज्ञब्रह्मणो जीवैरभेदं स्वस्य पश्यतः ।

जीवाहितक्रिया स्वार्था त्यादेषा हि न युज्यते ॥

यद्यपि जीवा अविद्यावत्त्वात् परमात्मभावमात्मनो ना-
नुभवन्ति, अद्वितमपि हि भ्रमेण कुर्वन्ति, तथापि तान् पर-
मात्मा स्वस्मादभिज्ञान् अनुभवति; इतरथा सर्वज्ञत्वव्याधा-
त्तात् । तथा चायं जीवान् वधन् आत्मानमेव वध्नीयात् ।
तस्मात् दुःखबहुलं जगन् न चेतनकारणकम् इति प्राप्ते,
अभिधीयते—

अवस्तु जीवसंसारस्त्रेण नास्ति मम क्षतिः ।
इति पश्यत ईशस्य न हिताहितभागिता ॥

परमात्मनो दर्शनक्रियाश्रयत्वाभावेऽपि स्वरूपप्रकाश एव
तत्तद्विषयोपरक्तः तं तं यथास्थितमवभासयति ; अतः पश्यतः
इति निर्देशः ॥

उपसंहारदर्शनात्वेति चेन्न क्षीरवद्वि ॥ ८ ॥

ब्रह्म नोपादानम्, असहायत्वात् संमतवत् इति न्यायेन
ममन्वयस्य विरोधसंदेहे, पूर्वत्र औपाधिकजीवब्रह्मभेदात्
हिताकरणादिदोषः परिहृतः ; इह तु उपाधितोऽपि विम-
लमधिष्ठात्रादि नास्ति, ईश्वरनानात्वाभावात् ; ततश्च विवि-
त्रकार्यानुपपत्तिः । तथा हि—

नानाजातीयकार्याणां क्रमाज्जन्म न संभवि ।

एकस्माद्विद्वितीयाश्च ब्रह्मणस्तव संमतात् ॥

कारणवैजात्यं हि कार्यवैजात्ये हेतुः, क्षीरबीजादिकार-
णमदान् दृष्यद्वुरादिकार्यवैजात्यदर्शनात् । तत्र तु एकस्मा-
द्ब्रह्मण एकजातीयमेव कार्य जायेत । तच्च एकजातीयं सर्वं
युगपदुत्पद्येत, अक्रमात्कारणान् कार्यक्रमायोगात् ; समर्थस्य
विलम्बानुपपत्तेः । न च सहकारिसंनिधानक्रमान् कार्य-
क्रमः, अद्वितीयत्वान् ब्रह्मणः सहकारिममवधानासंभवात् ।
तस्मान् एकमद्वितीयं ब्रह्म न जगदुपादानम्, व्याघातादिति

प्राप्ते, उच्यते—

अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तत्स्वाधिद्यासहायवत् ।

नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः ॥

किं तत्त्वतोऽनुपादानत्वम् आपाद्यम्, उत अतत्त्वतः ।
 आवो इष्टप्रसङ्गः । द्वितीये तु कल्पे यदि कुलालवत् स्वध-
 र्मत्वेनानन्तर्भूतात्पन्तव्यतिरिक्तसहकार्यभावादनुपादानत्वम्,
 ततः क्षीरादिभिर्व्यभिचारः । तेऽपि हि शास्त्रात्स्वनाशनपेक्षा
 एव कालपरिपाकवशेन परिणमन्ते । अथ अन्तरङ्गधर्मभूत-
 सहकार्यभावो हेतुः, सोऽसिद्धः, अविद्याविपर्ययकृतस्य धर्म-
 स्य संभवात् । तद्वशाच्च स्वप्नवत् ब्रह्म नानाजातीयं कार्यं
 जनयिष्यति । अविद्यागतशक्तिवैचित्र्याच्च कार्यक्रमः सं-
 भवी । एकस्मादपि बह्वैः दाहप्रकाशादीनाम्, एकस्माच्च
 कर्मणः संयोगविभागसंस्काराणामुदयाच्च अनेकान्तं कारणै-
 कत्वं कार्याभेदे । यदि चैतनत्वे सति एकं न अनेकहेतुरिति,
 ततो देवादिभिर्व्यभिचारः; तेषामपि अन्यत्र कल्पसहका-
 रिनिरपेक्षाणां नानाविधभासादाद्युत्पत्तौ अधिष्ठातृत्वस्य मन्त्रा-
 र्थवादादिषु दर्शनात् । अत्र च क्षीरदृष्टान्तेन असहायस्यो-
 पादानत्वं दर्शितम् । समर्थितं देवादिदृष्टान्तेन असहायस्य
 अधिष्ठातृत्वमिति ॥

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्द-

...कोपो वा ॥ ९ ॥

निरवयवाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवतः समन्वयस्य, सावयव-
म्यैव नानाकार्योपादानत्वम् इति न्यायेन विरोधसंदेहे, पूर्वा-
धिकरणोक्तक्षीरदृष्टान्तात् परिणामि ब्रह्मेति भ्रमे जाते, स
निरस्यते ।

कात्स्न्येन कार्यभावामौ ब्रह्मानित्यं प्रसज्यते ।
एकदेशेन तत्प्राप्तौ ब्रह्म सावयवं भवेत् ॥

सिद्धान्तस्तु—

मायाभिर्बहु रूपत्वं न कात्स्न्यान्नापि भागतः ।
इति निर्भागता कार्यभावाभ्योरविरुद्धता ॥

मयोपेता च तद्दर्शनात् ॥ १० ॥

मायाशक्तिमद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवतः समन्वयस्य, न माया
अशरीरस्य इति न्यायेन विरोधो अस्ति न वेति संदेहे,
अन्तर्याम्यधिकरणे अविद्योपार्जितत्वसंबन्धे जगद्ब्रह्मणोः सिद्धे,
शरीररहितस्यापि नियन्तृत्वसंभव उक्तः ; इह तु अशरी-
रस्य न माया संभवति इत्याक्षिप्यते—

ये हि मायाविनो लोके ते सर्वेऽपि शरीरिणः ।
अशरीरस्य मायित्वं न व्यापकनिवृत्तितः ॥

सिद्धान्तस्तु—

मायाहेतुमृते यद्वन्मायया कार्यकारिता ।
ऋतेऽपि देहं मायैवं ब्रह्मण्यस्तु प्रमाणतः ॥

मायाविनो यद्यपि शरीरिणः, तथापि बाह्यसाधनान्तपेक्षाः कार्याय प्रभवन्ति । कुलालादयस्तु न । यथेदं वैचित्र्यम् एवं शरीरेण विनापि माया ब्रह्मण्यस्तु । यदि पुनरन्यत्र दृष्टं शरीरित्वं मायावित्वेन ब्रह्मणि साध्येत, तर्हि कुलालादिषु दृष्टं बाह्यहेत्वपेक्षित्वं कर्तृत्वेन मायावित्त्वप्यापाद्येत । तेषु बाह्यहेतुमन्तरेण मायया कर्तृत्वप्रतीतेः नानुमानमिति चेत्, तर्हि ब्रह्मण्यपि शरीरमन्तरेण मायाशक्तिमत्त्वं प्रमीयते, 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते परास्य शक्तिर्विविधैश्च श्रूयते' इति समानम् ॥

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ११ ॥

परितृप्ताद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य, प्रद्य न विना प्रयोजनं सृजति, अभ्रान्तचेतनत्वात् संभवत् इति न्यायेन विरोधसंदेहे, पूर्वत्र मायया कारणत्वं ब्रह्मण इत्यम्; तदेव प्रयोजनमन्तरेण न संभवति; मायाविनोऽपि कार्य-निर्माणस्य कौतुकप्रदर्शनेन दृष्टलाभादेः प्रयोजनस्य दृष्टान्तम् इत्याक्षिप्यते—

फलोद्देशेन कर्तृत्वे ब्रह्मणोऽकृतकृत्यता ।

अनुदिश्य जगत्सर्गं उन्मत्तनरतुल्यता ॥

समाधानं तु—

लीलाश्वासवृथाचेष्टा अनुदिश्य फलं यतः ।

अनुन्मत्तैर्धिरच्यन्ते तस्मात्सर्वमिषागिरा ॥

यद्यपि लीलायामनुनिष्पादि सुखफलमस्ति, तथापि न तदु-
 देश्यम्; आमकामानां राजादीनां सुखोहासादेव क्रीडासु
 प्रवृत्तिर्दर्शनात् । प्रयोजनप्रार्थनापरिच्छिष्टचित्तानां रतिवि-
 हिणां क्रीडाया अनभिमतत्वात् । श्वासप्रश्वासयोश्च नास्ति
 प्रयोजनाभिसंधानम् । न च अनयोश्चैतन्यमपि अनुपयो-
 गि, सुषुप्तौ चैतन्याभावेऽपि भावात्, तथा च प्रयोजनोद्देशरू-
 पताप्याभाववत् अध्वान्तचेतनप्रवृत्तिस्वरूपहेतोरपि तत्राभा-
 वान् न व्यभिचार इति वाच्यम्; सुषुप्तावपि चैतन्या-
 प्रव्युत्तेः, अन्यथा नृतशरीरेऽपि श्वासप्रश्वासप्रसङ्गात् ।
 तथा यादृच्छिकीषु वृणच्छेदादिप्रवृत्तिषु न फलोद्देशः । 'न
 कुर्वीत पृथाचेष्टाम्' इति च धर्मसूत्रकृतां प्रतिषेधः; तदभावे
 निर्विषयः म्यान् । न च उन्मत्तान्मति एतत्सूत्रमर्थवन्तः
 तेषां तदर्थशोधतदनुष्ठानानुपपत्तेः ॥

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि
 दर्शयति ॥ १२ ॥

यो विषमसूत्रकारो स सावयः, ब्रह्म च विषमं सृजति
 इति न्यायेन ममन्वयस्य विरोध इति संदेहे, पूर्वत्र लीलाया
 घट्टत्वगुक्तम्, इदानीं सैव न सापेक्षस्य संभवति, अनीश्व-
 रत्वप्रसङ्गात्; निरपेक्षत्वे च रागादिमत्त्वम् इत्याक्षिप्यते—

घमांपर्मां जनैरीशः कारयित्वा तयोः फले ।

सुमदुःखे सृजन्नागद्वैपीं संहारतोऽघृणः ॥

कांश्चित्सुखिनः कांश्चिदुःखिनः सृजन्नीश्वरः पक्षपाती
स्यात् । कथायां युक्तायुक्त्वादिनोः अनुप्रहृदण्डविधात्सभा-
पतिवन् धर्माधर्मसापेक्षत्वात् अदोष इति चेत्, न ; जीवानां
तत्कर्तृत्वस्यापि ईश्वराधीनत्वात् । तथा च कांश्चित् धर्मान्
कारयित्वा सुखिनः सृजति, कांश्चिच्च अधर्मान् कारयित्वा
दुःखिनः सृजति इति— तदवस्थः पक्षपातः । प्रलयसमये च
स्वसंसृष्टसर्वप्रजासंहारात्त्रिघृणत्वम् । तस्मान् अन्याय्या जग-
त्सृष्टिश्चेतनात्— इति प्राप्ते, अभिधीयते—

विषमं सृजतीश्वरो जगन्न च रामायभिभूत इत्यपि ।

श्रवणादधुना क्रिया नरैः स हि पूर्वक्रिययैव कारयेत् ॥

श्रूयते हि 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति नं यमेभ्यो
लोकेभ्य उज्जिनीपते एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं
यमधो निनीपते' इति । कारयितृत्वं च पूर्वकर्मापेक्षमिति
श्रूयते—'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इति ।
तथा निरवद्यत्वमपि ईश्वरस्य आम्नातम्—'निरवद्यं निरज-
नम्' इति । विषमस्रष्टृत्वं च सृष्टिश्रुतेरवगतम् । अतः उभ-
योपपत्त्यर्थं पूर्वकृतकर्मापेक्षमेव इदानीं कारयति कर्म इति
श्रुत्यैव उक्ता कर्माव्यवस्था अनुमादनीया । अपि च विषम-
स्रष्टृत्वेन रागादिमत्त्वं वा अनुमेयम् ; ईश्वरस्य निरवद्यत्वाद्वा
विषमस्रष्टृत्वाभावः ; आद्यमनुमानं निरवद्यत्वध्या अतीत-
कालम् । द्वितीयं च सृष्टिश्रुत्या । न च प्रलयसमये सर्वसंहा-

रात् निर्घृणत्वम् ; स हि समस्तकर्मणां फलनिरोधावसर
इति । न च कर्मापेक्षया सृष्टिलयकर्तृत्वे अनीश्वरत्वम् ; न हि
सेवाद्यपेक्षफलप्रदः प्रभुः अप्रभुर्भवति । तस्माद्विशदमशेषम् ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ १३ ॥

निर्गुणस्य ब्रह्मणो जगदुपादानत्ववादिसमन्वयस्य, यन्नि-
र्गुणं न नदुपादानम्, गन्धवत्- इति न्यायेन विरोधसंदेहो,
भवतु विषमस्रष्टृत्वं पक्षपातेऽनेकान्तम् ; न त्वनुपादानत्वे अगु-
णत्वम् ; मृदादेः मगुणस्यैव उपादानत्वोपलम्भान् । अगुणं
ब्रह्म जगदुपादानं न युज्यते । ब्रह्म नोपादानम्, निर्गुणत्वान्
गन्धवत्- इति प्राप्ते, अभिधीयते—

भ्रमाधिष्ठानतोऽस्माभिः प्रकृतित्वमुपेयते ।

निर्गुणेऽप्यस्ति जात्यादाँ सति सव्यभिचारिता ॥

न हि मृदादेरपि तत्त्वतः परिणामोऽस्ति ; तत्परिणामस्य
घटादेः सत्त्वासत्त्वयोः स्वरूपधर्मत्वत्रिकल्पाभ्यां तदनिर्वा-
च्यत्वस्य आरम्भणाधिकरणे निवेदितत्वात् । तस्मात् घटा-
दिकल्पनाधिष्ठानत्वमेव मृदादेरप्युपादानत्वम् । तथा च
जात्यादावपि अनित्यत्वापोहत्वाद्यध्यारोपात् अस्त्यधिष्ठानत्व-
मिति अनेकान्तिकं निर्गुणत्वमनुपादानत्वे ॥

इति श्रीमत्परमहमपरिब्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पार्श्वशिष्यमहत्तमब्रह्मानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः ॥

पूर्वस्मिन्पादे सांख्यादिभिः प्रधानपरत्वेन वेदान्तव्याख्या-
यामनुमाहकत्वेन ये न्यायाः बिलक्षणत्वादयः उपन्यस्यन्ते, ते
परिहृताः । इदानीं वेदान्तपेक्ष्येण प्रधानादिभिर्द्धां यान्पनुमा-
नानि अभिधीयन्ते, तान्यस्मिन्पादे निरस्यन्ते ॥

रथनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

चेतनप्रकृतिकं जगदिति प्रतिपादयतो वेदस्य सांख्यी-
यानुमानेन प्रतिरोधसंदेहे, प्राप्तं तावत्—

सुखदुःखविपादैर्हि भावाः प्रत्येकमन्विताः ।
तस्मात्ते तदुपादानाः परिमाणादिभिस्तथा ॥

ये हि भावाः धैरनेकवृत्तिभिः प्रत्येकमन्वीयन्ते, ते तत्प्र-
कृतिकाः, यथा मृदन्विताः शरायादयः । समन्वीयते चैव-
द्वाराः पद्मावती तथाविधैः सुखदुःखमोहैः— चैत्रस्य तत्र
श्रीतेः, सपत्नीनां ततो दुःष्योदयात्, मंत्रस्य तामविन्दतो मो-
हरूपविपादादयात् । पद्मावत्या च व्याख्यातमशेषं जगत् ।
रूपादिषु व्यभिचारवारणाय अनेकवृत्तिभिरित्युक्तम् । पृष्ठा-
दिषु व्यासज्य अनुगते बने अनैकान्तिकत्वनिवृत्तये प्रत्येक-

मित्युक्तम् । न हि प्रत्येकं तरुषु वनमिति मतिः । प्रयोगश्च-
 सुखदुःखमोहाः कार्याणां प्रकृतयः, तेषु प्रत्येकमन्वितत्वे
 सति अनेकवृत्तित्वात्, मृदादिवत् । सिद्धे च घटादी-
 नामेवं सुखादिप्रकृतिकत्वे, आकाशादयः सुखादिप्रकृति-
 काः, कार्यत्वात्, घटवदिति तत्रापि तत्प्रकृतिकत्वमनुमेयम् ।
 तर्हि सत्त्वादीनां पृथक्पृथक् प्रकृतित्वमिति चेत्, न;
 विमतं ससृज्यमानवस्तुप्रकृतिकम्, परिमितत्वात्, मृत्स-
 लिलादिससृष्टवस्तुभिरारब्धभिवाङ्कुरादि । 'शक्तिः प्रवृत्ते-
 कारणकार्यविभागादविभागाद्धैश्वर्यस्य'—इत्येतान्यनुमानानि
 सत्कार्यविषयाणि । कारणशक्तिः विद्यमानविषया, विषयित्वात्
 ज्ञानवन्; कारणत्व विद्यमानप्रतियोगिकम्, सप्रतियोगित्वात्
 वाच्यत्ववत्; प्रलयकालः कार्यवान्, कालत्वात्, स्थितिकाल-
 वन्— इत्यनुमानतत्त्वम् । अत्र ब्रूमः—

गुणानां प्रकृतित्वे स्यान्मायया सिद्धसाधनम् ।

चेतनेनानधिष्ठाने तेषां हेतोर्विरुद्धता ॥

किं सत्त्वादीनां कार्यान्वयित्वेन प्रकृतित्वमात्रं साध्यम्,
 उत चेतनानधिष्ठितप्रकृतित्वम् ? आद्ये, सिद्धसाधनम्, त्रिगु-
 णाया मायाया ईश्वराधीनाया जगत्प्रकृतिकत्वाभ्युपगमान् ।
 द्वितीये, समन्वयित्वहेतोर्विरुद्धत्वम् ; घटादिष्वन्वयिनां मृ-
 दादीनां चेतनाधिष्ठितत्वव्याप्तेः । तथा च विमतं चेतनान-
 धिष्ठिताचेतनप्रकृतिकं न भवति, कार्यत्वात् कुम्भवदिति

सत्प्रतिपक्षत्वम् । सुखादीनामात्मनिष्ठत्वात् घटाद्यन्वयित्वस्य असिद्धत्वं च । सुखादिनिमित्तत्वमेव च पद्मावत्यादीनाम् न तु तदात्मत्वम्, अनुभवविरोधादिति । परिमितत्वमपि संसृष्टवस्तुप्रकृतिकत्वं न साधयति, देशतः परिमितत्वस्य नभसि अव्याप्तेः । वस्तुतः परिमितत्वस्यात्मन्यनैकान्त्यात् । कालतः परिमितत्वस्य सावयवत्वेन सोपाधिकत्वात्; नानावस्त्वारब्धस्त्राङ्कुरादेः सर्वस्य सावयवत्वात् । न च अस्य साधनव्यापकत्वम्; क्रियादौ तदनुमाने बाधात् । विपर्ययित्वमपि अतीतादिज्ञाने अनेकान्तम्; अतीतादेरपि वर्तमानत्वे अतीतादिज्ञानस्य निरालम्बनत्वापत्तेः सर्वस्यैव वर्तमानत्वापातात् । सप्रतियोगिकत्वमपि अभावे सव्यभिचारम्; अभावो हि सप्रतियोगिकः, न च विद्यमानप्रतियोगिकः, व्याघातात् । कालत्वादिहेतुश्च बाधितविषयः, प्रलये कार्याभावस्य धर्मिप्राहकप्रमाणप्रमापितत्वात् । न च अनभिव्यक्तिस्तत्र कार्यस्येति वाच्यम्; अभिव्यक्तेरपि कार्यवत्सत्त्वे अनभिव्यक्तिव्याघातात्; असत्त्वे कार्यस्याप्यसत्त्वापत्तिः । अस्माकं तु सत्सदेव । कादाचित्कं तु, न सप्राप्यसत्- इत्यारम्भणाधिकरणे निवेदितम् ॥

महर्द्दार्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ २ ॥

चेतनोपादानं जगदिति वदतः समन्वयस्य, कारणगतो विशेषगुणः कार्ये गुणत्यायान्तरजात्या स्वसमानजातीयं गुणान्तरमारभते इति साधयता वैशेषिकानुमानेन प्रतिरोधसं-

देहे— पूर्वत्र प्रधानगुणानन्वयात् जगन् न तत्प्रकृतिकमित्यु-
क्तम्; तर्हि ब्रह्मविशेषगुणचैतन्यात्तन्वयात् तदुपादानकमपि
जगन्न भवतीति प्राप्नोति । अत एव च अस्य स्वपक्षे न्याय-
विरोधपरिहारपरस्य विचारस्य स्मृतिपादसंगतस्यापि इह करणं
वर्णितायान्तरमंगतिलोभाद्युच्यते । तत्र—

ब्रह्म चेज्जगतो योनिस्तद्विशेषगुणान्वितम् ।

जगत्स्यान्न तु तत्तस्मात्तस्य न प्रकृतिर्भवेत् ॥

ब्रह्म न गगनप्रकृतिः, गगनगतविशेषगुणस्य गुणत्वा-
वान्तरजात्या समानजातीयेन विशेषगुणेन रहितत्वात्; घट-
वन् । अत्र प्रतिबन्धा उत्तरमुच्यते —

परमाणुणा न परिमण्डलता

अणुके करोति परिमण्डलताम् ।

द्वयणुकाणुता च महति अणुके

जनयेन्न तद्वदणुतामपराम् ॥

एषा वैशेषिकाणां प्रक्रिया— परमाणुभ्यां परिमण्डलाभ्यां
द्वयणुकमारभ्यते । तस्याणुत्वं परिमाणम् । अणुकैर्बहुभिः अणु-
कादि महदारभ्यते । न बहुभ्यः परमाणुभ्यो महदारभ्यते, तथा
सति घटस्यापि बहुभिः परमाणुभिरारब्धत्वप्रसङ्गे कुम्भभङ्ग-
ममनन्तरं कपालशंकरादयो नापलभ्येरन्, तेषामनारब्ध-
त्वान् ; परमाणूनां च घटावपवानामतीन्द्रियत्वान् । त-
स्मान् अणुकादिप्रक्रमेणैव महदारम्भः । न च अणुकद्वयान्
द्रव्यस्याम्भः, वैशेष्यप्रसङ्गान् । नदपिहि अणुकमेव भवेत् ;

कारणबहुत्वमहत्वप्रचयविशेषेभ्यो हि महत्त्वस्योत्पत्तिः । न च ऋणुकयोर्महत्त्वमस्ति; नापि बहुत्वम्; न च प्रचयविशेषः; द्व्यणुकावयवानामनवयवत्वेन द्व्यणुकयोः प्रशिथिलावयवसंयोगवत्त्वविरहात् । तस्मात् ऋणुकद्वयारब्धद्रव्येणापि ऋणुकेनैव भवितव्यम् । तथा सति भोगातिशयाभावात् अदृष्टनिमित्तत्वाच्च विश्वनिर्माणस्य, अदृष्टस्य च भोगहेतुत्वात् द्व्यणुकारब्धद्रव्यनिमित्तभोगस्य च ऋणुकेनैव सिद्धेः न द्व्यणुकाभ्यां कार्यमारभ्यते । अतः आरम्भार्थवत्त्वाय बहुभिरेव ऋणुकैरद्व्यणुकादि महदारभ्यते । अस्ति हि ऋणुकेषु महत्त्वहेतुः बहुत्वं महत्त्वं च भोगातिशयहेतुः—इति । तत्र यथा परमाणुगतपारिमाणुद्वयं ऋणुके पारिमाणुद्वयमपरं नारभते, ऋणुकगतं वा अणुत्वं महति त्र्यणुके नाणुत्वान्तरमारभते, एवं प्रकृत्यन्तमपि अगति चैतन्यं नारभते । ननु विपरीतमुच्यते, चैतन्यं हि विशेषगुणः, तस्य कार्ये विशेषगुणान्तरारम्भकत्वं शङ्कितम्, कारणविशेषगुणस्य च कार्ये सजातीयविशेषगुणान्तरारम्भे न व्यभिचारः, सन्तुपटादिषु सर्वत्र सधैवोपलब्धेः; पारिमाणुद्वयादि तु परिमाणं साधारणगुणः; तस्यानारम्भकत्वेऽपि न दोष इति । उच्यते—यथा साधारणगुणस्तन्त्वादिगतमहत्त्वं पटादौ कारणकार्यसमवायान् महत्त्वान्तरमारभते—एवं ऋणुकगतमणुत्वं द्व्यणुकारब्धद्रव्ये अणुत्वान्तरं किमिति नारभते, कारणकार्यस-

सवायाविशेषात् । भोगातिशयाभावात् क्वचित् साधारणगुण-
स्याप्यनारम्भकत्वमिति चेत्, तर्हि इहापि अन्यत्र विशेषगु-
णानामारम्भकत्वेऽपि, ब्रह्मचेतनाया जगति सर्वत्रारम्भे शे-
पशेषिभावामावेन भोगासंभवप्रसङ्गे, स मा भूदित्याकाशादौ
चैतन्यं नारभ्यते । जीवेषु तु ब्रह्मप्रतिविम्बकल्पेषु ब्रह्मचेत-
ना अनुवर्तिष्यत इति समानम् । तदुक्तं धार्तिककारैः—‘तमः
प्रधानं क्षेत्राणां चित्प्रधानं चिदात्मनाम् । परं कारणतामेति
भावानां ज्ञानकर्मभिः’ इति । यथा च विशेषगुणत्वमपि
निर्वक्तुं न शक्यते तथोपपादितं वेदान्तकल्पतरौ ॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ ३ ॥

व्यापिब्रह्मणो जगत्सर्ग वदतः समन्वयस्य, परमाण्वारब्धं
जगदिति माधयता अनुमानेन प्रतिरोधमंशेदे, अस्याधिकर-
णस्य प्रामङ्गिकेनानन्तराधिकरणेन न संगतिरिति व्यवहिते-
नोच्यते—प्रधानं चेतनानधिष्ठितत्वात् कारणं चेत्, तद्विभवः
मन्तु तदधिष्ठिता कारणम् । ननु क्षुद्रारब्धं महदिति निय-
मबद्धः ‘एतेन शिष्टापरिग्रहाः’ इत्यधिकरणे कृतः, कथमिह
परमाण्वादानन्वयस्य प्राप्तिः । उच्यते— विवर्तः क्षोदीयानपि
महतः संभवतीति तत्र माधिनम् । इह तु लोके विवर्तत्वेना-
प्रमिद्धमापि महतोऽन्यगुदेतु शक्यमिति समर्प्यते । तथा
च भाष्यम्— ‘यदा तु अप्राप्तविशेषं मामान्यात्मकं कारणं
विशेषयद्दश्यान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते, तदा पृ-

तकाठिन्यविलयनवत् मूर्त्यवस्थाविलयनेनापि विनाश उपपद्यते' इति । तत्र—

अनेकद्रव्यसंयोगाद्द्रव्यमुत्पद्यते यतः ।

एकस्माद्द्रव्येणो द्रव्यं नात उत्पन्नमर्हति ॥

आद्यं कार्यं संयुक्तानेकद्रव्यारब्धम्, कार्यद्रव्यत्वात्, घटवत् । आद्यं च कार्यद्रव्यं दृषणुकमिति तदारम्भकौ परमाणू; तयोरपि कार्यत्वे अवयवानन्त्यात् सुमेरुराजसर्पयोः समानपरिमाणत्वप्रसङ्गादिरयुक्मेव । ब्रह्म तु एकमिति न द्रव्योपादानमिति प्राप्तं, अभिधीयते—

द्रवद्रव्यं यथैकस्मात्कनकादुपजायते ।

उत्पद्यते तथैकस्माद्ब्रह्मणः प्रकृतेर्जगत् ॥

तत्र न तावत्कार्यद्रव्यं पटादि कारणात् नन्वादेः तत्त्वतोऽतिरिक्तं तत्र ममवैति; किं तु कारणस्यैव तत्त्वान्यत्वाभ्यां दुर्निरूपमवस्थामात्रम्— इत्यारम्भणाधिकरणे उपपादितम् । एवं व्यवस्थापिते, यथा सुवर्णद्रव्यं काठिन्यावस्थामपहाय द्रवावस्थामापद्यते, न च तत्रावयवविभागः मन्त्रपि द्रवत्वे कारणम्, परमाणूनां भवन्मते तदभावेन द्रवत्वानुदयप्रसङ्गान्— एवं कनके काठिन्योत्पत्तावपि नाशयवसंयोगापेक्षा; परमाणुकाठिन्योत्पत्तौ तदभावान् । न च परमाणुद्रवत्वोत्पत्तिमन्तरेण कार्यद्रवत्वोदयः; रूपादेरपि तथोदयप्रसङ्गान् । यथा च कार्य-

द्रवत्वात् परमाणौ द्रवत्वकल्पना, एवं कार्यकाठिन्यात् परमा-
 णां काठिन्यमपि कल्प्यम् । तस्माद्यथैकं कनकम् अवयवसंयो-
 गमनपेक्ष्य कठिनं भवति, तदेवाग्निमंयोगात् अवयवविभाग-
 मनपेक्ष्य द्रवावस्थया परिणमते— तथा मृदाद्यनुगतद्रव्याणि
 घटाद्यवस्थां भजमानान्युपादानानि, तदात्मकत्वानुभवान् ।
 कार्याणां तादात्म्यस्य च प्रकृतिविकृतित्वप्रयोजकत्वात् । जन-
 कत्वमात्रेण कपालादेः प्रकृतित्वे, कुलालादेरपि तत्प्रमद्धान् ।
 समवायस्य दूष्यत्वेन प्रकृतिविकृतित्वाप्रयोजकत्वान् । तथा
 च कारणं सकलकार्यानुवृत्तत्वान्महत् । कार्यं च व्यावृत्त-
 त्वादल्पम् । एवं ब्रह्माप्यवयवसंयोगरहितं महदपि गगनाद्य-
 स्थावस्यामापद्यते । अवयवविभागरहितमपि ताम्रवस्थां संह-
 त्य सुवर्णद्रववत् सूक्ष्मरूपेण प्रलयेऽवतिष्ठते । तदेवं कार्य-
 द्रवत्वहेतोः सुवर्णद्रवे अनैकान्तिकत्वमुक्तम् । अपि च अणु-
 न सर्गात्प्राक् कर्मनिमित्तप्रयत्नाभिघातात्तसि । अदृष्टं त्वन्य-
 दाप्यस्तीति न नियामकम् । तस्मात्त परमाणूनां कारणत्वम् ।
 नापि कार्यस्य परमाणौ समवायः, समवायस्य समवायि-
 त्वममवाये तन्नियामकत्वायोगान्, समवाये चातवस्था-
 नान् । समवायः समवेतः, संयन्वत्वान्, संयोगवदिति सम-
 वायमिच्छते अतिष्ठापत्तेश्च । न च गुणत्वमुपाधिः, घटादौ
 ताप्याद्यन्तः । तस्मात्कार्यमप्यनुपपन्नम् । अर्हीकृत्य च पर-
 माणुं तस्याद्यात्पत्वमवोषाम । स एव नास्ति । यतो मूढ-
 क्षाम्पं चेन् स्पृशंश्चन्, तर्ह्यस्तिव्यं भ्यान् घटवन् ; नित्यं च ।

तस्मान्मूलकारणं न स्पर्शवत्, नित्यत्वात्, आत्मवत् इति ।
अतो मूलकारणस्य न परमाणुत्वम् । परमाणूनां सर्वेषां परैः
स्पर्शवत्त्वाङ्गीकारादिति ॥

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ ४ ॥

नित्यचैतन्याद्ब्रह्मणो जगद्बुद्ध्यवाहिसमन्वयस्य, क्षणिका
अचेतना भावाश्चेतनानपेक्षा जगज्जनयन्तीति साध्यता मौ-
गत्तानुमानेन बाधमन्वेदे, पूर्वत्रार्थवनाशिकवैशेषिकमते निरस्ते,
सर्ववैनाशिकमतं युद्धिस्थं निरस्यते । तत्र—

प्राप्ते हेतौ फलोत्पत्तेर्हेतुवृन्दानपेक्षणात् ।

स्वसंतानान्तरं हेतुः क्षणिकः स्वफलं मृजेत् ॥

चेतनापेक्षां कार्योत्पत्तिं वदन् प्रष्टव्यः—कस्य चैतन्यम्—किं
बीजादीनाम्, तदतिरिक्तस्य भोक्तुः प्रशासितुर्वा ? न तावद्बी-
जादीनाम् एकैकत्वेन मिलित्वा वा अङ्कुरादि जनयताम् अस्ति
चैतन्यम् । यदा हि बीजादङ्कुरः अङ्कुरात्पत्रं पत्रात्काण्डं
काण्डात्शालादीनि फलपर्यन्तानि जायन्ते, तत्र बीजादिषु मत्सु
अङ्कुरादीनि जायन्ते नास्तिस्वित्येतावन्; न हि बीजादीनां प-
यमङ्कुरादीनि जनयाम इति ज्ञानमस्ति; नाप्यङ्कुरादीनामस्ति
ज्ञानम्—वयं बीजादिभ्यो जातानीति । किं तु प्रतीत्यप्राप्यबी-
जादिकमङ्कुरादीनि जायन्ते । न च अपरश्चेतनः इह अङ्कुर-
नालादीनि जनयन् दृश्यते । सोऽर्थं प्रतीत्यममुत्यादस्य हेतुप-

निबन्धः, एकैकस्य हेतोः कार्येण जनकत्वसंबन्ध इत्यर्थः । अथ प्रतीत्यसमुत्पादस्य प्रत्ययोपनिबन्धः अभिधीयते—इतरेतरं प्रत्ययन्ते मिलन्ति कार्यं जनयितुम्—इति मिलिता हेतवः प्रत्ययाः, तेषां कार्यजनकत्वं प्रत्ययोपनिबन्धः । यदा हि पृथिव्युदकादिभिर्मिलितान् गिरिदरीवर्तिनोऽपि बीजात् अङ्कुरो जायन्ते, तदापि न बीजादीनामस्ति चैतन्यम् । नाप्यन्यश्चेतन उपलभ्यते; न च कचिद्दर्शनेन तत्राप्यनुमीयते । यत्राङ्कुरे चेतनः कारणं दृश्यते, तत्राप्यनपेक्षणामन्वक्षणप्राप्तानां बीजादीनां कारणत्वान् । न च चेतनरहितान् बीजादङ्कुरादर्शनात् तदपेशं बीजमिति युक्तम्; तस्याङ्कुरप्राक्कालवर्तिबीजक्षणादन्वत्वान्, क्षणिकत्वात्सर्धभायानाम् । तथा च विमतं क्षणिकम्, अर्धक्रियाकारित्वान्, यत्रैवं तत्रैवम्— यथा स्वपुष्पमिति । तस्माद्यत्र चेतनस्य कारणत्वं दृष्टम्, तत्र कारणमनुदाये चेतनस्याप्रयोजकत्वान्; यत्र चेतनो न दृश्यते, तत्राचेतनैरेव बीजादिभिर्मिलितैः कार्यारम्भसंभवान् । तद्वन् स्वरसंहोष्णत्वप्रेरणरूपगुणस्वभावाः परमाणुभिर्वाह्यस्य पृथिव्यादिसंघातस्य, पञ्चस्कन्धैर्भ्राष्ट्यात्मिकस्य पञ्चस्कन्धरूपसमुदायस्यारम्भः । एतं च पञ्चस्कन्धाः— रूप्यन्ते निरूप्यन्ते इति वा, रूप्यन्ते णभिरिति वा मविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः । यद्यपि रूप्यमाणाः पृथिव्यादयो वाद्याः, तथापि कार्याकारेण संदत्त्वाकारेण संदत्तानामिन्द्रियसंबन्धाद्वा भवन्त्या-

प्यात्मिकाः । अहमिति वा इदमिति वा यत् ज्ञानं निर्विकल्पकं जायते स विज्ञानस्कन्धः । वेदनास्कन्धः सुखदुःखे । सविकल्पकं ज्ञानं संज्ञास्कन्धः । रागादिधर्माधर्मो व संस्कारस्कन्धः । एवं प्राप्ते, अभिदध्महे—

अन्त्यक्षणवदन्येषां स्वकार्येष्वनपेक्षतः ।

कुसूल एव शालिभ्यः शालिनामुदयो भवेत् ॥

यदि अन्त्यक्षणप्राप्ता बीजादयोऽनपेक्षाः कार्यजनने, तर्ह्युपान्यादयोऽपि बीजक्षणाः उत्तरोत्तरबीजक्षणजनने अनपेक्षाः स्युः । तथा सति येन कुसूलम्यबीजक्षणेन स्वकार्यक्षणपरम्परया सकणिशशाल्यङ्कुरजननसमर्थो बीजक्षणो जनयितव्यः, सोऽनपेक्ष एव स्वानन्तरवर्तिबीजक्षणजनने ; एवं सर्व एव तदनन्तरवर्तिनो बीजक्षणाः अनपेक्षा इति कुसूले निहितबीज एव स्यात् कृती कृषीवलः । कृतमस्य दुःखदुःखेन कृषिकर्मणा । न चैवमस्ति । तस्मात् क्षणिकपक्षेऽपि परस्परसापेक्षाः सलिलबीजादयः कारणमिति वक्तव्यम् । सति चैवम्, कारणानां संमेलनं कार्यप्रयोजनाद्यभिन्नचेतनपुरःसरत्वेन कृष्यादौ दृष्टमिति गिरिदरीवर्त्यङ्कुरजन्मनि सोऽनुमीयते । तस्माद्ङ्कुरादेः पत्रकाण्डाद्युत्पत्तावपि चेतनपूर्वकत्वमनुमेयम् । न च भवताम् अस्ति अणूनां स्कन्धानां च संहन्ता । एकैकहेतूनां कार्यव्यतिरेकं दृष्टवतः समुदितानां च कार्यजनकत्वमु-

पलब्धवत्स्वजातीयकारणमेलनसंभवात् । भवदभिमतालय-
 विज्ञानस्य चेतनस्य क्षणिकत्वेन अन्वयव्यतिरेककालाव-
 स्थानासंभवात् । यत्तु सत्त्वात् भावानां क्षणिकत्वमिति,
 किमिदं सत्त्वम्? स्वरूपसत्त्वमिति चेत्, न, सत्त्वभावस्य
 काप्यसत्त्वासंभवस्य आरम्भणाधिकरणे उक्तत्वेन हेतोर्वि-
 रुद्धत्वान् । अथार्धक्रियाकारित्वम्; तन्न, क्षणिकस्य अन्वय-
 व्यतिरेकक्षणद्वयानवस्थायिनः कारणत्वग्रहासंभवात्, ना-
 मान्यस्य च अन्वयव्यतिरेकवत्त्वेऽपि तस्याकारणत्वात्, का-
 रणत्वे च असम्बन्धतापातान् । तस्मादस्मिन्पक्षेऽपि सत्त्वहेतो-
 र्विरुद्धत्वमिति । स्थायित्वे तु प्रयुज्यते— विमतः कालः
 इदानीननात्मवान्, कालत्वान्— इदानीतनकालवत् । तथा च
 विमतं न क्षणिकम्, भावत्वात्— आत्यवत् । इति । प्रत्यभिज्ञा-
 यापि भावानां स्थायित्वमिच्छिः । न च सा माहृष्यनि-
 यन्धना; पूर्वापरक्षणद्वयदर्शिन एकस्याभावे माहृष्यग्रहणा-
 नुपपत्तेः, अगृहीतस्य च प्रत्यभिज्ञाश्रमोपाधित्वेनोपन्यमितुम्
 अशक्यत्वादिति ॥

नाभाय उपलब्धेः ॥ ५ ॥

रूपादिरहितमद्यजगदुपादानत्ववादिमन्वयस्य, विज्ञानं
 नीत्यापाकागमिति माधयशानुमानेन विरोधमेदहे, पूर्वोक्तम-
 नुदायानुपपत्त्यादिदूषणानुपपत्त्या वासायापलापेन प्रत्यवस्था-
 यते । तथा हि—

स्वप्रधीसाम्यतो बुद्धेर्बुद्धयर्थस्य संदेक्षणात् ।
तद्भेदो नानिरूप्यत्वाज्ज्ञानाकारोऽर्थ इष्यताम् ॥

विमता धीः न ज्ञानव्यतिरिक्तालम्बना, धीत्वात्- स्वप्रधी-
वत् । विपक्षे च ज्ञानाभावेऽप्यर्थभानप्रसङ्गः । न हि भिन्न-
योरध्वमाहिषयोः अस्ति सहोपलम्भनियमः । अपि च न ज्ञानं
चक्षुर्वदर्थज्ञापकम् ; तथा सति जनितज्ञानस्यापि ज्ञापकत्वेना-
नवस्थापातात् । तस्मात् ज्ञानमेवार्थप्रकाशः । ज्ञानं च ज्ञेयाना-
कारम्, न ज्ञेयं व्यवस्थापयितुमलम् । नीलज्ञानेनापि पीतप्र-
तिभासप्रसङ्गात् । एकश्चायमाकारोऽनुभूयते । स चेत् ज्ञान-
नञ्च, नार्थमद्भावे प्रमाणमस्ति । किं च बाह्योऽर्थः परमाणवो
वा तत्समूहो वा । नाद्यः, परमाणूनां स्थूलनीलाकारप्रत्ययानाल-
म्बनत्वात् । निरन्तरोत्पन्ननीलपरमाणवः स्थूलादिबुद्ध्यालम्ब-
नमिति चेत्, न, निरन्तर्यासिद्धेः । गन्धरमादिपरमाणूनामपि
नीलपरमाणूनां मध्ये संभवेन अव्यवधानाभावात् । तापि
द्वितीयः, समूहस्य समूहिपरमाणुभिरभेदे प्रथमपक्षोक्तदोषात् ;
भेदे च तादात्म्यायोगात् । सप्रवायस्य च दूषितत्वात् । त-
स्मादेभिस्तर्कैः अनुगृहीतात् प्रागुक्तानुमानात् ज्ञानाकारोऽर्थः ।
न च सिद्धसाधनम् ; न हि वेदान्तिनश्चैतन्यस्य अर्थाकारतां
मन्यन्ते इति । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

वाधेन सोपाधिकतानुमान
उपायभावेन महोपलम्भः ।

सारूप्यतो बुद्धितदर्थभेदः

स्थूलार्थभङ्गो भवतोऽपि तुल्यः ॥

यदुक्तं जाग्रद्धीः न ज्ञानत्वरहितालम्बना, धीत्वात्- स्वप्र-
धीवदिति, तत्र बाध्यत्वमुपाधिः, अर्थक्रियाकारित्वं हि सर्व-
त्वन्मते । तच्च जाग्रद्धीगम्यस्य अबाधितमस्ति, न स्वप्रधी-
गम्यस्य, तस्यार्थक्रियायां विसंवादात् । तथा च न सा-
धनव्यापकं बाध्यत्वम् । अपि च जाग्रद्धियोऽपि बाधे बाधि-
तार्थया तथा स्वप्रधियो बाधानुपपत्तेस्तन्निरालम्बनत्वासिद्धौ
दृष्टान्तस्य साध्यविकलता स्यात् । प्रमाणाजन्यत्वेन च सो-
पाधिकता । न हि स्वप्रधियो जाग्रद्धिय इव इन्द्रियलिङ्गादी-
नि प्रमाणानि जनकानि मन्ति । दोषजन्यत्वेन च सोपाधि-
कत्वम् । अस्ति हि निद्रादोषो मनसि स्वप्रधीहेतौ । बाधित-
विषयत्वं च अनुमानस्य । प्रत्यक्षादिभिरर्थक्रियाममर्थस्य
जाग्रद्ध्मनुनः परिच्छेदान् । यच्च सहोपलम्भनियमान् ज्ञानार्थ-
योरभेद इति, तत्र अर्थव्यवहारस्य उपलम्भोपायत्वनिमित्तः
सहोपलम्भनियमः न ज्ञानज्ञेयाभेदकृतः । यथा हि नियमेन
जनैः प्रभोपरक्तमेव रूपवद्वस्तु साक्षात्क्रियते । न च तावता
प्रभात्मकं वस्तु । किं तु उपायः प्रभा तत्साक्षात्कारे, तद्वन् ।
यच्च ज्ञानस्य अर्थव्यवस्थार्थं विषयमारूप्यमाश्रितम्, न तेन
विषयो भवद्वानु शक्यः; अमत्यर्थे विषयमारूप्यस्य व्यवस्था-
याधानुपपत्तेः । योऽपि मूलपदार्थस्य परमाणुत्वं तत्समूहत्वं
वेति विकल्प्य भङ्गः कृतः, न स्थूलार्थस्य ज्ञानाकारत्वेऽप्य-

विशिष्टः । तथा हि— अर्थस्य ज्ञानाकारत्वं वदता अर्थो वक्तव्यः, तदभावे कस्य ज्ञानाकारत्वं वर्ण्येत ? तत्र तावत् स्थूल-नीलाकारप्रत्ययस्य न परमाणव आकारः, तेषां तत्राप्रतिभासात् । तस्मात् परमाणुव्यतिरिक्तस्तत्समूहस्तदारब्धो वा कश्चित्स्थूलार्थस्त्वयापि स्वीकर्तव्यः । स तु मम मायामयः । तव तु मायाविनः स्थायिनो निर्मातुरभावात् अनुपपन्नः । न च वासनाप्राप्तितोऽयमर्थः ; वासनाया अर्थोपलब्धिपूर्वकत्वात्, अर्थोपलब्धेश्च अर्थमन्तरेण असंभवात्, अन्ततोऽर्थस्येष्टव्यत्वात् । न च तत्र वासनाश्रयः ; क्षणिकस्यालयाविज्ञानस्य ज्ञानजन्मनि तद्वासनोत्पत्तौ च अस्थायिनः तदाश्रयत्वायोगात् । तस्मान्न ज्ञानाकारोऽर्थः ; किं तु वाह्यः । स च अर्थक्रियाकारित्वसत्त्वोपेतोऽपि अद्वैतश्रुतिवशात् ब्रह्मणि कल्पितः न परमार्थसन्निति सिद्धान्तस्य, सुगतमताद्भेद इति ॥

॥ वर्णकान्तरम् ॥

प्रणम्य शंकरं तत्त्वबोधाभींशुमुधाकरम् ।

मोहध्वान्तहरं वक्ष्ये सूत्रेष्वपरवर्णकम् ॥

.. सद्रूपाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य सर्वमसदिते साधयता अनुमानेन विरोधसंदेहे, समुदायानुपपत्त्याद्युपजीव्यासत्त्वसाधनात् पूर्ववत्संगतिः । तत्र प्राप्ते तावत्—

न सन्नासन्न सदसन्न चानुभयरूपकम् ।
विमतं तर्कपीड्यत्वान्मरीचिषु यथोदकम् ॥

तथा हि— न तावज्ज्ञानाकारत्वमर्थस्य, तन्निरासात् । न च तद्वाहोऽर्थः, तस्य परमाणुतत्समूहत्वविकल्पासहत्वस्योक्तत्वान् । तथा च न ज्ञानमपि, निर्विषयज्ञानायोगात् । नापि साक्षी, तस्मिन्प्रमाणाभावात् । मेयत्वे तस्यापि बाह्यमेयवत् सत्त्वायोगात् । एवं च विश्वं न सत्; नाप्यसत्, अपरोक्षत्वान्; न सदसत्, सत्त्वामत्त्वयोरैकप्रविरोधान् । नाप्यनुभयम्, एकनिषेधस्योत्तरविधाननान्तरियकत्वान् । तस्मान्निस्तत्त्वतैव तत्त्वं वस्तुनामिति प्राप्ते, अभिधीयते—

वाधितोऽपीह वो मानं चर्यावहारिकमानता ।
मानानां तात्त्विकं किञ्चिद्वस्त्वनाश्रित्य दुर्भणा ॥

प्रमाणैर्हि यथाभूतस्योपलब्धेर्न तस्याभावः । इदमुक्तं 'नाभाव उपलब्धेः' इति । अयं विचारेण प्रागुक्तेन प्रमाणानां तात्त्विकं प्रामाण्यं व्युद्ध्यते; न मां व्यवहारिकम्; तथा च भिन्नविषयत्वाद्बिरोध इति, तन्न; तथा सति हि समानप्रमाणमन्यार्थविपरीनं परमार्थवस्तु गोचर्यता वापकप्रमाणेन इतरप्रमाणप्रमेयेषु तत्त्वमपहन्य मां व्यवहारिकत्वं व्यवस्थापनीयम् । तच्च परमार्थं वस्तु नास्ति । तस्य प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । उपलब्धौ वा शून्यवाद्दानान् । तदि-

दमुक्तम्— 'नाभाव उपलब्धेः' इति । अथ विचारासहत्वेन निस्तत्त्वतैव वस्तूनां तत्त्वं व्यवस्थापयतु बाधकं प्रत्यक्षादेः सांख्यवहारिकत्वं व्यवस्थापयतीति ; केयं निस्तत्त्वता ? तत्त्वरूपाभावश्चेत्, सापि विचारासहैव ; असतो विचारासहत्वस्य त्वयैवोक्तेः । नाप्यन्या, तस्या अभवात् । अन्यस्याः भावत्वात्, भावस्यापि तव विचारासहत्वान् । एवं निस्तत्त्वताया विचारासहत्वे तत्त्वरूपतैव सर्वस्येति । तस्मात् सद्ब्रह्म तत्त्वं व्यवस्थाप्य बाधकं प्रत्यक्षादेः सांख्यवहारिकत्वं व्यवस्थापयतीति युक्तम् । वैधर्म्यसूत्रं तु पूर्ववदेव मरीच्युदकदृष्टान्ते बाध्यत्वोपाधिपरत्वेन योज्यम् । 'क्षणिकत्वाम्' इति सूत्रे अभ्युपगमादिति शेषः । अतश्च क्षणिकत्वस्याभ्युपगमात् सर्वशून्यत्वस्याभ्युपगमाच्च व्याहृतवादी मुगत इत्यर्थः ॥

नैकस्मिन्नमंभवात् ॥ ६ ॥

एकरूपग्रहसमन्वयस्य अनेकान्तं सर्वम्-इत्याहं तोक्तानुमानेन विरोधसंदेहं, मुक्तकण्ठेषु निरस्तेषु, विवसनानां बुद्धिस्थित्यात्संगतिः । अथवा समन्वयमात्रमिद्वपश्चस्कन्धादिपदार्थाश्रितन्यायाभामे निरस्ते, पश्चास्तिक्तायादिसामयिकपदार्थाश्रितन्यायाभाममंदृश्यं गतं भवति बुद्धिस्थिति मंगतिः । उपलब्धेरर्थसत्त्ववन् तदनेकान्तोऽप्युपलब्धेरेवास्तीति मंगतपः । तस्य—

त्रिमतं वस्त्वनेकान्तं वस्तुत्वाच्चित्ररूपवन् ।

एकान्तसत्त्वेऽसत्त्वे च न प्रवृत्तिर्न चैतरा ॥

यदि वस्त्वस्त्येव एकान्ततः, तर्हि तत्सर्वत्र सर्वदा सर्वथाम्येवेति तद्विष्णुर्न प्रवर्तेत; सिद्धत्वात् । नापि किञ्चिज्जिहामुर्निवर्तेत; हेयाभावात् । अथैकान्ततो नास्त्येव, तथापि न प्रवृत्तिः; प्राप्याभावात् । नापि निवर्तेत; निवर्त्यस्य नित्यनिवृत्तत्वात् । अनेकान्ते तु कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचिन् सत्त्वान् हानोपादाने अवकल्पेते । येषामनेकान्तत्वम्, ते चैते पदार्थाः— जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जरखन्धमोश्ना । तत्र जीवाजीवा संक्षेपतः पदार्थौ । तत्र जीवास्तिकायः षट्को मुक्तः साधनैर्नित्यमिद्धञ्चेति— त्रिविधः । अयं अजीवो विस्तीर्यते । पुटलाभिकायः षोडश— पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि म्थावरं जङ्गमं च । धर्माधर्मास्तिकायां प्रमिद्धौ । आकाशाभिकायो द्वेषा— लोकाकाशः अलोकाकाशश्च । लोकान्तर्बर्ती लोकाकाशः, इतरो बहिष्ठः । स च मोक्षम्यानम् । एते पञ्चाभिकायाः । अस्तीति कायन्ते कथ्यन्ते; न तु नियतं सत्त्वम्; अनेकान्तादिति । एवं जीवाजीवा विमृता । आम्नावयति पुरुषं विषयेत्विति इन्द्रियप्रवृत्तिराग्रवः । स च पन्धहेतुः । कर्माण्याग्रव इत्यपरैः; तानि हि कर्तारम् आग्रवन्ति अनुगच्छन्तीति । संशृणोति इन्द्रियप्रवृत्तिमिति श्रमद्मादिरूपप्रवृत्तिः संवरः । निःशेषं पुण्यापुण्यं सु-

खदुःखभोगेन जरयतीति तप्तशिलारोहणादिप्रवृत्तिः निर्जरः ।
 एते प्रवृत्ती मोक्षसाधनम् । बन्धोऽष्टविधं कर्म । तत्र
 घातिकर्माणि चत्वारि । सम्यग्ज्ञानं न मोक्षहेतुः, ज्ञानाद्य-
 स्तुसिद्धौ शुक्तिरजतादिज्ञानेभ्योऽपि रजतादिवस्तुसिद्धिप्रस-
 ङ्गादिति पर्यनुयोगो ज्ञानावरणीयं कर्म । आर्हत्दर्शनाभ्या-
 सात्त मोक्ष इति ज्ञानं दर्शनावरणीयं कर्म । बहुषु विप्रतिपिद्धेषु
 वादिभिरुपदर्शितेषु मोक्षमार्गेषु विशेषानवधारणं मोहनीयम् ।
 मोक्षमार्गं प्रवृत्तानां तद्विप्रकरमैश्वर्यादि अन्तरायिकं कर्म,
 एतानि श्रेयोहन्तृत्वाद्घातीनि । अथ अघातिकर्माणि चत्वारि
 निगद्यन्ते— वेदनीयम्, नामिकम्, गोत्रिकम्, आयुष्क-
 मिति । शुक्लशोणितस्य मिलित्वा घनीभूतस्य देहाकारपरिणाम-
 हेतुः कर्म वेदनीयम्; तद्वि ज्ञानहेतुशरीरारम्भकत्वाद्देदनीयम्,
 ततोऽपि पूर्वं शुक्लशोणितकललबुद्बुदादिपरिणामारम्भकं ना-
 मिकं कर्म । शुक्लशोणितस्य कललबुद्बुदाद्यवस्थानुगुणा शक्तिः
 गोत्रिकम् । शुक्लशोणितनिमित्तमात्रं स्वरूपेणायुष्कमिति ।
 एतानि सम्यग्दर्शनाविभावकत्वाद्घातीनि । एतत्कर्माष्टकं पुरुषं
 बध्नातीति बन्धः । क्षीणक्लेशस्य जीवस्य अलोकाकानावस्थाने
 सततोर्ध्वगमनं वा मोक्षः । एषु पदार्थेषु सप्तानां निय-
 मातां ये भङ्गास्तेषां समूहः सप्तभङ्गी । तद्रूपो न्यायो
 योऽयते— स्यादित्ययं निपातोऽनेकान्तत्वद्योतकः । तेन स्या-
 वस्ति- कथंचिदस्ति, एवं सर्वत्र । स्यात्तास्ति, स्यादस्ति च
 नास्ति च, इत्येतदपि स्यात्कथंचिदित्यर्थः । तर्ह्यनिर्वचनीयता

तारिक्की, नेत्याह— स्यादवक्तव्य इति । अवक्तव्योऽनिर्वाचनीयः पदार्थ इत्येतदपि कथंचिन् । यस्त्वसद्वादी सत्त्वमनिर्वाच्यमिति वक्ति, तदप्यनियतमित्याह— स्यादस्त्यवक्तव्यमिति । असत्त्वानिर्वाच्यत्वं सद्वाशुक्तमप्यनेकान्तमित्याह— स्यान्नास्त्यवक्तव्यमिति । यच्च एकान्तसद्वादिभिः एकान्तासद्वादिभिश्च सदसत्त्वसमुच्चयस्यानिर्वाचनीयत्वमुच्यते, तदप्यनेकान्तमित्याह— स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्चेति । अस्ति च नास्ति चेत्येव पक्षोऽनिर्वाच्य इति यदुच्यते तदपि स्यादनियतमित्यर्थः ॥

निष्ठन्नदन्नप्रतनुर्यतस्ततो

जल्पन्ननेकान्तमसंगतं बहु ।

नूनं पिशाचोऽयममुष्य शान्तये

मिताक्षरो मन्त्रवरः प्रयुज्यते ॥

यत्तत्त्वं तत्तद्देवास्ति न कथंचिन्मृषा भवेत् ।

यस्त्वनेकान्ततावादस्तस्माद्दवापातदण्डितः ॥

यदस्ति यस्तु, तत्तद्देवा मर्वत्र मर्वथा सर्वात्मनास्त्येव निर्वाचनीयेन रूपेण—यथा प्रत्यगात्मा । यत्तु कश्चित्कथंचित्कदाचित्केनचिदात्मनास्तीत्युच्यते— यथा प्रपञ्चः, तदावधारतः; न तु परमार्थतः । मत्त्वामत्ययोर्वस्तुधर्मत्वे अमस्वदशायापि मत्त्वानुश्रयापातान् । यस्तुस्वरूपत्वे च सर्वदा मस्वप्रमद्वेन भोगेनापि घटेन मधुधारणप्रमत्तादि-

त्यादेसारम्भणाधिकरणे दर्शितत्वात् । व्यावहारिकप्रपञ्चविषये च प्रवृत्तिनिवृत्ती संभवतः । न च व्यवहारविषयत्वमात्रेण सत्यत्वम्, देहात्मत्वादेरापि सत्यत्वप्रसङ्गात् । सर्वस्यानेकान्तत्वं तु वस्तुनिर्णयस्याप्यनेकान्तत्वेन स्वपक्षासिद्धेः । तस्मादनेकान्तवस्त्वसंभवात्तद्ब्रह्माद्वैतविरोधः । नापि जीवस्य देहपरिमाणत्वादपरिमितब्रह्मात्मत्वासंभवः । मध्यमपरिमाणत्वे साध्यवत्त्वेनानित्यत्वप्रसङ्गे सति तदसिद्धेः । अपि च मोक्षावस्थान्तजीवपरिमाणस्य त्वया नित्यत्वमभ्युपगम्यते, तच्च तर्ह्येव नित्यं स्यात् यदि प्रागनादिकाल आसीत् । इतरथा प्रागभावत्त्वापत्तौ नित्यत्वासिद्धेः । न चैकस्मिन्द्रव्ये युगपदनेकपरिमाणम्, विरोधात् । तथा च एकरूपपरिमाणस्य न हि हस्तिपुच्छिकादिशरीरपरिमाणता इति ॥

प्रत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ७ ॥

अद्वितीयब्रह्मसमन्वयस्य जगदुपादानाधिष्ठातृभेदविषयानुमानविरोधसंदेहे, सत्त्वासत्त्वयोरैकत्रासंभववदधिष्ठातृत्वोपादानत्वयोरप्येकत्रासंभव इति प्राप्नोति । 'प्रकृतिश्च' इत्यत्र श्रुत्या लभयकारणत्वमुक्तम्, इह त्वनपेक्षयैव श्रुतिम्, अनुमानद्रूपणार्थमुपक्रमः । तन्न—

न द्रव्यं प्रत्युपादानमीश्वरधेतनत्वतः ।

शुद्धात्तदन्नियन्तुर्हि नियम्यत्वं विरुध्यते ॥

कुलालस्य सुखदुःखाद्युपादानत्वात्साध्यवैकल्यवारणाय इ-
व्यप्रहणम् । मृदादीनि द्युपादानानि नियम्यानि कुलालादि-
भिः । ईश्वरस्य तु जगन्निमित्तोपादानत्वे एकस्यैवाधिष्ठाएत्व-
मधिष्ठेयत्वं चेति न्यायातो विपक्षे बाधकः । उपादानं तु
जगतः परमाणवः प्रधानं चेति प्राप्ते, अभिधीयते—

अविगम्य श्रुतेरीशमनुपादानता यदि ।

अनुमीयेत बाधः स्यादाश्रयासिद्धिरन्यथा ॥

न तावदप्रमितेश्वरेऽनुपादानत्वं माध्यमं, आश्रयासिद्धेः ।
प्रमितेरपि तस्य वेदान्, परिक्रमेयागमान्, अनुमानाद्वा ?
नाद्यः; 'प्रकृतिस्र' इत्यत्र वेदस्यांभयकारणत्वपरत्वस्योक्तत्वा-
त् । अत एव बाधितविषयत्वम् । न द्वितीयः; ईश्वरप्रामाण्या-
दागमप्रामाण्यम्, आगमप्रामाण्यादीश्वरप्रामाण्यमिति इतरे-
तराश्रयत्वापत्तेः । न तृतीयः; आद्यं कार्यं महत्त्वं,
कार्यत्वान्, पटवन्- इत्यस्य जीवादृष्टजत्वेन मिदसाधन-
त्वान् । अध्यवहितप्राकारवर्तिप्रयत्नजन्यत्वमापने आद्यकार्य-
याध्यवहितप्रयत्नजन्यत्वस्य कुम्भेऽसंभवेन माध्यवैकल्यान्,
कुम्भाध्यवहितप्रयत्नजन्यत्वस्य आद्यकार्ये वापान् । यत्किंचि-
दध्यवहितप्रयत्नजन्यत्वस्य च अट्टप्राध्यवहितप्रयत्नजन्यत्वेन
मिदसाधनान् । अहर्षं कम्पचित्प्रत्यक्षम्, मेयत्वान्-पटवन्-
इति केवलान्वयिन्यपि योगिभिरर्थान्तरत्वान् । कार्यं सर्ववि-
त्त्वत्त्वं, कार्यत्वादिति केवलव्यतिरेकिण्यपि सर्वार्थान्तरता ।

महाविद्याश्चैतद्विषया वेदान्तकल्पतरौ निर्भर्त्सिताः । न च प्रकृतित्वाधिष्ठातृत्वयोरेकत्र विरोधः; अधिष्ठात्रन्तरानपेक्षस्योपादानशक्तिमत्त्वस्यैवोभयकारणत्वशब्देन विवक्षितत्वान् । भाष्यटीकयोस्तु कुलाद्यादिदृष्टान्तेन जगत्कर्तुरीश्वरस्यानुमाने तद्द्रागादिमत्त्वापत्तेर्वाद्यभिमतधर्मविशेषविरुद्धो हेतुरित्युक्तम् ॥

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ८ ॥

जीवाभिन्नब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य जीवोत्पत्तिप्रतिपादकपाश्वरात्रभृतिविरोधसंदेहे, अधिष्ठातैवेश्वर इति मते निरस्ते, प्रकृतिरपि न इति मतस्य वेदसंमतत्वाजीवोत्पत्तावपि प्रमाणत्वम्— एवंभूतावान्तरसंगतिलोभेन स्मृतिपादसंगतमप्यधिकरणमिह लिखितम् । तत्र—

इतोक्तं न पुराणेषु व्यामोहार्थमितीरितम् ।

पश्वरात्रमतो जीवो विकार इति मीयते ॥

पश्वरात्रकर्तुर्वासुदेवस्य वेदादेव सर्वज्ञत्वावगमान् कपिलपतञ्जल्यादीनां च जीवत्वान्, पश्वरात्रस्य च पुराणेषु बुद्धादिदर्शनवत् व्यामोहार्थमीश्वरप्रणीतत्वाश्रयणात् महानिमित्तत्वप्रकृतित्वसंप्रतिपत्तेश्च जीवोत्पत्तावप्यद्वैताख्यापातात्तद्विद्वद्जीवोत्पत्तिरथाभ्या । अत एवागनार्थता च । एवं प्राप्ते, अमिधीयते—

बुद्धिपूर्वकृतिस्तत्रं ब्रह्मनिःश्वसितं श्रुतिः ।
तेन जीवजनिस्तत्र सिद्धा गौणी नियम्यते ॥

यावद्द्वेषेच्छेदो वेदाविरोधादीश्वरबुद्धेर्बेदमूलत्वं वेदाद्वा सर्वविषयत्वं प्रतीयते, तावदेव स्वतःप्रमाणवेदाज्जीवानुत्पत्ति-
प्रमितौ तादृशबुद्धिपूर्वकेश्वरवचनात्त्र जीवोत्पत्तिरवगन्तुं श-
क्यते । अतः प्रमाणापहृतविषये गौणं तद्वचनम् ; न तु भ्रान्तं
पूर्वोक्तयुक्तिभिरिति । यद्यपि जीवोत्पत्तेर्ब्रह्माद्वैताविरोधित्वं
तथापि मोक्षविरोधित्वमस्त्येव । विकारस्य प्रकृतिलये स्वरू-
पनाशान्मोक्षफलभाक्त्वायोगादिति ॥

इति श्रीमत्परमहमपरिब्राजकाचार्यश्रीमदनुभवात्मनन्दपूज्य-
पार्दाशय्यभगवदमभानन्दविरचिने शास्त्रदर्पणे
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



तृतीयः पादः ॥

न विद्यदश्रुतेः ॥ १ ॥

पूर्वं प्रमाणान्तरविरोधः समन्वयस्य निरस्तः, संप्रति श्रुतीनामेव परस्परविरोधो निराक्रियते । तत्रापि वियत्पादे भूतभोक्तृविषयाणां वाक्यानां विरोधः परिह्रियते । प्राणपादे तु भौतिकभोगोपकरणप्राणादिविषयवाक्यानाम् । छान्दोग्ये 'तत्तेजोऽसृजत' इति तेजःसर्गः प्रथमं श्रूयते, मैत्रिरीयके तु 'आत्मन आकाशः संभूतः' इत्याकाशसृष्टिः प्रथममात्रायते, इमे श्रुती प्रमाणमप्रमाणं वेति संशयः, विरोधसंभवासंभवाभ्याम्; एतस्मंशयबीजं सर्वत्र द्रष्टव्यम् । तत्र—

द्वयोः प्रथमजत्वं न गगनस्योपसंष्टौ ।

न तेजः प्रथमं स्याच्च स्रष्टुः सृज्यद्वयान्वयः ॥

न तावत्कमोत्पत्तौ तेजः प्रथमम् आकाशश्च प्रथमं सृष्ट इत्युपपत्तये । युगपत्तयोः स्रष्टौ च 'वायोरग्निः' इति तेजस्त्वतीयत्वविरोधः । अथ छान्दोग्ये तेजःसर्गात्प्राग्बिद्यदुत्पत्तिरूपसंद्ध्येत, तदस्तेजःप्राथम्यमह्नः । तद्द्रष्टा तेजोऽसृजत तदाकाशमसृजत— इति स्रष्टृच्छ्रुतस्य स्रष्टुः स्रष्ट-

व्यद्वयसंवन्धात्पदावृत्त्या वाक्यभेदश्च । तस्माद्विरोधादप्रा-
माण्यम् ।

अत्रकदेश्याह—

तेज एव प्रथमं सृष्टम् आकाशस्तु न जायते, अस्पर्श-
द्रव्यवान्—आत्मवान् । 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदसृष्टम्' इत्या-
दिश्रुतेश्च । तदुत्पत्तिश्रुतिस्तु गौणी, कृपाकाशजन्मवत् । तस्मा-
च्छ्रुत्योर्न प्रतिषेध इति । एवमाध्यायपरिसमाप्तेः प्रथमं श्रुति-
विरोधः, तत एकदेशिनः समाधानम्, ततः सिद्धान्त इति
द्रष्टव्यम् ॥

अत्रोच्यते—

प्राथम्यस्याश्रुतस्तेजस्वाकाशोत्पत्तिराहता ।

वाक्यद्वयेन स्रष्टुः स्यात्स्रष्टव्यद्वयसंगतिः ॥

न तावत्तेजः प्रथममसृजतेति श्रूयते । नापि प्रथमस्थाने
श्रवणात्प्रथमं सर्गः कल्पनीयः । 'वायोरग्निः' इति श्रुत्या
पूर्वायत्यायगमान् । स्थानस्य च भूतेर्दुर्धलत्वान् । अत एव च
प्रथमस्थाने तेजःसर्गश्रवणादाकाशानुत्पत्तिरपि न कल्प्या ।
'आकाशः संभूतः' इति भूतिविरोधाद्देव । अस्तु वा तेजः-
प्राथम्यभूतिः, तथापि कर्मवत्याः आकाशोत्पत्तेर्वाधादरे तेजः-
प्राथम्यस्य कर्मस्य धर्मस्यैव भङ्गः । न चान्ति प्राथम्यभूतिः ।
तस्मान्तेजो जन्ममात्रपरा दान्दोग्यभूतिः आकाशोत्पत्तावधि-
दैवेति भाषाशोत्पत्तिदान्दोग्ये कर्मवद्दत्तव्या । न च स्रष्टव्य-

तस्य सृष्टः सृष्टव्यद्वयसंबन्धानुपपत्तिः । आकाशोपसंहारे वा-
क्यद्वयकल्पनात् वाक्यद्वयेन संबन्धद्वयबोधने विरोधाभा-
वात् । एवं श्रुत्योरविरोधः ॥

यत् एकदेशिनोक्तम् आकाशात्पत्तिर्गौणी— इति । त-
दुक्तम् । मुख्यसंभवे गौणायामात् । आकाशामृतत्व-
श्रुतेः प्रविज्ञाश्रुत्या आपेक्षिकामृतत्वपरत्वात् । अत्र एक-
विज्ञानहेतुकसर्वविज्ञानप्रविज्ञाया मृदादिदृष्टान्तैः प्रकृतिवि-
कारानन्वयत्वेनोपपाद्यमानतया गौणत्वेन व्याख्यातुमशक्य-
त्वात् । ब्रह्माव्यतिरेकः नमस्तस्य जगतोऽवगम्यते । ‘ए-
कमेवाद्वितीयम्’ इति च साभ्यासैः शब्देरेषा प्रतिज्ञा
समर्प्यते । तत्राकाशोऽपि ब्रह्मविकारतया तदव्यतिरिक्तः
स्यात् । तस्मान्न श्रुत्या आकाशानित्यत्वमिद्धिः । नाप्य-
नुमानात्, अतर्शद्व्यत्वस्याभूतत्वेन सोपाधिकत्वात् । आ-
काशं च जन्मवत्, भूतत्वान्, पृथिवीर्षदिति सत्प्रति-
पक्षितत्वाच्च । परमाणवश्च पक्षतुल्याः । विभक्तत्वात् इति
सूत्रोक्तहेतुना परार्थीनसत्ताकत्वमात्रं साध्यम्, न कार्य-
त्वम् । अविचार्या प्रागभावादीं च व्यभिचारात् । वि-
भक्तत्वं च धर्मिसमानसत्ताकविभागवत्त्वं हेतुः । अतश्च
नात्मनि अपराधीनसत्ताके व्यभिचारः । आत्मनि विभा-
गस्य कल्पितत्वेनाकल्पितात्मसमानसत्ताकत्वाभावात् । प-
राधीनसत्ताकत्वेनाकाशस्य कल्पितत्वे सूत्रसिद्धे, विकार-

त्वं भूतत्वेन सिद्धमनुसर्तव्यम् । न च सूत्रवैयर्थ्यम्,
विभक्तमात्रं मिथ्येति साधनेनाद्वैतपारमार्थिकत्वस्य प्रस-
ङ्गेन प्रतिपादनलाभात् ॥

एनेन मानरिश्वा न्याख्यातः ॥ २ ॥

अभ्यासाद्वायुनित्यत्वाद्ब्रह्मानन्त्यार्थमीरणात् ।

वायूत्पत्तेर्विरोधेन श्रुतीनामप्रमाणता ॥

‘संपानस्तमिता देवता यद्वायुः’ इति वायुनित्यत्वं श्रूयते ।
‘आकाशाद्वायुः’ इति उत्पत्तिः । एते श्रुती किमप्रमाणं
प्रमाणं वेति विरोधासम्भवसम्भवाभ्यां संशयः । पूर्वस्य
‘एकमेवाद्वितीयम्’ इति माभ्यामैः शब्दैरद्वैतप्रतिपाद-
नान् एकविज्ञानहेतुकमवविज्ञानप्रतिज्ञा न गौणीत्युक्तम् ।
तद्वन् ‘वायुश्चान्तरीक्षं चैतदमृतम्’ इति, ‘संपानस्तमिता
देवता यद्वायुः’ इति च वायुनित्यत्वस्याभ्यासान्न गौण-
त्वम् । छान्दोग्ये वायुजन्माश्रवणाच्च । तैत्तिरीयके ‘सत्त्वं
ज्ञानमनन्तम्—’ इति ब्रह्मानन्त्यं प्रतिज्ञाय तस्मिद्धर्षम्
‘आकाशाद्वायुः’ इति वायुजन्माभिधानाद्वायुजन्मापि न गौ-
णम् । अतश्च विरोधादुभयविधश्रुतयो न प्रमाणमिति पूर्व-
पक्षः । अत एवानिदेशस्याभ्यधिका शङ्का, वायुनित्यत्वाभ्या-
मादिति । तथा माभ्यामवायुजन्माश्रवणाद्वायुजन्म गौणम् ।
अतः श्रुत्योरविप्रतिषेध इत्येकदेहिमतम् ॥

अत्रोच्यते—

प्रतिज्ञायाः प्रधानत्वाद्वायुचेस्तदर्थतः ।

अद्वैतश्रुतिबाहुल्याज्जनौ वायोर्न गौणता ॥

बृहदारण्यके हि तृतीयेऽध्याये 'अनेन ह्यात्मनैतत्सर्वं वेद' इत्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम् । प्रतिज्ञा च प्रधानम् । 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्' इति वाक्यं चतुर्थाध्यायगमककार्यवाच्यादिप्रदर्शनेन तदुपपादकम्, तार्त्तियात्मैवोपासीतेति सूत्रव्याख्यानार्थत्वाच्चतुर्थस्य । तथा च 'नेति नेति इति वाग्वादिर्कं जगदुपरिष्ठाभिपेत्स्यति । अतः प्रधानवाक्यानुसारेणावान्तरवाक्यगतममृतत्वादि आपेक्षिकम् । विशेषतश्च 'सैषानस्तमिता देवता' इत्येतत् उपास्यवायुदेवतास्तुत्यर्थम् । 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्येवमादीनामद्वैतप्रतिपादकश्रुतीनां बहुलत्वादवान्तरवाक्यैरपि षट्पुभिर्वाय्वमृतत्वानलमित्यश्रुती नेतव्ये ॥

अमंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ३ ॥

'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिग्ना व्युत्तरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्व एवात्मानो व्युत्तरन्ति' इत्यात्मनः मकारादात्मान्तरोत्पत्तिः स्यात्, तथा 'यः कालकालो गुणी सर्वविद्यः, स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' इत्यात्मनोऽकारणकत्वात्तत्पत्तिराज्ञायते । अनयोः श्रुत्यो-

विरोधादप्रामाण्यमाशङ्कयते । ननु 'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च
ताभ्यः' इत्यत्र अभिविस्फुलिङ्गश्रुतिबलेन पूर्वः पक्षः ।
सत्यम्, तत्र हि ब्रह्मनित्यत्वमभ्युपेत्यैव जीवस्य तस्मादुत्प-
त्तिरेतच्छ्रुतिबलेन शङ्कियते । अत्र तु यथाग्नेरग्निरेव वि-
स्फुलिङ्ग उत्पद्यते, एवम् ब्रह्मान्तराद्ब्रह्मेति शङ्कयते । तत्र
विरोधादप्रामाण्ये प्राप्ते,

एकदेश्याह—

बहुश्रुतिविरोधात्त वाय्वाकाशाविनाशिता ।
मुख्यवमात्मनित्यत्वं श्रुतिमानान्तरक्षतेः ॥

यथा हि 'वायुश्चान्तरिक्षं चामृतम्' 'सैवानलमिता दे-
वता यद्वायुः' इति च श्रुतिद्वयं बहुतराद्वैतश्रुतिविरोधात्पे-
क्षिकम्, एवम् 'न चास्य कश्चिज्जनिता' इति श्रुतिः अभि-
विस्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुत्या, आत्मा कार्यम्, कारणत्वादाका-
शाशब्दित्यनुमानेन च, आपेक्षिकविषयेति प्राप्ते, अभिधी-
यते—

मतो जन्म न मद्रूपाद्भेदादमतोऽपि न ।

विरोधाप्रामाण्यनिर्वाच्यात्तस्यैव मत उद्भवान् ॥

न तावदमन्मात्राद्ब्रह्मण उत्पत्तिः, तस्यैव ब्रह्मत्वेन स्यात्
एव श्रुतेर्नित्यविरोधान् । नाप्यमन उत्पत्तिः । कार्यं कति
पक्षकाम्यतिक्रान्ते विनश्यति, तस्य मत्स्ये न त्वभाषः । सत्य-
भावस्यामत्स्यार्थभवान् । नापि धर्मः । अमत्स्यधर्मदशाया-

मपि कार्यानुवृत्तिप्रसङ्गादित्यनिर्वाच्यम् । तस्योत्पत्तिर्नाम समारोपः । न च समारोपोऽसदधिष्ठानो दृष्टः । सत एव शुक्ति-
कावेरनिर्वाच्यरजताद्युत्पत्तिदर्शनात् । अत एवानिर्वाच्यात्कार्यात् ब्रह्मणः उत्पत्तिरयुक्ता । एवं च अनुपपन्नार्था अग्निवि-
स्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुतिरौपाधिकोत्पत्तिपरा । यन्तु कारणत्वानुमानं तत् उक्तप्रतिकूलतर्कपरादतम् ॥

तेजोऽनस्तथाह्याह ॥ ४ ॥

‘तत्तेजोऽमृजत’ इति तेजसो ब्रह्मोपादानत्वं श्रुतम्, तैत्तिरीयके ‘वायोरग्निः’ इति वायुपादानत्वम् ; अतो वि-
रोधः । अध्यस्तस्य अधिष्ठानत्वासंभवात् ब्रह्मणः कुतश्चित्संभव इत्युक्तम् । तर्हि वायोरप्यध्यस्तत्वात्ततो न तेजोजन्म, किंतु ब्रह्मण एवेति प्रत्यवस्थीयते ॥

तत्रैकदेश्याह—

बहुश्रुतिविरोधान्नः क्रमार्था पञ्चमीश्रुतिः ।

साभ्राद्ब्रह्मोद्भवे लभ्ये व्यवधानं न गृह्यते ॥

ब्रह्मयोन्वेष्य तेजः, ‘इदं सर्वममृजत’ ‘तत्तेजोऽमृजत’ ‘सर्वं तत्रलान्-’ इति ब्रह्मणः अतयः साभ्राद्ब्रह्मजं तेज आहुः । तदनुरोधेन च ‘वायोरग्निः’ इति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी वायोरनन्तरमागिरिति क्रमार्था । यद्यप्यपादानकारकप-
ञ्चमी अनन्तरमित्युपपदाध्याहारनिरपेक्षत्वादिग्योगपञ्चम्या

बलीयसी, तथापि बहुश्रुतीरनुगृहीतुम् एकाकिनी कारकवि-
भक्तिरुपेक्षणीया । अपि च वायुपादानत्वे तेजसो ब्रह्मज-
त्वश्रुतयो वायुद्वारा ब्रह्मजत्वपराः कल्पनीयाः । न चा-
व्यवधानलाभे व्यवधानं युक्तम् । एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्र-
तिज्ञा चैवमाश्रयसी । तस्माच्छ्रुत्योरेवमविरोध इति प्राप्ते,
अभिधीयते—

वायुब्रह्माविभागेन ब्रह्मजत्वाविरोधतः ।

अपादानार्थपञ्चम्या वायुप्रकृतिकोऽनलः ॥

बलीयसी कारकविभक्तिरसति बाधके न त्यागमर्हति ।
न च वायुजत्वे तेजसो ब्रह्मजत्वं विरुध्यते, वायोः
सत्यप्यनिर्वाच्ये भेदे तत्त्वतो ब्रह्माभेदात्तमेवादाय वायु-
जस्यापि तेजसो बह्वीभिः श्रुतिभिर्ब्रह्मजत्वाभिधानात्; ता
दि साक्षाद्ब्रह्मजत्वं वदन्त्यो वायोरात्मभूताद्ब्रह्मण उत्पत्तौ
ब्रह्ममात्रादुत्पत्तौ च, तेजसो न विरुध्यन्ते । वायोरात्मभूतं
च ब्रह्म सत्यमित्यधिष्ठानत्वोपपत्तिः । अतः कांस्यभोजिन्या-
येन कारकविभक्त्यनुप्रहाय वायुजत्वमिष्यते । अत एवाव्य-
वधानमपि स्वीकृतम् । प्रतिज्ञापि सद्ब्रह्मत्वात्तेजसो न वि-
रुध्यते ॥

आपः ॥ ५ ॥

अतिदेशोऽयम्, 'अतः तथास्याह' इति सूत्रावयवानुपक्ले-
ण तन्न्यायातिदेशद्योतनान् । अतश्च आपः किं मतो जाय-

न्ते, किं वा तेजस इति संशयादि पूर्ववत् । तथाहि—
 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्युपक्रम्य 'सं वायुर्ज्योतिरापः'
 इति श्रुत्या ब्रह्मजत्वमपां प्रतीतम्; 'अग्नेरापः' इति कारक-
 पञ्चमीश्रुत्या च तेजोयोनित्वम्; ततः श्रुत्योर्विरोधः । 'इदं
 सर्वमसृजत' इत्यादिवहुश्रुत्यनुसारेण पञ्चमी क्रमार्था इति
 श्रुत्योरविरोधः— इति एकदेशिमतम् । सिद्धान्तस्तु— ब्रह्मणः
 श्रुतयः ब्रह्मजत्वमाहुः; ताः ब्रह्मतेजसोर्वास्तवाभेदात् तेजोयो-
 नित्वेऽप्यपामविरुद्धाः । अतः कारकपञ्चम्या तेजोयोनय आप
 इति । अधिकाशङ्का तु अपामग्निदाहत्वादग्नेरुत्पत्त्ययोगात्
 'अग्नेरापः' 'तदपोऽसृजत' इति श्रुती गौण्याविति । परि-
 हारस्तु— अत्रिवृत्कृताग्नेजसोरविरोध इति । भास्करस्तु 'आप
 एवेदमप्र आसुः' इति श्रुत्या अपां प्रलयस्थत्वान्नित्यत्वमाशङ्क्य
 तस्याः श्रुतेरवान्तरप्रलयं विषयं प्रदर्श्य अनेन सूत्रेण निरस्यत
 इत्याह । तस्यैवैकत्वान्न युज्यते । 'तथा प्राणाः' इत्यत्र हि
 'ऋषयो वाच त अम आसन् प्राणा वाच ऋषयः' इति श्रुत्या
 प्राणानां प्रलये सत्त्वान्नित्यत्वमाशङ्क्यायमेव परिहारो व-
 क्ष्यत इति ॥

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ ६ ॥

गृष्टावपां पृथिव्याञ्च तेजसोऽद्रपभानन्तर्यादधिकरणद्व-
 यस्य पुद्गिमंनिधानात्मंगतिः; 'ता आपोऽप्रमसृजन्त' इति,
 'अद्रपः पृथिवी' इति च श्रुती विरुद्धार्थे; तत्राविरोधे

वर्णनीये किं पृथिवीशब्दः पृथिवीकार्यव्रीह्यादि तत्कार्यम् ओ-
दनादि वा अन्नशब्दानुसारेण लक्ष्यतु, अन्नशब्दो वा अन्न-
कारणे पृथिव्यां लक्षणया वर्ततामित्युभयत्र लक्षणासा-
म्याद्विशये,

एकदेश्याह—

श्रुती ममे काण्यमपीह पृथ्व्यां
व्रीहौ च तुल्यं बलवत्तु लिङ्गम् ।
भूताधिकारादिति भूविकार-
व्रीह्यादि लक्ष्य पृथिवीपदेन ॥

अन्नपृथिवीश्रुती तावदुभयत्र समाने; यत्तु च्छान्दोग्ये
'यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति कृष्णरूपत्वमुक्तम्, तत्पृथिव्यां व्रीहौ
च तुल्यम्, क्वचिद्धि पृथिवी कृष्णा शालिमापादिकमपि किञ्चि-
दन्नं कृष्णम् । यत्तु 'तत्तेजोऽसृजत' इति महाभूतप्रकर-
णम्, तन् 'यत्र कचन वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति' इति
वर्षनिमित्तबहुभावापत्तिलिङ्गाद्वाक्यशेषगतादुर्वलम् । व्रीह्या-
द्येव हि वर्षाद्बहु भवति; न पृथिवी । तस्मात् 'अद्भ्यः पृथि-
वी' इति श्रुत्यन्तरगतपृथिवीशब्दोऽन्नलक्षणार्थेति प्राप्ते, अभि-
धीयते—

साभ्यासपृथिवीश्रुत्या लिङ्गात्प्रकरणादपि ।

अन्नशब्दो महीलिङ्गमन्यथाप्युपपद्यते ॥

'अद्भ्यः पृथिवी' इति, 'तद्यद्वापं शर आसीत्सा पृथि-

व्यभवत्' इति च पृथिवीश्रुतिरभ्यस्यते; महाभूतप्रकरणं चास्ति; रूपमपि बाहुल्येन काष्ण्यं पृथिव्याम्; नान्यस्य । तत्र अभ्यासलिङ्गप्रकरणानुगृहीतपृथिवीश्रुत्या केवलान्नश्रुति-
लक्षणिकी । यत्तु तस्याप्यनुपाहकं लिङ्गं वर्षणाद्भूयिष्ठत्वम्,
तद्गीर्वादारूपपरिणतपृथिव्या उपपन्नं लिङ्गप्रकरणबलादेव ॥

तदभिध्यानादेव तु तद्विज्ञात्सः ॥ ७ ॥

सृष्टिक्रमे भूतानामविरोध उक्तः; इदानीं तेषां कार्योत्पा-
दकत्वमविरोधेन निरूप्यते; तत्र न तावदेषां ब्रह्माधिष्ठिता-
नामेव कारणत्वं नान्यथेति चिन्त्यते; ईक्षत्याद्यधिकरणग-
तार्थत्वात् । नापि मक्षण एव तत्तद्भूतात्मनावस्थितस्योत्तरोत्तर-
कार्योपादानत्वम्; 'तेजोऽतः' इत्यत्र तन्निर्णयान् । तस्मादि-
हाकाशादिभूताधिष्ठात्र्यो देवताः किं स्वतन्त्रा एव उत्तरसर्गे
प्रवर्तन्ते, उत परमेश्वरपरतन्त्रा इति विचार्यते । अत्र च
पूर्वपक्षे आकाशादिशब्दान्स्तदभिमानिदेवतापराः; 'आकाशा-
त्' इत्यादिशब्दान् स्यावन्त्येण कारणत्वनिर्देशान्; अचेतना-
नां तदनुपपत्तेः । दृष्टं च 'यमाकाशौ न वेद' इत्यादावाका-
शादिशब्दानां देवतापरत्वम् । यद्यपि 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इत्यत्र
जीवकर्तृत्वमेश्वरार्थीनमिति बध्यते, तथापि इह देवताना-
मैश्वर्ययोगात्स्वातन्त्र्यमाशङ्क्यते । न च देवतानामपि अत्र
ईश्वरार्थीनत्वं निन्दे, कैमुतिकन्यायेन जीवमात्रेष्वपि तत्सिद्धे-
स्तदधिकरणानारम्भः शङ्कनीयः; मत्पि देवतानां महाभूत-

सृष्टावीश्वरपारतन्त्र्ये विहितक्रियाकर्तृत्वादौ क्षुद्रे जीवमा-
प्रत्यापि स्वातन्त्र्यशङ्कोदयसंभवात् । तत्र 'आकाशाद्वायुः'
इत्यादि श्रूयते 'य आकाशे तिष्ठन्नाकाशमन्तरो यमयति' इत्ये-
वमादि च ; अनयोः श्रुत्योराकाशादिस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यवि-
पयतया विरोधे सति,

एकदेशी वक्ति—

चेतनस्यानपेक्षत्वात्स्वातन्त्र्यश्रवणादपि ।

देवताभावमापन्नं ब्रह्म भूतनियामकम् ॥

अचेतनं हि प्रवृत्तावसमर्थं चेतनमपेक्षते ; देवानां तु चेत-
नत्वाग्नेश्वरापेक्षा कारणत्वे । 'आकाशाद्वायुः' इत्यादिस्वा-
तन्त्र्यं च श्रुतम् ; अतः 'य आकाशमन्तरो यमयति' इत्येव-
मादिवाक्यमाकाशाधिष्ठातृदेवतात्मभावेन व्यवस्थितस्य ब्रह्मण
आकाशादिनियन्तृत्वपरम् । तस्माद्यथा आकाशाद्यात्मना
ईश्वरो वाय्वाद्युपादानम्, एवं तदभिमानिदेवतात्मना तदधि-
ष्ठातेति न पृथगन्तर्यामिता ब्रह्मण इति प्राप्ते, अभिधीयते—

उपादानत्वमात्रार्थाः पञ्चम्योऽतो न लक्षणा ।

भृत्यवत्परतन्त्राः स्युर्लक्षिता अपि देवताः ॥

'आकाशात्' इत्यादी हि आकाशादिशब्दा भूतवाचकाः ;
न देवतालक्षकाः । न च पञ्चम्यः स्वातन्त्र्यमाहुः ; अपि तु
प्रकृतित्वम् । यद्यपि अत्र नियन्ता न निर्दिष्टः, तथापि 'यः

पृथिव्यां तिष्ठन्त्यः पृथिवीमन्तरो यमयति' इति श्रुत्यन्तरा-
 श्रियन्ता अधिगतः ; तथा 'मोऽकामयत' इत्युपक्रम्य 'सद्य
 त्यद्याभवत्' 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति सर्वात्मक ईश्वरः
 कर्ता श्रूयते ; एते च श्रुती सति संभवे न जीवभावापन्ननि-
 चन्त्परत्वेन संकोचमर्हतः— इति ब्रह्म भूतनियन्तृ लक्ष्य-
 ताम्, लक्ष्यन्तां वा देवताः ; ता अपीश्वरवशाः, भूत्यादीनां
 राजाधीनत्वदर्शनात् ॥

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ ८ ॥

अद्वैतप्रतिपक्ष्यर्थं भूतोत्पत्तिक्रमचिन्तानन्तरं लयक्रमश्चि-
 न्त्यते । यद्यपि श्रुतिविप्रतिषेधो न परिह्रियते, तथाप्युत्पत्ति-
 क्रमे निरूपिते लयक्रमो बुद्धिस्थो विचार्यत इति प्रासङ्गिक्यौ
 पादावान्तरसंगती । भूतानां किमुत्पत्तिक्रमेणैव लयः, वैपरी-
 त्येन वेति संग्रहः, उत्पत्तिक्रमस्य श्रौतत्वाद्द्विपरीतलयक्रमस्य
 लोके षटादौ दृष्टत्वाच्च ॥

तत्र

श्रौतस्य संनिधेर्लोकदृष्टस्य व्यवधानतः ।

लयक्रमो नियम्येत भूतजन्मगतक्रमान् ॥

अत्रोच्यते—

संनिधायप्ययोग्यत्वान्न जन्मक्रमतो लयः ।

अतिसंनिहितो स्रोतः भूतेर्भुत्पत्त्युपापठः ॥

पदपदार्थसंबन्धग्रहे हि लोकः श्रुत्या प्रथममपेक्षितत्वात्
वाक्यादपि संनिहितः, वाक्यप्रवृत्तेर्व्युत्पत्त्युत्तरकालत्वात् ;
लोके च उत्पत्तिक्रमविपरीतो लयक्रमः ; सत्यां हि मृदि घटो
लीयते ; मृद्भयानन्तरं घटलये हि मृदभावेऽपि घटस्तिष्ठेत् ।
तस्मादयोग्यत्वात्तत्पत्तिक्रमाद्भय इति ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति
चेन्नाविशेषात् ॥ ९ ॥

आत्मनो भूतानां चान्तराले कार्यान्तराग्नानाद्भूतोत्पत्ति-
क्रम आक्षिप्यते, 'आत्मन आकाशः' इति श्रूयते, तथा 'यः
सर्वज्ञ. ..' इति प्रस्तुत्य, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वे-
न्द्रियाणि च । खं वायुर्व्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'
इति च ; अनयोः श्रुत्योर्विरोधः, एकत्र आकाशादेः आत्मनः
सकाशादव्यवधानेनोत्पत्त्यभिधानात्, अन्यत्र च आत्मनः
प्रथमं करणोत्पत्तिमभिधाय चरमं भूतोत्पत्त्याभिधानाच्च । त-
त्रैकदेशी मूले—

प्रथमं करणोत्पत्तेश्चरमं भूतजन्मनः ।

नभःपूर्वकता भूतजन्मनो न विहन्यते ॥

भूतोत्पत्तौ च आकाशप्राथम्यस्य करणात्तां पूर्वमुत्पत्तावपि
न भद्र इति श्रुत्योर्विरोध इति प्राप्ते, अभिधीयते—

अन्नादिमयताम्रानान्मनआदिर्हि भौतिकः ।

भूतापन्नात्मनस्तस्मान्मनआदिसुद्भवः ॥

अन्नमयश्रुतिविरोधात् 'एतस्माज्जायते' इत्यत्र पाठक्रम-
भङ्गः ॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो

भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १० ॥

एवं तावत्तत्पदवान्यस्य कारणत्वनिर्णयाय भूतोत्पत्तिश्रुति-
विरोधोऽपास्तः ; इदानीमापादपरिसमाप्तेः त्वंपदार्थशुद्धये जी-
वोत्पत्तिविषयश्रुतिकलहो धारयिष्यते । अत्र जीवजन्मनिधन-
निमित्तवैश्वानरीयेष्टिश्चाद्धादिविधिशास्त्रस्य, न जीवो जायते
म्रियते—इत्यादिशास्त्रस्य च विरोधादप्रामाण्येन पूर्वः पक्षः ।
यदीन्द्रियोत्पत्तिर्न भूतोत्पत्तिक्रममन्यथयति, तर्हि जीवोत्पत्ति-
स्तमन्यथयेत् इति नङ्गायाम्, सैव नास्ति, कुतः कलहः ? इति
प्रतिपादनादवान्तरसंगतिः ; नास्त्यत्रैकदेशिमत्तम्, वैदिकानां
सर्वेषां मते जीवस्य नित्यत्वान् ; तत्र—

जातधैत्र्य इति ह्युक्त्या देहजन्म न कथ्यते ।

तस्मात्ते न हि देहाय भाद्धादिकरणं मतम् ॥

जातधैत्र्यो मृतधैत्र्य इति लोके मुच्य एव जीवो व्यव-
ह्रियते ; तज्जन्मनिमित्तं च जातकर्मादिकरणम् ; देहमात्राधि-

धाने उदरान्तर्मृतदेहनिर्याणेऽपि वैश्वानरीयेष्ट्यादिकरणप्रस-
ङ्गात् इति । अत्रोच्यते—

मृतेभ्यः श्राद्धनिर्माणं स्वर्गाद्यर्था यजिक्रिया ।
देहोद्देशेन नेत्यन्यजीवार्थत्वेन चोच्यते ॥

यद्यपि वैश्वानरीयेष्टिफलं पूतत्वादि पुत्रेणैवेह भोक्तुं श-
क्यम्, तथापि मृतेन श्राद्धजनिता तृप्तिर्न देहेन विनाशिना
भोक्तुं शक्या ; नापि यागफलं स्वर्गादि ; अतो देहनाशेऽपि
अविनाशिनात्मना भवितव्यम् । तस्माज्जातश्चैत्र इत्यत्र
जीवसंयुक्तदेहजन्म लक्ष्यते ; तन्निमित्तमेव जातकर्मादि
गर्भबीजगतदोषनिवृत्त्यर्थं विधीयते, न जीवजन्मनिमित्त-
मिति ॥

नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ ११ ॥

जीवानां महामर्गमहाप्रलययोः ब्रह्मण उत्पत्तिप्रलयौ विद्येते
न वेति श्रुतिविप्रतिपत्तेः मंशयः ; श्रूयते हि 'न जीवो
प्रियते' इति, 'यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा एवमस्मादात्मनः सर्व-
एवात्मानो व्युत्सरन्ति' इति च ; अतः श्रुत्योर्विप्रतिपेधः ।
तत्रैकदेश्याह— पूर्वस स्वर्गादिभोगाय देहनाशेऽप्यात्मा न
नश्यतीत्युक्तम्, तर्हि कल्पमात्रावस्थानेऽपि स्वर्गादिभोगसं-
भवात् जीवाः कल्पाद्यन्तयोरुत्पत्तिविनाशवन्तः ; जीवामरण-
भुविश्च देहध्वंसे जीवाध्वंमपरा । तथाहि—

विस्फुलिङ्गवदुत्पत्तेरक्षरेऽप्ययकीर्तनात् ।

प्रतिज्ञानुपरोधाच्च जायते जीव ईश्वरात् ॥

‘यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति’ इति श्रूयते; अत्र परमात्मना सरूपा भावा जीवाः, चेतनत्वात्; संसारी च जीवः असंसारिण ईश्वराद्विभ्रः, स चेन्न तद्विकारः, तद्विज्ञानात्त्र ज्ञायेत् । तस्माद्ब्रह्मविकारो जीव इति प्राप्ते, अभिधीयते—

जीवस्योपाधितो जन्म भेदश्च परमेश्वरात् ।

विकारस्य प्रलीनस्य न मोक्षफलभागिता ॥

अनाद्यविद्योपाधिकस्य जीवस्य अवान्तरोपाधिभूतलिङ्गशरीरस्य महासर्गादावुत्पत्तिप्रलयौ विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन श्रुतावुपचर्येते । औपाधिकत्वाच्च परजीवविभागस्य स्वत्र एकमे ब्रह्मज्ञानेन जीवज्ञानोपपत्तिः; स्वाभाविकविकारत्वे तु जीवस्य ब्रह्मप्रकृतौ लीनस्य न मोक्षः फलं स्यात्; तस्मात्प्रतिविम्बवद्विभागमात्ममारोपितम् । स्वरूपतस्तु जीवो ब्रह्मैव ॥

ज्ञोऽत एव ॥ १२ ॥

‘असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति’ ‘अत्रार्यं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति’ इत्यादिजीवस्वप्रकाशत्ववादिर्नीनाम्, ‘पश्यंश्चक्षुः

शृण्वन्श्रोत्रम्' इत्याद्यागन्तुकजीवचैतन्ययादिनीनां च श्रुतीनां विरोधः । पूर्वत्र जीवस्य ब्रह्मैक्यात् न जीवो जायत इत्युक्तम्, तत्रैक्यमेवासिद्धम्, आगन्तुकज्ञानस्य जीवस्य नित्यज्ञानेन ईश्वरेणैक्यायोगादित्याग्नेपिकी संगतिः । तत्रैकदेशी श्रुतीनामविरोधमाह—

ज्ञानेः सकर्मकत्वेन नयनाद्यथैवत्तया ।

अनित्यो जीवबोधस्तच्छक्तिं नित्यां श्रुतिर्बदेत् ॥

कर्मणा हि जानात्यर्थो व्याप्तः, अतस्तदभावे सुषुप्त्यादौ न भवेत्, भवति च आत्मा; तथा च न ज्ञानमात्मस्वरूपम्; तदनुवृत्तौ व्यावृत्तत्वात्, दुःखवत् । इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्च तज्जन्यं ज्ञानं न जीवस्वभावः; इतरथा इन्द्रियादिव्यव्यापातान् । जीवचैतन्यस्य नित्यत्ववादिभ्यः श्रुतयः तच्छक्तिनित्यत्वपराः । अस्मि हि ज्ञानोत्पादनशक्तिर्निता जीवानाम्, अन्यथा इन्द्रियादिसंनिकर्षेऽपि व्योम्नीव तेषु ज्ञानं न स्यात्; तस्माच्चैवा जीवा इति प्राप्ते, अभिधीयते—

आत्मा स्वयंप्रभः शश्वत्मंदेहरहितत्वतः ।

सकर्मिकास्तु जन्येरन्बुद्धिशुक्तय इन्द्रियैः ॥

आत्मा स्वयंप्रकाशः, शश्वत्मंदेहरहितत्वात्, यज्ञैवं तज्जैवं षट् इव; न च अमिद्धो हेतुः; न हि कश्चिदात्मनि संदिग्धे खामहम्, न वा— इति । न चैतन् परप्रकाशत्वे षट्ते; षटा-

दिष्वदर्शनात् । न चात्राप्रसिद्धविशेषणत्वम् ; अयं घटः एत-
दन्यज्ञेयत्वानधिकरणभासमानान्यः, प्रमेयत्वात्, पटवदिति
किञ्चिन्निष्ठे स्वप्रकाशत्वे सिद्धे, तस्मात्तन्मनुमानेन साध्यितुं
शक्यत्वात् ; सकर्मकत्वम् इन्द्रियजन्यत्वं च बुद्धिवृत्तीनां ज्ञा-
नानां भवति नात्मचैतन्यस्येति ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १३ ॥

‘ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः ’ ‘ स यदास्माच्छरीरा-
दुत्क्रामति सहैव चैतैः सर्वैरुत्क्रामति ’ ‘ ये के चास्माद्धोका-
त्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति तस्माद्धोकात्पुनरिति
अस्मै लोकाय कर्मणे ’ इत्याणुत्वश्रुतीनाम्, ‘ स वा एष
महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः ’ इत्यादिमहत्त्वश्रुतीनां च
विरोधः । पूर्वत्र स्वप्रकाशो जीव इत्युक्तम् ; तदयुक्तम् ; अणो-
र्जीवस्य मनोवत् स्वप्रकाशत्वायोगात् इत्येकदेशी प्रत्यक्षि-
ष्टत्वे । तथाहि—

उत्क्रान्त्यादेः परिच्छिन्नधर्मत्वाद्गुणाद्भवः ।

अणुर्जीवो महत्तास्य प्रकृत्यैक्यविवक्षया ॥

विभागसंयोगोत्पादौ हि उत्क्रान्त्यादीनां फलम् । न च
सर्वगतस्य तां सतः । सर्वगतत्वं हि सर्वत्र नित्यव्याप्तत्वम्,
सर्वात्मत्वं वा ; उभयथापि न तत्त्वतः संयोगाद्युपपत्तिः । यत्
जीवस्य महत्त्वान्नानम्, तत् प्रकृतिगतं विकारे जीवे उप-

चरितम् । विकाराणामुपादानाद्बस्तुतोऽनन्यत्वादिति प्राप्ते,
अभिधीयते—

महावाक्यादनन्तत्वमणुता गुणवाक्यतः ।

जीवस्याधिगता बुद्ध्युपाधिका सात इष्यते ॥

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ १४ ॥

‘असङ्गो ह्ययं पुरुषः’ इत्यादिश्रुतीनां विधिनिषेधादिश्रु-
तीनां च आत्मकर्तृत्वाकर्तृत्ववादिनीनां विरोधः ; यद्यपि जी-
वपरिमाणवत्कर्तृत्वमपि बुद्ध्युपाधिकमिति वक्तुं शक्यम्,
तथापि विधिश्रुतिप्रतिपादिनत्वात् तन्निर्ध्यात्वमयुक्तम् ; सर्वं
च कर्तृत्वं नात्मनः संभवति ; अतो बुद्धेरेव कर्तृत्वमिति सां-
ख्यैकदेशी प्रत्यवतिष्ठते । तथाहि—

कर्तृत्वे सक्रियत्वेन जीवानित्यत्वसक्तितः ।

धीः कर्तात्मा तु भोक्तैव भोगश्चिदवसानता ॥

न च भोक्तृत्वं सक्रियत्वम् ; तस्य साक्षित्वमात्रस्वरूप-
त्वान् इति प्राप्ते, अभिधीयते—

कर्तुः फलेन संबन्धो भोक्तुरेव हि कर्तृता ।

एषा चारोपिता शास्त्रैर्विध्यादिभिरनूयते ॥

कर्त्रपेक्षितोपायता को हि विधिः । भोक्तुश्चापेक्षितं फलं प्र-
त्युपायो विघातव्यः ; तस्माद्बुद्धेः कर्तृत्वमात्मनस्तु भोक्तृत्व-

मित्यसंगतम् । आरोपितेन कर्तृत्वेन आत्मनः सक्रियत्वम् ।
विधिश्च लोकसिद्धं तदनुवदतीति न विरुध्यते । भोक्तृत्व-
मप्यात्मनोऽध्यस्तमेव । तस्य चिन्मात्ररूपत्वे मुक्तावपि प्रस-
ङ्गान् ; तद्वत्कर्तृत्वमपि किं न स्यादिति ॥

यथा च तक्षोभयथा ॥ १५ ॥

कर्तृत्वाकर्तृत्वयोर्विरोधे, पूर्वं मिथ्या कर्तृत्वं पारमार्थिकम-
कर्तृत्वमिति विरोधः परिहृतः ; इदानीं पारमार्थिकेऽपि कर्तृ-
त्वे विरोधः परिहर्तुं शक्यते इत्येकदेशी प्रत्यवतिष्ठते—

उत्सर्गस्यानपोक्षत्वात्कर्तृत्वं वास्तवं श्रुतम् ।

अक्रियस्यापि कर्तृत्वान्मुक्त्यभावोऽपि नापत्तेत् ॥

विधिशास्त्रार्थवत्त्वादयो हि हेतवः कर्तृत्वमात्मन आपाद-
यन्ति ; न च स्वाभाविकत्वे संभवति असत्यपवादे तदौपा-
धिकं युक्तम् ; अतिप्रसङ्गात् । न च मुक्त्यभावप्रसङ्गोऽस्या-
पवादकः ; क्रियाया अभावेन मुक्त्युपपत्तेः । न च क्रियार-
हितस्य कर्तृत्वानुपपत्तिः ; ज्ञेयराहित्यमात्मनो ज्ञानरूपत्ववत्
क्रियारहितस्यापि कर्तृत्वसंभवादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

स्वभावो ज्ञानमात्रात्तमात्मनो न तु कर्तृता ।

क्रियाविष्टत्वरूपा सा क्रियाभावे न युज्यते ॥

‘सत्यं ज्ञानमनन्तम्’ इत्यादौ ज्ञानस्वरूपत्वमात्मनस्तात्प-

येणाम्नातम्; तदसत्यपि विज्ञेये युज्यते । कर्तृत्वं तु नात्मनः
स्वभावत्वेन आम्नातम्; ततस्तत्क्रियावेशात्मकम्; यदि त-
त्सिद्धयर्थं क्रियापि मुक्ताविष्यते, ततः दुःखापत्तेरमुक्तिः
स्यात्; न च कर्तृत्वशक्तिस्तस्यात्रास्थेया; सर्वतः उदासी-
नस्यात्मनः क्रियानुपपत्तौ, निर्विषयायास्तस्या अप्ययोगा-
दिति ॥

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ १६ ॥

‘एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्नि-
नीपते’ इत्यादिश्रुतीनाम् ‘यजेत’ इत्यादिश्रुतीनां च विरोध-
संदेहे, औपाधिक एव कर्तृत्वे प्रवर्तकविचारणात्संगतिः ।
एकदेश्याह—

रागात्प्रवृत्तेः पापानामीशानुज्ञाविरोधतः ।
विधिश्रुत्यर्थवत्त्वाच्च न जीवं प्रेरयेत्परः ॥

स्वत एव रागद्वेषाभ्यां प्रवर्तमानस्य जीवस्य नेश्वरापेक्षा ।
सुखदुःखवैषम्यं च सृजत ईश्वरस्य पक्षपातापातः । न च
कर्मापेक्षत्वाददोषः, कर्मणामपि तत्कारितत्वात् । पापकर्मणि
कारणिकस्य स्वतन्त्रम्य प्रेरकत्वायोगात्; ईश्वराधीनप्रवृत्तौ
च जीवे विधिप्रतिषेधवैयर्थ्यम् । न हि बलवदनिलनुद्यमाने
नरे विध्याद्यर्थवत्ता । तस्मात् ‘एष ह्येव’ इत्यादिश्रुतयः सम-
स्तविधिनिषेधश्रुतिविरोधाहोक्तविरोधाच्च ऐश्वर्यप्रशंसापरा ने-
या इति प्राप्ते, अभिधीयते—

जीवब्रह्मभेदाभेदश्रुतीनां विरोधः । पूर्वत्र जीवनिष्पन्ता ईश्वर
इत्युक्तम्, इदानीमीश्वरमाक्षिपन्नेकदेशी श्रुतीनामविरोधं च
वदन्प्रत्यवतिष्ठते—

अभेदे भेदगीर्वाणान्भेदेऽभेदश्रुतेर्हतेः ।

भेदाभेदविरोधाच्च नैश्वरोऽस्तीति मन्महे ॥

जीवब्रह्माभेदे ईशित्रीशितव्यादिश्रुतिविरोधः; भेदे च
'ब्रह्मदाशाः' इत्याद्यभेदश्रुतिविरोधः । न च भेदाभेदश्रुतिव-
शात् अंशत्वश्रुतिस्मृतिभ्यां च जीवो ब्रह्मांश इति युक्तम्;
अंशित्वे ब्रह्मणः कार्यत्वापातात् । अंशभूतजीवदुःखानां च
अंशब्रह्मण्यापत्तेः— देवदत्त इव पादादिदुःखानाम् । भेदाभेद-
योश्चैकत्र विरोधात् । न चैवं ब्रह्मैव सत्, असन्तस्तु
जीवा इति युक्तम्; तथा सति मुक्तसंसारिविभागस्य अनु-
ज्ञापरिहारविभागानां च विलोपप्रसङ्गात् । तस्माज्जीवा एव
सन्तः, न ब्रह्म; एकत्वश्रुतयस्तु जातिदेशकालप्रयुक्ताभेदोप-
चारात् इति प्राप्ते, अभिधीयते—

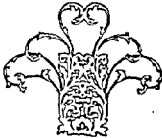
अप्राप्तेः प्रकमादेश्च वेदान्तैर्ब्रह्म मीयते ।

तस्यैव प्रतिविम्बत्वाज्जीवानां स्याद्यवस्थितिः ॥

प्रमाणान्तरागम्यत्वाद्ब्रह्मणः, तस्मिन्नेव वेदान्तानां प्रक्रम-
मप्योपसंहारप्रसङ्गात् लोकप्राप्तजीवानुवादेन तस्य ब्रह्मैक्यं
ते प्रतिपादयन्ति । जीवानां च ब्रह्मप्रतिविम्बत्वात्मुखदुःख-

न्धमोक्षादिव्यवस्था उपपद्यन्ते; प्रतिबिम्बाशुद्धावपि बिम्ब-
शुद्धिवत् जीवानां संसारित्वेऽपि ब्रह्म न संसारि इष्यते ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिभाषकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-
पादशिष्यभगवदमलानन्दधिरचिते शास्त्रदर्पणे
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥



चतुर्थः पादः ॥



तथा प्राणाः ॥ १ ॥

अत्र तथाशब्दाद्वियदादिवदुत्पत्तिमात्रमतिविद्यते, न तु तन्न्यायः; भेदान् । तत्र हि-द्वयोः प्रथमजत्वेन पूर्वपक्षः, अत्र तु प्राणानामुत्पत्तेः प्राक् जगद्गुत्पत्तेः सद्भावप्रयुक्तानुत्पत्तितश्च पूर्वपक्षः; अत एव भाष्यकारीयमिह वियदाधिकरणन्यायानुस्मरणम् अभ्युच्चयार्थमिति वाचस्पतिः प्रतिपादयाम्भूव । 'अमद्वा इदमप्र आमीन् । तदाहुः किं तदसदासीदिति कृपयो वाव ते अप्रेऽमदामीन् । तदाहुः के त ऋपय इति प्राणा वाव ऋपयन्ते यत्पुरास्मात्मवस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसापन् तस्मात्तपयः' इति प्राग्जगद्गुत्पत्तेः प्राणानां सद्भावश्रवणादनुत्पत्तिराग्रायते, अन्यत्र तु प्राणानामुत्पत्तिः पश्यते- 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युधरन्त्येवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा व्युधरन्ति' इति; ततश्च विरोधप्राप्ता, एकदेश्याह—

सद्भाववगतेः सर्गात्प्राणाले प्रश्नपूर्वकम् ।

नित्याः प्राणान्तथा सर्वकार्यात्प्राक्मत्त्वमंश्रवान् ॥

'किं तदमदामीन्' इति प्रश्नपूर्वकं प्राणानां सत्त्वमजातव-

दुर्घमज्ञानं विवक्षितम् ; 'पुरास्मात्सर्वस्मात्' इति च सर्वकार्यै-
भ्यः प्राक्सस्त्वमुच्यमानं न अथान्तरसृष्टिपरमिति इन्द्रियाणि
न जायन्ते, तज्जन्मश्रुतिस्तु गौणीवि प्राप्ते, अभिधीयते—

अग्निसाधनसृष्ट्यर्थमग्निरूपप्रजापतेः ।

प्राणानां सत्त्वमत्रोक्तं वैलोकियोत्पत्तितः पुरा ॥

इह प्रकरणे अग्निसाधनशर्करादेः स्तुत्यर्थम् 'स शर्कराम-
सृजत' इत्यादिना सृष्टिरुच्यते ; तत्र चित्यात्मकत्वेन तपास-
दिरण्यगर्भस्य कारणत्वसिद्धयर्थं तत्प्राणानामवान्तरप्रलये स-
द्भाव उक्तः । सर्वशब्दोऽपि अग्निसाधनमात्रपरः, प्रभोऽपि
तत्कारणमात्रविषय इत्यविरोधः ॥

मसु मनेर्विशेषितत्वाच्च ॥ २ ॥

कश्चित् 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मान्' इति चक्षुर्भाष-
रसनवाक्श्रोत्रमनस्त्वचः प्राणाः श्रूयन्ते ; कश्चिन्तु त एव ह-
स्ताधिका महत्त्वात्त्वयन्धकत्वेन युक्ता अप्टावाम्नायन्ते 'अष्टौ
महाः'— इति ; कश्चिप्रथ, 'मसु वै शीर्षिण्याः प्राणाः द्वौ पा-
दूपत्याधवाध्वौ'— इति ; कश्चिद्दश, 'नव वै पुरुषे प्राणा
नाभिर्दशमी'— इति ; कश्चिद्देवादश— दशमे पुरुषे प्राणाः
शुद्धिकर्मेन्द्रियाणि दश, आग्नेत्याधिष्ठानेनेत्यात्मा मन एकादशः'
— इति ; कश्चिद्द्वादश, 'सर्वेषां स्पर्शानां त्वगोकायनम्'
इत्यथ, तत्राया— 'त्वद्नामिकारमनचक्षुःश्रोत्रमनोहृदयहस्त-

पादोपस्थपायुवाक्'— इति ; क्वचित् एत एव प्राणा अहंकाराधिकास्त्रयोदश । एवं विप्रतिपन्नाः प्राणैयत्तां प्रति श्रुतयः ।

उत्पत्तिरविगानेन येषां प्रागुपपादिता ।

प्राणानामविरोधेन संख्यैषामिह वर्ण्यते ॥

इति संगतिः । तत्र श्रुतीनामितरेतरविरोधादप्रामाण्ये प्राप्ते, एकदेश्याह—

सप्तानां शीर्षण्यानां प्राणत्वेन विशेषणात् ।

अप्राणा इतरे सप्त संख्याबोधेऽनुवादता ॥

'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इत्यत्र ये सप्त शीर्षण्याः, ते प्राणा इति विधीयते ; अतश्च अर्थात् हस्तादीनामप्राणत्वं गम्यते । यदि तु ये शीर्षण्याः प्राणाः ते सप्तेति विधीयेत, ततोऽनुवादत्वम् ; शीर्षण्यप्राणानां सप्तत्वस्य मानान्तरसिद्धत्वात् । अपि च नानासंख्यानामवच्छेदकत्वानुपपत्तौ एका कल्प्या ; तत्र प्राथम्याह्लाघवाच्च सप्तत्वमेव कल्प्यम् । अष्टत्वाद्यभिधानं तु धृत्तिभेदविषयमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

श्रुतीनां कलहे कार्यात्प्रारणैकादशताश्रिता ।

अष्टत्वाद्यवयुत्योक्तिराधिक्यं धृत्तिभेदतः ॥

इह रूपादिसाक्षात्कारकार्यपञ्चकवशात् बुद्धीन्द्रियपञ्चकम् ; वदनादिकार्यपञ्चकवशाच्च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि ; मनश्चैकम्, तद्धि मननान्मनः, निश्चयाद्बुद्धिः, अभिमानादहंकार इति गी-

स्ते, वृत्तिमात्रभेदेऽपि धर्मिणो व्यतिरेकानवगमात् । इतरत्र तु बन्धवधिरादिषु व्यतिरेकावगमात् । तथा च एकादशत्वश्रुतिरञ्जसी ; अष्टत्वादिश्रुतिः निर्देशलाघवार्थम् एकादशत्वानुवाद इतरोपलक्षणार्थः ; द्वादशत्वादिश्रुतिर्गृत्तिभेदविषया उपास-
नार्था । न चैवमनुमानादर्थनिर्णय इति श्रुतेः परतः प्राणा-
ण्ड्यम् ; आपाततः श्रुतित्वात्पर्यायानवबोधेन विरोधस्फूर्तो विषय-
भेदेन व्यवस्थितश्रुतित्वात्पर्यस्यानुमानादवगमात् । यत्तु शीर्ष-
ण्यप्राणाद्यनुवादेन सप्तत्वविधौ अनुवादकत्वमिति, तदिष्ट-
मेव ; 'सप्तभिर्धूपयति सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः गिर एत-
द्यज्ञस्य बहुखा शीर्षणैव यज्ञस्य प्राणान्दधाति' इत्युखाधूपन-
स्तुतिपरत्वात् ; सप्तभिः 'वसवस्त्वा धूपयन्तु' इत्यादिमन्त्रै-
रित्यर्थः । अतः प्राणान्तरच्यावृत्तिपरत्वयोजना न युक्तेति ॥

अपरवर्णकम् ॥

'स यत्रैव चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्तते अथारूपज्ञो भवति एकीभवति न पश्यति न जिघ्रति न रसयति न वद-
ति न शृणोति न मनुते न स्पृशति एकीभवति न विजानाती-
त्याहुः' इति ; अत्रैकमेवान्तःकरणं संशयनिश्चयवृत्तिभेदान्मन
इति विद्वानमिति चोक्तम् । एवमेतान्सप्त प्राणान्प्रकृत्य 'तमु-
त्कामन्तं प्राणोऽनूत्कामति प्राणमनूत्कामन्तं सर्वे प्राणा अनू-
त्कामन्ति' इति बाजसनेयिनः समासनन्ति । न एवान्यत्रापी-
यते— प्राणो वै प्राणेन्द्रियमित्यर्थः ; ब्रह्मः सोपानेन गन्धे-

नातिप्रहेण गृहीतः, जिह्वा वै ग्रहं स रसेनातिप्रहेण गृहीतः,
चक्षुरूपेण, श्रोत्रं शब्देन, मनः कामेन, हस्तौ कर्मेणा, बाहू-
नाम्ना, त्वक्स्पर्शेन— इति । तथान्यत्र— दशमे पुरूपे प्राणाः
आत्मा मन इत्यर्थः । एकादश । ते यदास्माच्छरीरादुत्क्रामन्ति
—इति । अत्र संशयः—किं सप्तानामिन्द्रियाणामुत्क्रान्ति-
रुत्तैकादशानामिति ; सप्त प्राणान्प्रक्रम्य 'सर्वे प्राणा उत्क्राम-
न्ति' इति वचनात्, एकादशानामुत्क्रान्त्यभिधानाम् । पूर्व
वर्णकवत्संशयः । तत्र—

प्राथम्याद्वाग्वात्कार्यदर्शनस्याविरोधतः ।

सप्तानामिव निर्याणमाधिक्यं वृत्तिभेदतः ॥

एकादशसंख्यातः पूर्वं सप्तसंख्या प्रतीयते, लघ्वी च ; अल्प-
संख्यात्वान् । न चैकादशकार्यदर्शनविरोधः ; इह देहे एकाद-
शप्राणाभ्युपगमान् । उत्क्रान्तिमात्रं हि सप्तानाम् । इतरां तु
सह देहेन नश्यन्ति, देहान्तरारम्भे चारप्स्यते । यत्तु अधिक-
प्राणोत्क्रान्तिवचनम् 'दशमे' इत्यादि, तद्वाग्वातुमहोतात्
'एकीभवन्ति' इत्यादिवचनात् वृत्तिभेदविषयम् । 'सर्वे प्रा-
णाः' इति सर्वशब्दोऽपि प्रकृतसप्तप्राणेषु संकोच्यत इति
प्राप्ते, अभिधीयते—

ग्रहत्वं बन्धकत्वेन बन्ध आमुत्क्रान्तस्ततः ।

अष्टानां ग्रहताप्राणादधिकोत्क्रान्तिरिष्यते ॥

एवं सत्यैकादशोत्क्रान्तिश्रुतिः सर्वश्रुतिश्च न संकोच्येत ।

देहान्तरारम्भे च नाभिनवप्राणारम्भकल्पनेति । प्रयोजनं तु उत्कामतामेव प्राणानां सर्वदेहानुयायित्वात् यासां हेरण्य-
गर्भाद्युपास्तीनां वागाद्यग्न्यादिभावरूपाधिदैविकशरीरादिप्रा-
प्तिः फलम्, तामु सप्तानामेवोपास्तिः पूर्वपक्षे । सिद्धान्ते
त्वेकादशानामिति ॥

अणवश्च ॥ ३ ॥

‘अणुश्च’ इत्यत्र श्रुतिवशेन मुख्यप्राणस्यासर्वगतत्वं वक्ष्य-
ति । तदिन्द्रियाणामपि तुल्यन्यायमिति वक्ष्यते । अत्र सांख्य-
मतमाहंकारिकत्वकृतव्यापित्वमिन्द्रियाणां निरस्वते । अत एव
भाष्यनिबन्धनकाराभ्यां पूर्वपक्षे न काचन श्रुतिरुदाहृता ;
श्रुतिविरोधनिरास्यदरेऽपि शब्दे वादिभिन्नतिवृत्तिनिरासप्रसङ्गा-
त्संगतिः ; प्राणसंख्यायां निरूपितायां तत्परिमाणम्यापि वा-
दिमंमतस्य बुद्धिस्थत्वान् । पूर्वत्रैकादशप्राणानाम् उत्कान्तिरु-
क्ता, सा न युक्ता ; एषां व्यापित्वात् । तथा हि—

व्याप्यहंकारकार्यत्वात्प्राणानां व्यापिता मता ।

शुक्तिर्मकोचतन्नेषां गत्यादिः श्रुतिपूच्यते ॥

सिद्धान्तस्तु—

व्यापित्वे कारणानां म्याद्विप्रकृष्टार्थदर्शनम् ।

देहे मद्रुत्तिर्मकोचे शुक्तिष्विन्द्रियता भवेत् ॥

श्रेष्ठश्च ॥ ४ ॥

‘तथा प्राणाः’ इत्यत्रोक्तन्याय इह मुख्यप्राणेऽतिदिश्यते । उत्तराधिकरणे इन्द्रियव्यापारात्प्राणस्य भेदो वक्ष्यते । स प्राणोत्पत्तिनिरूपणानन्तरं संगच्छत इति द्वे एते अधिकरणे नैरन्तर्येण करणीये । यदि त्विन्द्रियोत्पत्तिचिन्तानन्तरमेव प्राणोत्पत्तिमतिदिश्य प्राणस्येन्द्रियव्यापाराद्भेदो निरूप्येत, तर्हीन्द्रियेषु स्वरूपसंख्याभ्यामनिर्णीतेषु तद्व्यापारात्प्राणस्य भेदो न शक्यो निरूपयितुम् । तस्माद्भगवतः सूत्रकारस्य इन्द्रियोत्पत्तिचिन्तानन्तरमिन्द्रियाणि निरूप्य प्राणस्य च जन्मतिदिश्य तस्येन्द्रियव्यापारेभ्योऽन्यत्वनिरूपणं संगच्छते । तत्र ‘नासदासीन्नो सदासीत्’ इति ब्रह्मसूक्तोक्तं ‘मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्ना आसीत्प्रकेतः आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्भान्यं न परः किंचनास’ इत्यस्यामृचि महाप्रलये ‘आनीदवातम्’ इति प्राणव्यापारः श्रूयते, अवातमिति प्राणव्यतिरिक्तवायुनिषेधः; पूर्वपक्षे मृत्युः पृथिवी, अमृतं स्वर्गः, रात्र्यहोः प्रकेतौ चन्द्रादित्यौ, व्यापाराच्च लिङ्गात् व्यापारवतः प्राणस्यास्तित्वमवगम्यते । ‘एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च’ इति मनइन्द्रियातिरिक्तस्य प्राणस्योत्पत्तिश्च श्रूयते । ‘तथा प्राणाः’ इत्यत्र हि प्रागुत्पत्तेः प्राणसद्भावश्रवणमवान्तरप्रलयविषयमित्युक्तम् । इदं तु महाप्रलयविषयमित्यधिकाशङ्का । लिङ्गस्यापि श्रुत्या सह स्पर्धा वक्ष्यमाणविशेष्यानुगुण्याद्भवति । उक्तं हि भट्टाचार्यैः—
‘अत्यन्तपलिनोऽपीह पौरजानपदा जनाः । दुर्बलैरपि वाध्य-

न्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः' इति । ततश्च श्रुत्योर्विरोधादप्रा-
माण्ये प्राप्ते, एकदेश्याह—

आरोपादपवादस्य बलित्वात्तद्विरि श्रुतम् ।
प्राणजन्मेति जन्मोक्तिर्गौण्यध्यारोपरूपतः ॥

वेदान्तेषु सृष्टपध्यारोपो निषेधार्थः । नासदासीयसूक्तं च
निषेधार्थत्वात्प्रबलम् । तदाह भगवान्भाष्यकारः— ब्रह्मप्र-
धाने सूक्त इति । 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिसृष्टिवाक्या-
न्यध्यारोपार्थानि । ततश्च 'गुणे त्वन्याप्यकल्पना' इति गौ-
णार्थानीति प्राप्ते, उच्यते—

अद्वैतायापवादोऽयमद्वैते न विक्रम्यते ।
प्राणजन्मश्रुतिस्तद्गमद्वैते सा न गौण्यतः ॥

मत्यम् अध्यारोपापवादार्थः; स एवापवादो ब्रह्माद्वैतप्रति-
पत्त्यर्थः; ततश्च अपवादार्थेऽपि वाक्ये आनीच्छब्दो न
प्राणव्यापारप्रतिपादकः, किंतु सृष्टिकारणम् आनीत् जी-
वितवत्— इत्येवंपरः । प्राणजन्मश्रुतिस्तु परमशेष्यद्वैतप्रति-
पत्तेः कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन उपपादकत्वान्मुह्यार्थेति ॥

न चायुक्रिये पृथगुपदेजात् ॥ ५ ॥

उत्पत्तिचिन्तानन्तरमुत्पत्तिमत्स्वरूपचिन्तनारम्भगतिः । 'यः
प्राणः स वायुः' इति ध्येने, 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वे-
न्द्रियाणि च । सं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'

‘तथा प्राणाः’ इत्यत्रोक्तन्याय इह मुख्यप्राणेऽतिदिश्यते । उत्तराधिकरणे इन्द्रियव्यापारात्प्राणस्य भेदो वक्ष्यते । स प्राणोत्पत्तिनिरूपणानन्तरं संगच्छत इति द्वे एते अधिकरणे नैरन्तर्येण कर्णाय । यदि त्विन्द्रियोत्पत्तिचिन्तानन्तरमेव प्राणोत्पत्तिमतिदिश्य प्राणस्येन्द्रियव्यापाराद्भेदो निरूप्येत, तर्हिन्द्रियेषु स्वरूपसंख्याभ्यामनिर्णयितुं तद्व्यापारात्प्राणस्य भेदो न शक्यो निरूपयितुम् । तस्माद्भगवतः सूत्रकारस्य इन्द्रियोत्पत्तिचिन्तानन्तरमिन्द्रियाणि निरूप्य प्राणस्य च जन्म-
 तिदिश्य तस्येन्द्रियव्यापारेभ्योऽन्यत्वनिरूपणं संगच्छते । तत्र ‘नासदासीश्रो सदसीन्’ इति ब्रह्मसूक्तोक्तेन ‘मृत्युरा-
 सीदमृतं न तर्हि न राश्या अह आमीत्यकैतः आनीदवात् स्वधया तदेकं तस्माद्दान्यं न परः किंचनास’ इत्यस्यागृहि मद्गप्रलये ‘आनीदवात्तम्’ इति प्राणव्यापारः श्रूयते, अवात्-
 मिति प्राणव्यतिरिक्तवासुनिषेधः, पूर्वपक्षे मृत्युः पृथिवी, अमृतं स्वर्गः, राश्याहोः प्रकेर्ता चन्द्रादित्यौ, व्यापाराश्च लिङ्गात् व्यापारवत्तः प्राणस्वारित्वमवगम्यते । ‘एतस्माज्जायते प्राणी मनः सर्वेन्द्रियाणि च’ इति मनइन्द्रियातिरिक्तस्य प्राण-
 स्योत्पत्तिश्च श्रूयते । ‘तथा प्राणाः’ इत्यत्र हि प्राणोत्पत्तेः प्राणमद्वाश्रयणमवान्तरप्रलयविषयमित्युक्तम् । इदं तु मद्वा-
 प्रलयविषयमित्यधिकान्मद्वा । लिङ्गस्यापि भुव्या सह स्पर्शा बहवमानविशेष्यानुगुणवाद्भवति । उक्तं हि मद्वाश्रयिः—
 ‘अनन्तवलिनाऽधीह परंजानपदा जनाः । दुर्पैरपि वास्य-

वायुमात्रादिन्द्रियमात्राश्च स्वंपदार्थस्य विवेकः कार्यः, सिद्धान्ते प्राणादर्पति ॥

अणुश्च ॥ ६ ॥

‘अणवश्च’ इत्यत्र सांख्योक्तमाहंकारिकत्वकृते व्यापित्वमिन्द्रियाणां निरस्तम्; अत्र तु श्रुत्यवगतं मुख्यप्राणस्य व्यापित्वमविरोधेन व्यवस्थाप्यत इति न तुल्यन्यायता । इन्द्रियाणामपि श्रुत्यवगते व्यापित्वमनेनैव न्यायेन व्यवस्थापितं भवति । अन्ये त्वाहुः—‘अणवश्च’ इत्यस्यातिदेशोऽयम् ‘मम एभिस्त्रिभिर्लोकैः’ इति व्यापित्वभूतेषु अधिकाशङ्का आधिदैविकविषयत्वेन तन्निरास इति; तत्र, ‘त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः’ इति इन्द्रियाणामपि व्यापित्वप्रवणस्य व्यवस्थायाश्च साम्यान् । अपरे त्वाहुः— तत्र च अब च इन्द्रियाणां प्राणस्य च व्यापित्वपरिच्छिन्नत्वश्रुतय उदाहरणम्; तत्रैन्द्रियव्यापित्वश्रुतीनाम् ‘म यो हेताननन्तानुपगमते’ इत्युपासित्विषयत्वान् उपास्तेश्चारोपितरूपेणाप्युपपत्तेन व्याप्तिमाशकत्वमित्युक्तम् । अत्र तु ‘ममोऽनेन सर्वेण’ इत्यादेः प्राणव्यापित्वप्रवणस्याधिदैविकविषयत्वं कथ्यत इति । तदपि न । अप्रापि समानत्वान् ‘प्राणः साम’ इति व्युत्पन्न ‘य एवमेतत्साम वेद’ इत्युपासित्वविधात्तान् हेतुभेदस्य च अधिकरणाभेदकत्वादिनि ॥

इदानीमधिकरणार्थं वर्णयामः— वायोरिन्द्रियव्यापाराश्च

इति । अत्र च वायुप्राणभेदाभेदश्रुत्योर्विरोधादप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षः; अत्र वायुरेव प्राण इति नैकदेशिमत्तम्; तथा सति वृत्तितद्वेदेदस्यावश्यवक्तव्यत्वेन सिद्धान्तादविशेषात् । तस्माच्छ्रुत्योर्विरोधादनिश्चायकत्वेन मांख्यमतेन सामान्यकरणवृत्तिः प्राणः; तथा हि—

चात्यन्ते मिलितैर्यद्वच्छ्रुके संभूय पञ्जरम् ।

मिलितैरिन्द्रियैरेव प्राणवृत्तिर्विरच्यते ॥

यद्यपि नैकैकन्द्रियवृत्तिः प्राण ; एकैकेन्द्रियाभावेऽपि जीवनदर्शनान् । स्वगिन्द्रियवृत्तित्वे च सामान्यकरणवृत्तित्वव्याघातान् । तथापि मिलितेन्द्रियवृत्तिर्भवति । एकैकशः शुकैरचात्यस्यापि पञ्जरस्य मिलितंश्चात्यत्वात् । तत्त्वान्तरप्राणकल्पनायां च गौरवम् ; इन्द्रियेभ्यः प्राणस्य भेदधृतिवृत्तिनद्वेदेदधिपयेति प्राप्तं, अभिधीयतं—

प्रधानक्रियया तुन्या मिलित्वा कुर्वतां क्रियाः ।

भवन्ति नैन्द्रियेष्वेता इति प्राणो न तत्क्रिया ॥

ये हि संभूय क्रियां कुर्वन्ति तेषां प्रधानक्रियाममानावान्तरख्यापारा दृश्यन्ते ; यथा शुकानां पञ्जरपालनानुगुणान्युत्पन्नानि । नैवं प्राणनानुगुणावान्तरख्यापारा इन्द्रियाणाम् ; भवतादिख्यापाराणां प्राणनाद्विजातीयत्वान् । तस्मात् प्राणनैन्द्रियकार्यम् । न च श्रुतेर्गौरवमिति । प्रयोजनं तु पूर्वपक्षे

वायुमात्रादिन्द्रियमात्राच्च त्वंपदार्थस्य विवेकः कार्यः, सि-
द्धान्ते प्राणादपोति ॥

अणुश्च ॥ ६ ॥

‘अणवश्च’ इत्यत्र मांख्योक्तमाहंकारिकत्वश्रुतं व्यापि-
त्वमिन्द्रियाणां निरस्ताम्; अत्र तु श्रुत्यवगतं मुख्यप्राणस्य व्या-
पित्वमविरोधेन व्यवस्थाप्यत इति न तुल्यन्यायता । इन्द्रिया-
णामपि श्रुत्यवगतं व्यापित्वमनेनैव न्यायेन व्यवस्थापितं भ-
वति । अन्ये त्वाहुः—‘अणवश्च’ इत्यस्यानिदेशोऽयम् ‘सम
एभिस्त्रिभिलोकैः’ इति व्यापित्वश्रुतेश्च अपिकाशङ्का आपिदै-
विकविषयत्वेन तद्विराम इति; तत्र, ‘त एते सर्वे एव समाः
सर्वेऽनन्ताः’ इति इन्द्रियाणामपि व्यापित्वश्रवणस्य व्यवस्था-
शाश्च साम्यान् । अपरे त्वाहुः— तत्र च अब च इन्द्रियाणां
प्राणस्य च व्यापित्वपरिच्छिन्नत्वश्रुतस्य उदाहरणम्; तत्रेन्द्रि-
यव्यापित्वश्रुतीनाम् ‘म यो हिताननन्तानुपास्ते’ इत्युपास्ति-
विषयत्वान् उपास्तेभ्यारोपिनरूपेणाप्युपपत्तेर्न व्याप्तिसापक-
त्वमित्युक्तम् । अत्र तु ‘समोऽनेन सर्वेण’ इत्यादेः प्राणव्यापि-
त्वश्रवणस्याधिदैविकविषयत्वं व्यर्थं इति । तदपि न । अ-
त्रापि समानत्वान् ‘प्राणः साम’ इति व्युत्पाद्य ‘य एवमेत-
स्माम वेद’ इत्युपास्तिविधानान् हेतुभेदस्य च अपिकरणा-
भेदकत्वादिति ॥

इदानीमपिकरणार्थं वर्जयामः— वायोरिन्द्रियव्यापाराद्य

विवेचितस्य मुख्यप्राणस्य परिमाणनिरूपणात्संगतिः । 'प्राणः
सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः' इति विभुत्वं श्रूयते, एवम् 'उत्क्रामन्तं
प्राणोऽनूत्क्रामति' इत्यविभुत्वं च । तत्र विरोधादप्रामाण्ये
प्राप्ते, एकदेश्याह—

विभोः परिच्छेद उपाधितो भवे-

द्विभुत्वमल्पस्य न युक्तमित्यतः ।

गुण्यादिसाम्योत्क्रमणश्रुती विभोः

प्राणस्य देहोपहितस्य न स्वतः ॥

न खलु घटकरकादेर्विभुत्वं केनापि रूपेणोपपद्यते । विभु-
नस्तु नभसः कृपाद्यवच्छेदात् कृपादिसाम्यमल्पत्वं च दृष्टम्,
एवं च प्राणस्यापि शरीराद्यवच्छेदात् गुण्यादिसाम्यम् 'समः
पूषिणा' इत्यादिवाक्यैरभिधीयते; उपाधिकृतं चाल्पत्वम-
पेक्ष्य गत्युत्क्रान्तिश्रुती इति प्राप्ते, अभिधीयते—

हिरण्यगर्भप्राणस्य विभुत्वमितरस्य तु ।

परिच्छेदः स्वतो नैषः छेदात्कल्प्य उपाधिभिः ॥

व्ययध्यायां हि संभवन्त्यां नोपाधिकल्पितः परिच्छेदो
युक्तोऽभ्युपगन्तुम् । प्रयोजनं जीवात्क्रान्त्यादेः प्राणोपाधिकत्व-
मिद्विः, व्यापित्वे प्राणस्य जीवादिशेषेण उपाधित्वायोगा-
दिति ॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ ७ ॥

निरूपितेन्द्रियाणां वा प्रवृत्तिः सा स्वतन्त्रतः ।

देवताधिष्ठितैवेति चिन्तनात्संगतिः स्फुटा ॥

‘चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति’ इति निरपेक्षकारणत्वावगमात्, ‘वाग्मिना अपोतिषा भाति च तपति च’ ‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्’ इति च इन्द्रियाणामन्यादिदेवताधिष्ठितत्ववचनाच्च विरोधः ; वाचोऽग्निमास्यत्वादग्निनानुगृहीता स्वविषयं भासयतीत्यर्थः ; तपति, कार्यं कर्तुं प्रवर्तते ; अन्यस्यान्यभावासंभवात् वाक्सादृश्यं तद्भावः ; स च वाक्समानकार्यहेतुत्वमित्यनुपाहकत्वसिद्धिः ; एवं विरोधे, एकदेश्याह—

नैरपेक्ष्यादधिष्ठानाजीवैर्मतिविरोधतः ।

श्रुतेर्गौणत्वतो देवा अधितिष्ठन्ति नेन्द्रियम् ॥

यद्धि यत्कार्यं करोति तत्तद्य निरपेक्षमित्युत्सर्गः ; मापेक्षत्वं तु बलवद्वाचकात् ; न चेन्द्रियैर्देवतापेक्षायामस्ति प्रमाणम् ; अचेतनत्वाद्वास्यादिवचेतनाधिष्ठानानुमानं जीवधराभ्यां सिद्धसाधनम् ; न च ‘अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्’ इत्यादिश्रुत्या इन्द्रियाणां देवताधिष्ठितत्वमिति वाच्यम् ; देवतानां जीवस्य चैकमत्यनिमित्ताभावेन कार्यामिद्धिप्रसङ्गात् । अपि च इन्द्रियाधिष्ठानुरेव भोक्त्वमिति तदेवतानामेव स्यात्, न जीवस्य ; तस्मात् ‘अग्निर्वाग्भूत्वा’ इत्यादी अभिशाब्दो वागादिष्वेव प्रकाशकत्वात्पेक्ष्यः नमयितव्य इति प्राप्ते, अभिधीयते—

नियन्तृतोपयोगादिसाक्षात्कारेण सा श्रुता ।
अग्न्यादेरिन्द्रियेष्वैकमत्यं चेश्वरतो भवेन् ॥

स्वरूपोपयोगादिमाक्षात्कारपूर्वकं प्रेरकत्वं हि नियन्तृत्वम् ; न च जीवस्य इन्द्रियस्वरूपमाक्षात्कार इति न तेन सिद्धमाधनम् ; न चेश्वरेण, तस्यागममन्तरेणासिद्धेरुक्तत्वान् ; आगमात्तस्मिद्धां तद्वद्देवतानामधिष्ठातृत्वस्याप्यागमसिद्धत्वात्तदप्यस्तु । मति चैवं न जीवेन देवतानामिन्द्रियाधिष्ठाने नैकमत्यम् , तस्येन्द्रियाद्यमाक्षात्कारित्वेनाधिष्ठातृत्वायोगान् ; अधिष्ठातृत्वेऽपि ईश्वरादैकमत्यसिद्धेः । रथमाध्यजयफलरहितस्यापि मारुतेः स्वाम्यर्थं रथाधिष्ठातृत्ववज्जीविभोगार्थमेव देवतानामिन्द्रियाधिष्ठातृत्वमप्युपपद्यते ; तामां तावन्मात्रस्य श्रुतत्वान् अस्मदादीन्द्रियाधिष्ठातृत्वेन तामामस्मदादिवत्तत्माध्यभोगभागित्वानुमानम् ' न ह वै देवान् पापं गच्छति ' इत्यागमवाधितम् ॥

न इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र
श्रेष्ठात् ॥ ८ ॥

'हन्ताम्येव मर्षे रूपममामेति त एतम्येव मर्षे रूपमभवत् तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' इत्येवमिन्द्रियाणां मुख्यप्रागरूपत्वमाज्ञायते, तथा 'एतन्माज्ञायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति तत्त्वान्तर्गत्वम् ; अनयोः श्रुत्योर्विरोधाद्ब्रह्मार्थं प्राप्तम् ; तत्र सिद्धेऽप्यिन्द्रियेषु तदधिष्ठातृत्विना ।

तान्येव तु मुख्यप्राणवृत्तिव्यतिरेकेण न सन्ति इत्येकदेश्या-
क्षिपति—

तद्भावानुविधायित्वात्तद्रूपत्वश्रुतेरपि ।

प्राणशब्दस्य चैकाध्यादिन्द्रियाण्यसुवृत्तयः ॥

प्राणे सतीन्द्रियाणि सन्ति, नासति; श्रुतिश्च प्राणरूपत्व-
मेषामाह— ‘हन्तास्य—’ इत्याद्या; प्राणशब्दवाच्यत्वं चा-
ज्ञातम् ‘तस्मादेत एतेनास्मायन्ते प्राणाः’— इति; अत्र वृ-
त्तिवृत्तिमतोश्चाभेदादैकार्थ्यं शब्दस्य, तत्त्वान्तरत्वे तु अने-
कार्थत्वम् । प्राणे वा मुख्यस्य प्राणशब्दस्य इन्द्रियेषु लाक्ष-
णिकत्वं प्रसज्येत । न च ‘एतस्माज्जायन्ते प्राणो मनः सर्वे-
न्द्रियाणि च’ इति भेदव्यपदेशाद्भेदः; मनसोऽप्यनिन्द्रियत्व-
प्रसङ्गात्; ‘मनःषष्ठानीन्द्रियाणि’ इति स्मृते; तस्येन्द्रियत्वे
‘हन्तास्य’ इति श्रुतेः इन्द्रियाणामपि प्राणवृत्तित्वमिति प्राप्ते,
भ्रमः—

इन्द्रियशब्दविभागा-

त्प्रकरणभेदात् कार्यतानात्वात् ।

प्राणात्तत्त्वान्तरता

न वृत्तित्वात् चक्षुरादीनाम् ॥

तत्त्वान्तराणि प्राणाद्वागादीनि इति सूत्रे प्रविहाभ्याद्विष-
ते; तत्र हेतुः— तस्यपदेशात् तस्य तत्त्वान्तरस्य व्यपदेशात् ।
सदेशोपपादते— अन्यत्र भेदान् इन्द्रियाणि- भेदं प्राणं वर्ज-

नियन्तृतोपयोगादिसाक्षात्कारेण सा श्रुता ।
अग्न्यादेरिन्द्रियेष्वैकमत्यं चेश्वरतो भवेन् ॥

स्वरूपोपयोगादिसाक्षात्कारपूर्वकं प्रेरकत्वं हि नियन्तृत्वम् ; न च जीवस्य इन्द्रियस्वरूपसाक्षात्कार इति न तेन सिद्धसाधनम् ; न चेश्वरेण, तस्यागममन्तरेणासिद्धेरुक्तत्वात् ; आगमात्तत्तिद्धां तद्वद्देवतानामधिष्ठातृत्वस्याप्यागमसिद्धत्वात्तदप्यस्तु । सति चैवं न जीवेन देवतानामिन्द्रियाधिष्ठाने नैकमत्यम् ; तस्येन्द्रियाद्यसाक्षात्कारित्वेनाधिष्ठातृत्वायोगात् ; अधिष्ठातृत्वेऽपि ईश्वरादैकमत्यसिद्धेः । रथसाध्यजयफलरहितस्यापि सारथेः स्वाम्यर्थं रथाधिष्ठातृत्ववज्जीवभोगार्थमेव देवतानामिन्द्रियाधिष्ठातृत्वमप्युपपद्यते ; तासां तावन्मात्रस्य श्रुतत्वान् अस्मदादीन्द्रियाधिष्ठातृत्वेन तासामस्मदादिवत्तत्साध्यभोगभागित्वानुमानम् ' न ह वै देवान् पापं गच्छति ' इत्यागमबाधितम् ॥

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र
श्रेष्ठात् ॥ ८ ॥

' इन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन् तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः ' इत्येवमिन्द्रियाणां मुख्यप्राणरूपत्वमाश्रायते, तथा ' एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ' इति तत्त्वान्तरत्वम् ; अनयोः श्रुत्योर्विरोधादप्रामाण्यं प्राप्तम् ; तत्र सिद्धेऽप्यिन्द्रियेषु तदधिष्ठातृचिन्ता ।

शेऽपि शरीरशयनमुक्त्वा 'प्राणः प्राविशत्तत्प्राणे प्रपन्न उद-
 तिष्ठन्' इत्यादिना प्राणप्रवेशे शरीरोत्थानं दर्शयति; तस्मा-
 देहधारकत्वं प्राणस्य न वागादीनाम्; इन्द्रियाणां तु बाह्या-
 नामर्थालोचनं कार्यम्, मनसस्तु अर्थमननम्, न चैते प्राणस्य
 संभवतः; एवं वैलक्षण्यप्रमितौ इन्द्रियेषु प्राणशब्दस्य लाक्ष-
 णिकत्वं न दोषः गङ्गादिपदानामिव तीरादिष्विति । प्रयोजनं
 पूर्वपक्षे प्राणमात्रात् त्वंपदार्थस्य विवेकः कार्यः, सिद्धान्ते तु
 इन्द्रियेभ्योऽपीति; एवं यथाभाष्यमेकमधिकरणम् ॥

वाचस्पतिस्तु 'त इन्द्रियाणि' इति सूत्रेणैकमधिकरणम्,
 'भेदश्रुतेः' इत्यादिसूत्रद्वयेन चापरं चकार; तेन चेन्द्रियाणां
 प्राणवृत्तित्वं निरस्यते; तत्र चेन्द्रियाणि श्रेष्ठादन्यत्र अन्यानि-
 इति त एव सूत्रादनुपह्नेन प्रतिज्ञा लभ्यते । अथ तु इन्द्रियाणां
 प्राणवृत्तित्वनिषेधपरत्वे, प्राणात्तत्त्वान्तराणीति अप्याहारप्रस-
 द्धात् । तद्व्यपदेशादिति हेतुगततच्छब्देनाभ्याहृततत्त्वान्तरत्व-
 परामर्शान्, श्रौतपरामर्शालाभात्, हेतुपौनरुक्त्यं च; त-
 द्व्यपदेशादिति किम्? प्राणः इन्द्रियाणीत्यपर्यायशब्दव्यपदेशा-
 दित्यर्थः । तर्हीन्द्रियाणां प्राणवृत्तित्वाभावे साध्ये अनेकान्तः,
 मनःकामादिशब्दानां वृत्तिवृत्तिमद्भेदाभिधायिनामपि अपर्या-
 यत्वान् । अथ प्रकरणभेदेन कार्यभेदव्यपदेशस्तद्व्यपदेशः, तर्हि
 'भेदश्रुतेः' इत्यादिना पुनरुक्तिरिति । तस्मादर्थं सूत्रं प्रकारा-
 न्तरेण वर्ण्यते—

यित्वा ते एकादश प्राणा इन्द्रियाण्युच्यन्ते श्रुतौ 'एतस्माज्जा-
यते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति । मनसस्तु सत्यपि
भेदव्यपदेशे स्मृतेरेवेन्द्रियत्वम् । न चैवमिन्द्रियाणामपि
'तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणाः' इति श्रुतिवशात्प्राण-
वृत्तित्वमिति वाच्यम्, तस्याः श्रेष्ठप्राणनाम्ना इन्द्रियाणां
समाख्यानकथनद्वारेण प्राणश्रेष्ठ्यपरत्वात्— श्रेष्ठनाम्ना कुला-
ख्यानवन्; 'अयं वै नः श्रेष्ठः' इत्युपक्रमात् । एतेन तद्रूप-
भवनं व्याख्यातम्; तद्भावभावित्वं तु तद्वृत्तित्वेऽनेकान्तम्;
देहभावानुविधायिनामपि प्राणसहितेन्द्रियाणां देहवृत्तित्वा-
भावात् । किं च 'एवं खल्वेता देवताः पाप्मनाविध्यन्'
इति वागादीनसुरसङ्घविद्वानुपसंहृत्य— अथ हेममासन्यं प्रा-
णमूचुः वागादयस्त्वं न उद्गाय ज्योतिष्टोमे औद्गात्रं कर्म कुरु
तेन वयमसुरान्विजेष्यामः— इत्युपक्रम्य— तथेति तेभ्य एष
प्राण उदगायत्तं पाप्मनाविध्यन्नसुरास्ते च यथाश्मानमृत्वा
लोष्टो विध्यंसेत एवं ह्येव विष्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुः—
इत्यसुरविष्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य प्रकरणान्तरकरणेन
निरूपणं दृश्यते; तथा कार्यवैलक्षण्यं च श्रयते—
'सुषुप्तेषु वागादिषु प्राणाप्रय एवास्मिन्पुरे जायति' इति,
तथा 'वागुदकामदवदन्नास्ते देहः' इत्यादिना वागाद्युत्कान्-
न्तावपि शरीरावस्थानमुक्त्वा 'प्राण उदकामत् तत्प्राण
उत्कान्तेऽपतत्' इति प्राणोत्कान्तौ शरीरपातः श्राव्यते,
तथा 'वाकप्राविशदशयदेव शरीरम्' इत्यादिना वागादिप्रवे-

शेऽपि शरीरशयनमुक्त्वा 'प्राणः प्राविशत्तद्याणे प्रपन्न उद-
तिष्ठन्' इत्यादिना प्राणप्रवेशे शरीरोत्थानं दर्शयति; माया-
देहधारकत्वं प्राणस्य न वागादीनाम्; इन्द्रियाणां तु वाया-
नामर्थालोचनं कार्यम्, मनसस्तु अर्थमननम्, न चैवं प्राणस्य
संभवतः; एवं वैलक्षण्यप्रभितौ इन्द्रियेषु प्राणशब्दस्य व्याप-
णिकत्वं न दोषः गङ्गादिपदानामिव तीरादिष्विति । प्रयाग्नं
पूर्वपक्षे प्राणमात्रात् त्वंपदार्थस्य विवेकः कार्यः, विद्वानं तु
इन्द्रियेभ्योऽपीति; एवं यथाभाष्यमेकमधिकरणम् ॥

वाचस्पतिस्तु 'त इन्द्रियाणि' इति सूत्रेणैकमधिकरणम्,
'भेदश्रुतेः' इत्यादिसूत्रद्वयेन चापरं चकार; तेन चैन्द्रियार्था
प्राणवृत्तित्वं निरस्यते; तत्र चेन्द्रियाणि श्रेष्ठादन्यत्र श्रवणानि-
इति त एव सूत्रादनुपपन्नेन प्रतिज्ञा लभ्यते । अथ तु इन्द्रियार्था
प्राणवृत्तित्वनिषेधपरत्वे, प्राणात्तत्त्वान्तराणीति श्रवणः श्रवण-
ज्ञात् । तद्व्यपदेशादिति हेतुगततच्छब्देनाप्याहमनस्यप्राणस्य-
परामर्शान्, श्रौतपरामर्शालाभाच्च, हेतुपौनरन्यत्वं च; न-
व्यपदेशादिति किम् ! प्राणः इन्द्रियार्थान्यपयोपशब्दव्यपदेशान्-
दित्यर्थः । तर्हीन्द्रियाणां प्राणवृत्तित्वाभावे माय्यं धनं दान्तः,
मनःकामादिशब्दानां वृत्तिवृत्तिमदभेदाभिवाधिनामपि अपयो-
यत्वात् । अथ प्रकरणभेदेन कार्यभेदव्यपदेशस्य अपदेशः, तर्हि
'भेदश्रुतेः' इत्यादिना पुनरुक्तिरिति । तन्मादार्थं सूत्रं प्रकार-
न्तरेण वर्ण्यते—

अनुप्राहकदेवतानिरूपणानन्तरमनुप्राह्यगतविशेषश्चिन्त्यते ।
 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति इन्द्रियेभ्यः
 पृथक्प्राणनिर्देशलिङ्गानुमितश्रुत्या प्राणस्यानिन्द्रियत्वमवगम्य-
 ते, 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमि-
 ति च' इति पाणिनिस्मृत्यनुमितश्रुत्या इन्द्रियत्वं च; इन्द्रश-
 च्वात् पष्ठीसमर्थात् लिङ्गमित्येतस्मिन्नर्थे घच् प्रत्ययो भवति,
 घस्य आयनादिसूत्रेण इयादेशः, इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम्;
 एवमिन्द्रेण सृष्टमित्याद्यर्थे प्रत्ययो योज्यः; चकारः 'चितः'
 इत्यन्तोदात्तार्थः । एवं श्रुतिविरोधे, एकदेश्याह—

भौतिकत्वे सतीन्द्रस्य लिङ्गत्वादसुरिन्द्रियम् ।
 रूपाद्यालोचकत्वस्य दीपादौ व्यभिचारतः ॥

भौतिकत्वे सति देहस्थात्मलिङ्गत्वमिन्द्रियत्वम्; ज्ञानव्या-
 वृत्त्यर्थे भौतिकग्रहणम्; चेष्टाद्यपीन्द्रियद्वारा लिङ्गं न स्वात-
 न्त्येण; न च रूपादिसाक्षात्कारकारणत्वमिन्द्रियत्वम्; आलो-
 कादावतिव्याप्तेः । भेदनिर्देशस्तु मनोवत्प्राधान्याद्द्रमयितव्य
 इति प्राप्ते, अभिधीयते—

देहाश्रितस्य रूपादिसाक्षाद्धीकरणस्य च ।
 इन्द्रियत्वं मतं रूढिर्योगाच्च बलवत्तरा ॥

ते वागादयः श्रेष्ठादन्यत्तेन्द्रियाणि; कुतः ! तेनेन्द्रियशब्देन
 तेषामेव वृद्धव्यवहारे व्यपदेशान् । इन्द्रलिङ्गता तु स्वरार्थं

व्युत्पादिता— गच्छतीति गौः इतिवत् । इन्द्रियलक्षणं तु देहाश्रितत्वे सति रूपादिसाक्षात्कारकारणत्वम् । इदं च इन्द्रियस्य देहाश्रितत्वं यद्देहप्रदेशे चक्षुर्गोलकाद्यनुग्रहोपधा-
ताभ्यां तदनुग्रहोपधातौ । तथा च नालोकस्थेन्द्रियत्वप्रसङ्गः ;
अस्तु प्राणस्यानिन्द्रियत्वम्, तस्यैव तु वृत्तयः इन्द्रियाणीत्या-
शङ्का उत्तराधिकरणे निरस्ता ॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उप-
देशात् ॥ ९ ॥

उत्पद्यमानव्यापार उत्पत्तिः, उत्पादकव्यापार उत्पादना,
तत्र जगदुत्पत्तिविषयश्रुतिविरोध इतः प्राक्पादद्वयेन निरस्तः ;
इदानीमुत्पादनाविषयश्रुतिविरोधो निरस्यते । तत्रात्रिवृत्कृत-
भूतोत्पादनं पारमेश्वरमेवेति श्रुतिष्वविगीतमवगतम् ; भौति-
कनिर्माणे तु श्रुतिविप्रतिपत्तिर्दृश्यत इति तन्निरासाय बल्यते ।
'सदेव सौम्येदमप्र आसीत्' इत्युपक्रम्य तेजोऽवन्नानां सृ-
ष्टिमभिधायाप्लायते— 'सैयं देवर्तक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो
देवता अनेन जीवेनात्मनानुपविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'
इति, 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' इति ; अत्र ना-
मरूपनिर्माणस्य जीवकर्तृकत्वं प्रतिभासते ; 'आकाशो ह वै
नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यत्र नामरूपनिर्वहणस्य परमे-
श्वरकर्तृकत्वमाज्ञातम् ; अनयोः श्रुत्योर्विरोधोऽस्ति न चेति सं-

शयः । स च 'जीवेन' इत्यस्य व्याकरणप्रवेशसंबन्धाभ्याम् । अत्रैकदेशिमतोपन्यासेन न प्रयोजनम् ; वाक्यघटनापामपि विरोधाशान्तेः । तत्र 'जीवेन' इत्यस्य 'व्याकरवाणि' इत्यनेनैव संबन्धः । तथा च विरोध इति प्राप्तम् ; तथा हि—

प्रधानेनान्वयाकाङ्क्षावशात्संनिधिवाधनात् ।

जीवेनेत्यस्य साफल्यत्क्त्वाश्रुतेर्जीवकर्तृता ।

यद्यपि 'जीवेन' इत्यस्य 'अनुप्रविश्य' इत्यनेन तैरन्तर्ये संनिधिरस्ति, तथापि आकाङ्क्षया प्रकरणमरूपया बाध्यते; स्थानस्य प्रकरणादुर्बलत्वात् । तत्र यद्यपि गिरिमदीसमुद्रादिनिर्माणे जीवस्य कर्तृत्व न प्रतीयते, तथापि हित्थद्वित्थाविनाप्रकरणे रथशकटादिरूपकरणे चास्ति सामर्थ्यम् ; तावता च योग्यता अवधारयितुं शक्यते । न हि सर्वत्र कार्ये कर्तृत्वमवान्तुं शक्यम् ; आनन्त्यात् । एवं च प्रधानेन 'व्याकरवाणि' इत्यनेन 'जीवेन' इत्यस्य गुणभूतस्य संबन्धे संभवति, न गुणभूतेन 'अनुप्रविश्य' इत्यनेन संबन्धः ; अज्ञानां प्रधानार्थत्वेन प्रधानसंबन्धापेक्षितत्वात् । 'व्याकरवाणि' इत्युत्तमपुरुषश्रुतिस्तु परदेवतायाः प्रयोजककर्तृत्वमाह— चारेणानुप्रविश्य परसैन्यं संकलयामि इतिवन् । इतरथा 'जीवेन' इत्येतद्वचने स्यात् । न च करणत्वेनार्थवत्त्वम् ; तथा सपि प्रधानक्रियोद्देशेन कर्तृव्यापारविषयत्वरथावश्यवत्त्वत्वात् ; इतरथा करणत्वानु-

पपत्तेः । चेतनस्य च प्रधानक्रियोद्देशेन चेतनान्तरप्रयुक्तस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वम्, इतरस्य प्रयोजककर्तृत्वमिति चारद्वारकरा-
जसैन्यसंकलने दृष्टत्वाच्च । किं च, अनुप्रवेशे जीवे कर्तृरि-
तिहिते, समानकर्तृत्ववाचिकत्वाद्भुतेर्व्याकरणेऽपि जीवः कर्ते-
ति सिध्यति; तस्माज्जीवकर्तृकमेव नामरूपव्याकरणम्, ने-
श्वरकर्तृकमिति श्रुतिविरोधे प्राप्ते, अभिधीयते—

उत्सर्गस्यापवादेन बाधाद्योग्यत्वहानितः ।
प्रधानेनान्वयासिद्धेर्मोगार्थे जीवकीर्तनात् ॥

जीवमहाविभागेन क्त्वाभुतेरुपपत्तितः ।
व्याकर्तृत्तमपुंश्रुत्या सर्वेशो नामरूपयोः ॥

सामान्येनावगतस्य योग्यत्वस्य गिरिजदीसमुद्रादावपवादेन
बाधात् न जीवस्य 'व्याकरवाणि' इत्यनेन संबन्धः; किंतु
'अनुप्रविश्य' इत्यनेन संनिहितेन । न च जीवनिर्देशवैयर्थ्यम्;
तिवृत्करणनामरूपनिर्माणयोः जीवमोगार्थत्वेन तन्निर्देशार्थव-
त्त्वात् । इत्थानुप्रवेशमात्रे जीवस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वम्, परदेव-
तायाश्च प्रयोजककर्तृत्वम्; नामरूपव्याकरणे तु उत्तमपुरुष-
भुतेः स्वतन्त्रकर्तृत्वम्; क्त्वाप्रत्ययस्तु जीवमङ्गणोः स्वरूपै-
क्यादुपपादयितव्यः इति ॥

इति मुनिवचनैर्बिरोधशान्त्या
परपरिकल्पितमानदूषणैश्च ।

श्रुतिकलहनिरासतश्च वेदैः
परमपदं प्रतिपाद्यमित्यवादि ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-
पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे
द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥



तृतीयोऽध्यायः ॥



तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः

प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

अविरोधेन वेदान्तनेचं ब्रह्म निरूपितम् ।

सत्प्राप्तिसाधने ज्ञानं सोपायमिह चिन्त्यते ॥

अविरोधेन अनाकुले वेदान्तार्थे सत्प्राप्तिसाधननिरूपणं युक्तमित्यध्याययोर्हेतुहेतुगद्भावः संबन्धः । तत्र प्रथमे पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्य परलोकहलोकसंचरणं निरूप्यते सम्यग्ज्ञानसाधनवैराग्यार्थम् । जीवः प्राणेन्द्रियसहितः अविद्याकर्मपूर्ववामनासमेतः पूर्वदेहं परित्यज्य देहान्तरं गृह्णातीति श्रुतम्— 'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' इत्यारभ्य 'अन्यं नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते' इत्यन्तात्संदर्भान्; स किं देहबीजभूतैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छति, उत संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । अत्र द्वेषा विचारः— इतो भूतानि यान्ति न वेति प्रथमः, तैरसंपरिष्वक्तो जीवो गच्छति, उत संपरिष्वक्त इति द्वितीयः । परिष्वङ्ग एव गमनं संभवति, प्राणानां जीवदेहाश्रयणेनैव गतिदर्शनात्, इतरथा

नैति सूक्ष्मभूतात्मकसूक्ष्मदेहसिद्धिरिति चिन्ताप्रयोजनम् । संशयबीजं तु किं पञ्चम्यामाहुतौ आपः भवन्तीति संबन्ध-
 एत या आपः ताः पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचसो भवन्तीति ।
 यदि प्रथमः, तदा पूर्वपक्षः, पञ्चम्यामाहुतौ अपां सत्त्ववच-
 नेन द्युल्लोकाप्रावपामभावावगमात् । उत्तरास्मिन्सिद्धान्तः सि-
 द्ध्यति ; पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वविशेषविधिना अन्यत्रापु-
 रुषवचसामपामभ्यनुज्ञानात् । तत्र भूतसूक्ष्माणीतो न या-
 न्तीति प्राप्तम् ॥

उत्क्रान्तावश्रुतेः स्वर्गे श्रद्धाया हवनादपि ।

सर्वत्र सुलभस्त्राद्य न भूतानामितो गतिः ॥

वृष्ट्याहुतिवर्जं पञ्चम्यामाहुतावेवापो भवन्तीति विशेष-
 णसामर्प्यादनुपलभितभूतानि न यान्ति ; अपि च आगमैक-
 समधिगम्यं भूतगमनम् ; न च इन्द्रियोपादानवदुत्क्रान्तौ
 भूतोपादानं श्रुतम् ; अतश्च योग्यप्रमाणाभावात् अभावो भूत-
 गमनस्य ; यदि भूतानीतो गतानि, तर्हि स्वर्गलोके अधो-
 प्यन्त ; न तु श्रूयन्ते । श्रद्धाया एवाहुतेस्तत्र श्रवणात् । न
 च देहान्तरारम्भान्यथानुपपत्त्या भूतगमनम् ; भूतानां सर्वत्र
 सुलभस्त्वेन तद्वैवर्ष्यात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

कर्मयानादपां यानं श्रद्धाशब्दोऽम्बुलभकः ।

प्राणानो गमनार्थं च भूतोपादानमर्थवन् ॥

न तावत्पञ्चम्यामाहुतावेव आपो भवन्ति इत्यवधारयितुं

शक्यम्; वृष्ट्याहुतावपां दुर्वारत्वात् । न च सामान्य-
तो व्यवच्छिद्य पुनः श्रुतादन्यत्र व्यवच्छेदस्य संकोचः;
अस्यैव गौरवस्यायुक्तत्वात् । तस्मात् या आपः ताः पञ्च-
म्यामाहुतौ पुरुषवचस इति विधीयते । कथं पुनः प्राप्ता-
स्वप्नु पञ्चमाहुतिसंबन्धः पुरुषवचस्त्वं च द्वयं विधातुं
शक्यम्; वाक्यभेदप्रसङ्गात् । त्वया वा कथं पञ्चमीमाहुति-
मनूद्य तस्यामपां सत्त्वं तासां च पुरुषवचस्त्वं च विधातुं
शक्यम्; तस्मात् पञ्चद्वयेऽपि वाक्यभेदोऽपरिहार्यः अगत्या
चाश्रयितव्यः । यथाहुः भट्टपादाः— 'गौणं लाक्षणिकं वापि
वाक्यभेदेन वा स्वयम् । वेदोऽयमाश्रयत्यर्थं को नु तं प्रतिकूलये-
त्' इति । अथवा धूमादिमार्गसिद्धम् इहलोकपरलोकसंहरण-
मनूद्य पञ्चाग्निकल्पनया उपास्तिमान्नमिह विधीयते, अन्यत्म-
र्वमनूद्यत इति न विरोधः । कुनः पुनरपां प्राप्तिः, यासु पञ्च-
माहुतिसंबन्धः पुरुषवचस्त्वं च चोद्यते? उच्यते— 'तं विद्या-
कर्मणी समन्वारभेते' इति कर्मणामनुगमनमुक्तम्; कर्माणि
चामिहोत्रादीनि दध्वादिद्रवद्रव्यसमवायीनि, अतः सन्ति
आपः आहुत्यपूर्वरूपाः; अनेन भूतोपादानाश्रवणं निरस्तम् ।
नाश्र पञ्चीकृतत्वादितरभूतसहिताः । कर्मारब्धे च देहे पञ्च-
भूतकार्यस्य स्वेदादेर्दर्शनात् कर्मसु पञ्चभूतान्वयसिद्धिः ।
देहपञ्चभौतिकत्वे अनुमानम्— देवदत्तशरीरं पृथिवीसम-
वेतत्वे सति उदकतेजोवाय्वाकाशासमवेतत्वरहितम्, कार्यत्वा-
त्- हिमकरकवत् । यद्यपि हिमकरकः परेषां पृथिवीतरभू-

तच्चतुष्टयासमवेतः, तथापि न पृथिवीसमवेतः; ततश्च पृथिवी-
समवेतत्वविशिष्टतदितरभूतचतुष्टयासमवेतत्वं तत्र नास्त्येव;
विशेषणाभावे विशिष्टस्याप्यभावात् । ततः सपक्षसिद्धिः ।
देवदत्तशरीरस्य पृथिवीसमवेतत्वे सति तदितरभूतचतुष्टया-
समवेतत्वरहितत्वं पृथिवीसमवेतत्वाभावाद्वा तदितरभूतचतु-
ष्टयासमवेतत्वाभावाद्वा; आद्यो व्याहृत इति द्वितीयः स्यात् ।
तथा च तोयादिममवेतत्वसिद्धिः । ततश्च 'आपः' इत्यस्य उप-
लक्षणत्वाच्छरीरारम्भकपञ्चभूतानि अनुगच्छन्ति । यत्तु स्वर्गे
श्रद्धामात्र श्रुतं न त्वाप इति, तत्रोच्यते— पञ्चम्यामाहुतौ
अपां पुरुषवचस्त्वं यथा भवति तथा किं वेत्येति प्रश्ने, अपां
पुरुषशब्दवाच्यत्वप्रकारमात्रमग्निविस्फुलिङ्गादिदृष्टिविशिष्टम-
ज्ञातं पृच्छ्यते, वाक्यस्य विशेषणे संक्रान्तत्वान् । आपस्त्वग्नि-
होत्रादिफलप्राप्तिपुनरावृत्तिपर्यालोचनया शास्त्रान्तराच्च ज्ञाता
एव । तत्र प्रथमाद्याहुतिषु आहुतिविशेषमजिज्ञासित्वा पञ्च-
माहुतिविषयप्रश्ने एवमभिप्रायः— या पञ्चमाहुतिः सैव प्रथ-
माहुतिस्थाने भवतीति; मति चैवं प्रश्नहृदये प्रथमाहुतावतिरि-
क्ताभिधानमसंबद्धं स्यात्; ततश्च श्रद्धाया हेतुत्वादापः श्रद्धा-
शब्देन लक्ष्यन्ते । 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते' इति श्रुतेः ।
यत्तु भूतोपादानवैयर्थ्यमिति, तत्परिहृतम्, प्राणगतेर्भूतापेक्ष-
त्वादिति । एवं भूतानामितः परलोकगमने सिद्धे, विचा-
र्यते— किं भूतैः परिवेष्टितो जीवो गच्छति, उत भूतानि
पृथग्गत्वा परलोके शरीरमारभ्य तं परिवेष्टयन्तीति । ननु

कर्मसमवायित्वाद्दृश्याम्, कर्मणश्च जीवाभितत्वात् कथं पृथ-
गगमनशङ्का ? उच्यते, लिङ्गशरीरमेव कर्माश्रयं परलोकं गत्वा
ख्यापितं जीवं वेष्टयिष्यति । अत्र—

अधामेव श्रुतेः प्रभ्रप्रत्युक्त्योभेतनाश्रुतेः ।

पृथगापः प्रयान्तीतः परलोके च वेष्टनम् ॥

उत्तरम्— न तावदापि ब्रह्म संसरति ; किन्तु तदेव देहो-
पाध्यवच्छिन्नं जीवः संसरतीत्याख्यायते ; स च गत्वैव पर-
लोकं प्राप्नोति, तस्मिंश्च धर्मादि अध्यस्वं लिङ्गोपाधितः—
इत्यध्यासभाष्ये उक्तम् ; एवं च,

सोमराजश्रुतेः साम्यात्पश्चात्प्रिविद्याणयोः ।

अप्सु भोजन्ययः सिष्येद्दृषां भोक्तारि चान्वयः ॥

विरुदाणे पथि ' आकाशाच्चन्द्रससमेप सोमो राजा ' इत्यत्र
इष्टाधिकारी चन्द्रलोकं प्राप्तः सोमराजशब्देन श्रुतः ; पश्चा-
त्प्रिविद्यायामपि ' अर्द्धा जुहति तस्या आहुतेः सोमो राजा
संभवति ' इति कर्तृवचनत्वेनान्वयप्र निर्णयतः सोमराजशब्द
आम्नातः ; ततश्च यत्र पश्चात्प्रिविद्यायामापः श्रुताः, तत्र
कर्ता प्रतीयते, यत्र विरुदाणे कर्ता श्रुतः तत्रापि पश्चात्प्रि-
विद्यायां श्रुता आपः प्रतीयेरन् ; न च वाच्यम्, आप एव
गत्वा शरीरमारभन्तां तेन चावच्छिन्ने जीवे सोमराज-
प्रत्यभिज्ञा भवत्विति ; यतः ' अर्द्धा जुहति तस्या आहुतेः

सोमो राजा संभवति' इति श्रद्धाशब्दवाच्याहुतेरमृतमयशरीरावच्छिन्नस्य कर्तुः संभवो विधीयमानोऽप्यपि कर्तृन्वयं गमयति । इतरथा अद्भ्योऽमृतमयशरीरमात्रमुत्पद्येत, तेन चावच्छेदोत्तरकालं सोमराजसंभवः प्रसज्येतेति ॥

कृत्वा न्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां

यथेनमनेवं च ॥ २ ॥

इष्टादिकृतां धूमादिमागेण चन्द्रलोकं गत्वा तत्र भुक्तभोगानां ततोऽवरोहः आमनायते, 'तस्मिन्त्यावत्संपातमुपित्वाथैतमेवाध्यानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' इत्युपक्रमे, संपातविगच्छति अनेन फलमिति संपातः कर्म, उपसंहारे च रमणीयचरणाः ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिमिति, तत्र संशयः— किं भुक्तकृत्स्नकर्माणः इष्टादिकारिणः अवरोहन्ति, उत अभुक्तफलकर्मवन्त इति; उपक्रमगतयावच्छब्दादुपसंहारगतरमणीयचरणशब्दाच्च । पूर्वत्र कर्तृनुगतकर्मसमवायिनीनामपामवरोहकाले पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारपरिणाम हेतुमाधित्यारोहेऽप्यद्भिः परिवेष्टितस्य जीवस्य गमनमुक्तम्; तस्य स्वर्गादवरोहतः कर्मैव नास्ति, कुतस्तत्समवायिन्य आपः; तथा चारोहेऽपि हेत्वभावात्त परिष्वङ्गसंसिद्धिरित्याक्षिप्यते—

यावच्चत्किंचशब्दाभ्यां सर्वकर्माभिधानतः ।

सृती सर्वक्रियाव्यपेक्षरवरोहोऽन्यकर्मतः ॥

उपक्रमगतात् 'यावत्संपातमुपित्वा' इति वचनात्, 'प्रा-
 प्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माद्दोकात्पुनरेव-
 स्यै लोकाय कर्मणे' इति श्रुत्यन्तराश्च, प्रायणस्य चानुपमुक्तक-
 लसकलकर्माभिव्यञ्जकत्वात्, व्यञ्जकाविशेषे व्यङ्ग्यार्थशेष्या-
 योगात्- प्रदीपसंनिधाविव पटपटादीनाम्- कर्मणामाभिव्यक्त-
 श्च फलाभिमुख्यरूपत्वात्, भाभिमुख्ये चाजनकरवानुपपत्तेः,
 समस्तकर्मफलं स्वयं उपभुञ्ज्य परकृतात्कर्मणः अवरोहन्ति ।
 स्मर्यते हि— 'पतत्यर्धमरीरेण सस्य भार्या सुरां पिवेत्'
 इति । श्राद्धवैश्वानरीयेष्टधादेरपि पितृपुत्रगामि फलं श्रूयते—
 'अथ यत्पितृभ्यो निमृणाति तेन पितृणां लोकः' इति ।
 निमृणाति प्रयच्छति श्राद्धादीत्यर्थः । तथा 'यस्मिंश्चास्ते
 एतामिष्टिं निर्धपति स पूतः' इति च । आचारादवरोह इति
 तु पूर्वपक्षस्तुच्छः । 'यथाकारी यथाचारी' इत्युपकन्य,
 'साधुकारी' इत्युपसंहारेण करणचरणैक्यस्य श्रुतत्वात् । एवं
 शप्ते, नभिधीयते—

बहुव्रीहिसमासाऽयं मतुवर्थे प्रयुज्यते ।

साक्षात्संबन्धलाभे च न युज्येत परम्पर ॥

रमणीयं चरणमेवामिति मतुवर्थसंबन्धे च बहुव्रीहिः । न
 चामौ संबन्धिभूतकर्मणि विप्रकर्षेण नेतुं युक्तः ; साक्षात्संब-
 न्धमंगवे-तदयोगात् । यावच्छ्रुतिः साक्षात्संबन्धं यावत्
 इति चेत्, न ; तस्या एव रमणीयचरणश्रुत्या स्वर्गार्थभूतकर्मणि

संकोचोपपत्तेः । उपक्रमश्रुतायास्तस्या उपसंहारात्तुरोधेन न संकोच इति चेत्, न ; अननुहृद्वेऽप्युपसंहारे तस्याः स्वयमेव संकुचद्वृत्तित्वान् ; न हि यावतां पुंसां संपातः, यावन्तो वा संपा-
ताः स्वयंकृतास्ते सर्वे शक्याश्चन्द्रलोके भोगेन क्षपायितुम् ; पुरु-
षान्तरकृतस्य स्वयंकृतस्य च चिरमुक्तस्य कर्मणः तत्र भोगा-
योगान्, तस्मात्स्वयं संकुचद्वृत्त्या यावच्छ्रुत्या अपेक्षितविषयः
उपसंहारेण ममर्ष्यते । एतेन यत्किञ्चिच्छ्रुतिं व्याचक्षीत् ।
कर्मणां युगपदभिव्यक्तं फलदाने च इदानीं क्रमेण सुखादिभो-
गो न स्यान् । पूर्वप्रायणेन युगपदभिव्यक्तं कर्मभिरिदानीं यु-
गपत्फलारम्भप्रसङ्गादित्येकमभिव्यक्त्या यो द्रष्टव्यः ॥

अनिष्ठादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ ३ ॥

इष्टादिकारिव्यतिरिक्ताश्चन्द्रलोकं गच्छन्ति, उत नेति सं-
शयः ; 'ये वै के चास्माद्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे
गच्छन्ति' इति अविशेषेण श्रवणात्, 'अथैतयोः पर्याय-
कनरेण चत तानीमानि ह्युद्राप्यसकृदावर्तानि भूतानि भव-
न्ति जायन्ते प्रियम्वेति एतन्नृतीयं स्थानम्' इति केषांचिन्मा-
गद्वयनिषेधेन तृतीदग्धानसंकीर्तनात् । इष्टादिकारिणां प्रतीति-
रित्युक्तम्, तत्र विशेषणवैयर्थ्यमाशङ्क्य परिहृत्यते ; अथवा
'पञ्चम्यामाहुनावापः पुरुषवधमः' इति धननमामर्ष्यादग्नि-
परिव्यञ्जरंक्षणवन् तत्तमामर्ष्यादेव देहान्तरलाभाय सर्वेषां
पञ्चामिगमनमाशङ्क्य निरस्यते इति ध्यवदित्तमंगतिः ; अथवा

यावच्छ्रुतिश्चत्सर्वश्रुतेर्न स्वयं संकुचदृत्तित्वमस्ति अनुपपत्त्य-
भावादित्यव्यवहितसंगतिः । तत्र—

सर्वशब्दो न संकोच्यः स्थानमात्राभिधानतः ।

देहाप्तये च चन्द्रातिरनिष्टादिकृतामपि ॥

तृतीयस्थानशब्दो हि न सर्वशब्दस्य संकोचकः; तेन
स्थानमात्राभिधायकेन मार्गानभिधानात् । चन्द्रलोकादवती-
र्णानामपि तत्स्थानत्वसंभवात् । पञ्चम्यामाहुती देहान्तरलाभः
इत्यविशेषेण श्रुतम् । पञ्चमाहुतिप्राप्तिश्च न श्रद्धाद्याहुतिमन्तरे-
पेति चन्द्रलोकः सर्वैर्गन्तव्यः । 'न कतरेण चन' इति नि-
पेधश्चन्द्रलोकभोगं निषेधति न गमनम् । न च भोगमावे
ऊर्ध्वगमनवैयर्थ्यम्; अनन्यमार्गितया प्राप्तं गच्छन् वृक्षमूला-
न्युपसर्पति इतिवत्— संघमितीं पुरीं गन्तुं चन्द्रलोकगमन-
मिति प्राप्ते, अभिधीयते—

मार्गापेक्षं तृतीयत्वं मार्गस्यैव समञ्जसम् ।

पञ्चम्यां प्रापयेद्देहं श्रुतिर्नान्यत्र वारयेत् ॥

यद्यपि स्थानशब्दात् मार्गप्रतीतिः, तथापि 'वेत्थ यथासौ
लोको न संपूर्यत ३' इति प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे 'अथैतयोः
पथोर्न कतरेण चन' इत्यानिष्टादिकारिणां मार्गद्वयनिषेधपूर्वकं
तृतीयं स्थानं द्युलोकापूरणाय वदन् मार्गमेव वदेत्; अवान्त-
रसंख्यानिवेशस्य साजात्यापेक्षत्वात् । यदि तु पिश्यापेक्षाव-

रुह्य प्राप्तं कीटादिस्थानं तृतीयमभविष्यत्, तर्हि रमणीयादि-
 योनिरपि प्राप्यमाणा तृतीयत्वेन निरदेक्ष्यत; न च निर्दिष्टा;
 तस्मात्तृतीयस्थानं मार्गान्तरमनिष्टादिकारिणो गच्छन्तीति वि-
 शेषवचनाच्च सर्वशब्दः इष्टादिकारिषु संकुचति । 'पञ्चम्यामा-
 हुतौ' इति च वचनं पञ्चम्यां देहं प्रापयति, न अपञ्चम्यां प्र-
 तिषेधति, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । न चार्थात्प्रतिषेधति; कीटादि-
 स्थानतृतीयमार्गविषयविशेषवचनविरोधान् । तथा च न कीटा-
 दिलाभाय शुलोकगमनापेक्षा । चिन्ताप्रयोजनं तु पञ्चाग्निवि-
 शायामविशेषेण दिष्टं गताः श्रद्धाद्याहुतिमयभूतपरिष्वक्ता अ-
 नुचिन्तनीयाः पूर्वपक्षे । सिद्धान्ते तु इष्टादिकारिण इति ॥

साभाव्यापत्तिरूपपत्तेः ॥ ४ ॥

इष्टादिकारिण एव भूतसूक्ष्मपरिवेष्टिताः चन्द्रमसमधिरुह्य
 ततः सानुशया अवरोहन्ति न त्वनिष्टादिकारिण इत्युक्तम् ।
 इत आरभ्य आपादपरिसमाप्तेः तेषामेवावरोहप्रकारः परीक्ष्य-
 ते । तत्रैवमवरोहश्रुतिर्भवति—'अथेममेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते
 यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा
 अर्ध्रं भवति अर्ध्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' इति;
 तत्र संशयः—किमवरोहन्त आकाशादिरूपेण परिणमन्ते, उत
 आकाशसदृशा भवन्ति उत्तरैश्च संवध्यन्त इति । नित्याका-
 शसंयोगव्यासाध्यत्वात्तत्मादृश्यम्; 'धूमो भवति' इत्यादिश्रुतेः
 'आकाशम्' 'वायुम्' इति कर्मश्रुतेश्च । जीवानां निरवयव-

त्वेनापरिणामित्वेऽपि लिङ्गशरीरस्य तत्संभवः । पूर्वत्र मार्गगतत्रित्वसंख्यायोगात्स्थानमपि मार्ग इत्युक्तम् । तर्हीहाप्यनुशय्यात्मकवायुगतकर्मत्वस्याकाशेऽपि गम्यमानत्वादाकाशस्याप्यनुशयितादात्म्यमिति प्रत्यवस्थानात्संगातिः । तत्र—

आकाशाद्यात्मकत्वं स्यात्कर्मिणां भवतिश्रुतेः ।

अन्यस्यान्यात्मता दृष्ट्वा नन्दीशनद्रुपादिषु ॥

भूत्वेति कर्मणो वायोस्तादात्म्यप्रतिपादनात् ।

अकाशस्यापि तादात्म्यं कर्मत्वेऽपि प्रतीयते ॥

देहत्यागमनु पश्चाद्देहान्तरे शेरत इत्यनुशयिनः कर्मिणः, तेषां धूमादिभिस्तादात्म्यम् ' भवति ' इति श्रुतेः स्फुटमवगम्यते । न चास्याः धूमादिसंसर्गसादृश्यपरतया गौणत्वम् ; मुख्यार्थसंभवे तदयोगात् । न चान्यस्यान्यभावानुपपत्तेर्मुख्यार्थासंभवः ; मनुष्यशरीरस्य नन्दिकेश्वरस्य महादेवप्रसादादेवशरीरपरिणामस्य, देवशरीरस्य नद्रुपस्यागत्वशापाद्जगरशरीरपरिणामस्य च स्मरणात् । यद्यपि आकाशे वायौ च कर्मत्वं प्रतीयते, तथापि वायौ तावत् ' वायुर्भूत्वा ' इति तादात्म्यमवगतम् ; कर्मत्वं च अनुशयिभिस्तद्रूपपरिणामार्थं गम्यत्वादुपपन्नम् ; आकाशस्यापि तेन सह कर्मत्वनिर्देशसमभिध्याहारसाम्यात् तदात्मनाप्यनुशयिनः परिणमन्ते इति श्राप्ते, अभिधीयते—

सिद्धस्थासिद्धरूपेण परिणामो हि दृश्यते ।

भिद्धाकाशादिरूपेण नान्यस्य परिणामिता ॥

मनुष्यशरीरसमये देवशरीराभावात् युक्तस्तस्य तदाकारेण परिणामः; अनुशयिनां सूक्ष्मशरीरस्य तु आकाशेन योगे पश्चान्न तदाकारपरिणामिता; न हि समसमये दध्ना दुग्धं परिणमते; एवं च मुख्यार्थात्लाभेन भवतिश्रुतिर्गौणी; सा चाकाशसादृश्यपरा; तथा वाय्वादिष्वपि भिन्नसमयत्वसंभवेऽपि संसर्गपरा; उपक्रम एव मुख्यत्वमङ्गात् । आकाशाद्यैक्ये सति न रमणीयादियोनिप्राप्तिः, सादृश्ये तु भवतीति चिन्ता-प्रयोजनम् ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ ५ ॥

आकाशादिप्रतिपत्तां प्राग्ब्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विशयः—
म किं दीर्घकालमाकाशादिसादृश्येनावस्थाय उत्तरोत्तरसा-
दृश्यं संसर्गं वा गच्छति, उत अल्पकालमिति । आकाशादि-
सादृश्य एव चिराचिरत्वविचारणात्मंगतिः । चिरत्वे हि सा-
दृश्यस्य महाप्रलयस्थितेनाकाशेन सादृश्यसंभवेन देहलाभो
न स्यात्; अचिरत्वे तु स्यादिति सप्रयोजना चिन्ता । तत्र—

अतो वा इति सर्वेषामुक्तेरनुमितेरपि ।

दुःस्वार्थत्वाद्दुरित्यस्य सर्वेषु चिरमाविता ॥

अनुशयिनामाकाशाद्यवस्थानं चिरमार्थि, अनुशय्यवस्था-

नत्वात्, व्रीह्याद्यवस्थानवत् । न च 'अतो वै खलु दुःप्र-
पतरम्' इति व्रीहिभावाभिर्गमस्य दुःशब्देन चिरभाविस्त्व-
श्रुतेः अर्थादितरेभ्योऽचिराभिर्गमावगमात् श्रुतार्थापत्तिवाधि-
तमनुमानमिति वाच्यम् ; 'अतो वै खलु' इत्यत्र अतःशब्देन
प्रकृतानां सर्वेषां परामृष्टत्वेन सर्वेषु चिरावस्थानप्रतीतिः ;
आपि च दुःशब्दोऽयमेकदेशलक्षणया दुःखमाह, न विल-
म्बम् ; तस्य तत्राप्रसिद्धेः । न चैवं व्रीह्याद्यवस्थानेऽपि चिर-
त्वे मानाभावान् संदिग्धसाध्यता ; गिरितददुर्गादिधृतधान्येषु
रेतःसिम्भिरनद्यमानेषु अनुशयिनां पाषड्रीह्यादिभाविस्त्वेन त-
द्रूपरूपादितचिरावस्थानसिद्धेः ॥

अत्र सिद्धान्तः—

दुःखं निपेत्यते सर्वनामाव्यवहितं वदेत् ।

तथा च नानुमोदेति श्रुतार्थापत्तिवाधिता ॥

अनन्तराधिकरणे अनुशयिनां दुःखभोगः प्रतिपेत्यते ;
तथा च विलम्बपरो दुरुपसर्गः ; आकाशादीनां प्रकृतत्वा-
विशेषेऽपि अतःशब्दः अनन्तरवाक्योक्तव्रीह्यादीन् परामृशति,
न व्यवहिताकाशादीन् ; तथा च व्रीहिभावचिरावस्थानश्रुता-
र्थापत्तिवाधितमनुमानमिति ॥

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलाषात् ॥ ६ ॥

अस्मिन्नेवानुशयिनामवरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते 'त इह

प्रीहियवा ओपधिवनस्पतयस्ति लमाया इति जायन्ते' इति ; तत्र संशयः— किं स्थावरजात्यापन्ना भोक्तारोऽनुशयिनः, उत तत्संश्लेषमात्रभाज इति ; 'जायन्ते' इति श्रुतेः कर्मपूर्वकत्वश्रुतेश्च । पूर्वत्रान्यस्यान्यभावानुपपत्तेः वाग्वादिषु भवति-श्रुतेरुपचरितार्थत्वमुक्तम्, अत्र तु चेतनेषु 'जायन्ते' इति शब्दस्य देहग्रहणे रूढत्वात् तस्य चाविरोधात्तदाशङ्क्यते । तत्र,

मुख्यार्थत्वाज्जनेर्यज्ञपशुर्हिसाद्यधर्मतः ।

अवरोहन्त इष्टादिकृतः स्थावरतां ययुः ॥

मनुष्यो जायत इत्यादौ जनेः शरीरग्रहणे प्रसिद्धत्वाद्-त्रापि प्रीहियवादिशरीरा एवानुशयिनः । न च 'रमणीयचरणाः' इत्यादिवत् कर्मविशेषासंकीर्तनं मुख्यार्थत्वबाधकम् ; तदसिद्धेः, इष्टादिसंकीर्तनात् ; इष्टादेश्च पशुर्हिसादिनिषिद्धकर्ममिश्रितत्वेन स्वर्गभोगानन्तरं स्थावरशरीरभोग्यदुःखफलत्वस्याप्युपपत्तेः । न च 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति सामान्यशास्त्रस्य सामान्यद्वारेण विशेषस्पृशः साक्षाद्विशेषविषयविधेः 'अप्रीयोर्मीयं पशुमालभेत' इत्यस्मादुर्बलत्वात् बाध इति सांप्रतम् ; न हि बलवदित्येव दुर्बलं बाधते, किंतु सति विरोधे ; न च इहास्ति विरोधः, क्रतुप्रकरणसमाप्नातो हि विधिः हिंसायाः क्रत्वर्थतामापादयति, न त्वपनुदति निषेधापादितामस्याः पुरुषं प्रत्यनर्थहेतुताम् । तस्मात्कर्मविशेषसंकीर्तनपूर्वकं स्थावरजन्मनिर्देशः 'रमणीयचरणाः' इत्यादाविव

देहग्रहणं गमयतीति प्राप्ते, अभिधीयते—

पुमर्थगोचरो हिंसां कत्वर्था न निषेधति ।
प्रतिषेधस्ततो दुःखं न भवेत्पशुहिंसया ॥

‘हिंस्यात्’ इत्याख्यातेन भावनावाचिना अर्थात्कर्तावग-
म्यते, तच्छेषश्च हिंसा समानपदश्रुत्यावगता; तस्याश्च रागतः
कर्तव्यत्वं प्रत्ययेनानूदितं तत्र निषिध्यते । एवं प्रतिषेधस्य
रामप्राप्तहिंसाविषयत्वेन चरितार्थत्वे संभवति नाधिकारान्त-
रानुप्रविष्टकत्वर्थहिंसानुवादेन तन्निषेधकल्पनं युक्तम्; गौर-
वात् । न चायं प्रतिषेधः क्रतुप्रकरणे श्रूयते, येन ‘नानृतं
वेदेत्’ इतिवत् कत्वर्थविषयः स्यात्; अनारभ्याधीतो ह्ययम् ।
ततश्च हिंसाया अनिषिद्धत्वान्न अनर्थहेतुत्वम्; तथा च अनु-
शयिनां व्रीह्यादिजन्म न मुख्यम्, अस्मिन्प्रकरणे कर्मजन्य-
त्वमन्तरेण कीर्तितत्वे सत्प्रत्ययस्य अन्यभावरूपत्वात्, आका-
शादिभाववदिति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः ॥



संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

कर्मफलस्य यातायातरूपत्वेन वैराग्यं निरूपितम्; इदानीं
विरक्तम्य तत्त्वंपदार्थविवेकाय द्वितीयः पाद आरभ्यते । तत्रापि,

न स्थानतोऽपीत्यस्मात्प्रावृत्त्वंपदार्थो विवेचितः ।

तत्पदार्थस्ततः पञ्चाद्यावत्पाद् समाप्यते ॥

यस्य जीवस्य जाग्रदवस्थायामिहलोकपरलोकसंचार उक्तः,
तस्य स्वयंज्योतिष्टाय स्वप्नाद्यवस्था प्रथमाधिकरणे परीक्ष्यते ।
जाग्रदवस्थायां हि आदित्यादिसंकराद्दुर्विवेकं स्वयंज्योतिष्टम्;
तत्र यदि स्वप्नोऽपि सत्यः स्यात्, तदवस्थं दुर्विवेकत्वमिति
तन्निर्मध्यात्वमुच्यते; मनस्तु स्वप्ने सद्यपि दृश्यत्वान्नात्मभा-
सकम्; आदित्यादीनां दृश्यत्वाविशेषेऽपि स्वरूपतोऽप्यभाव-
समर्थेनार्थवती चिन्ता । आरम्भणाधिकरणे सर्वविका-
राणां परमार्थत्वाभाव उक्तः; इह तु स्वाप्नदृश्यानामर्थक्रिया-
कारित्वरूपं मन्वमाशङ्क्य निरस्यत इति भेदः; तत्र स्वप्न-
दृश्यं ब्रह्ममाक्षरत्कारादवांगवाध्यम्, उत वाध्यम्, इति रया-
दिसर्गाज्ञानात् रथाद्यभावाज्ञानाद्य संशयः । इह सर्वाण्येव
मिथ्याज्ञानानि उदाहरणम्; न्यायस्य तुल्यत्वात् । स्वयंज्यो-

तिष्ठोपयोगितया तु स्वप्रज्ञानमुदाहृतम् । तत्र—

सम्यक्स्थाद्विमृतं ज्ञानं ज्ञानत्वात्संमतं यथा ।

न बाधः कालभेदादेर्विभिन्नविषयत्वतः ॥

रजतमेव कालान्तरे शुक्लचाकारपरिणतं शुक्तिज्ञानविषय इति इदं रजतमिति ज्ञानस्य इयं शुक्तिरिति ज्ञानेन न बाधः; कालभेदेन भिन्नविषयत्वात् । एकं वा वस्तु अनेकात्मकं कदाचित्तीव्रातपरलानिसहितनयनेन रजतरूपेण गृह्यते, आलोकमात्रसङ्कृतेन तु शुक्तिकारूपेण—इति ग्रहणसामग्रीभेदाद्विरोधः । अपि च, विरोधेऽपि बलवता दुर्बलं बाध्यम्, न चात्र बलाबलविनिगमनम्; द्वयोरपि ज्ञानयोः स्वगोचरचारितया समानत्वात्; एतेन स्वप्नो व्याख्यातः । भवति चात्र श्रुतिः— ‘अथ रथान्तरथयोगान्पथः सृजते’ इति; ‘न तत्र रथाः’ इति श्रुतिस्तु जामदगस्थादर्शनयोग्य-रथाद्यभावपरा । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

नान्यकालेऽन्यथाभावो भ्रमकालेऽपि बाधतः ।

व्यात्मतायां तु शुक्तेः स्यात्कार्यं जातिद्वयेऽचितम् ॥

न तावद्रजतस्यैवोत्तरकालीनः परिणामः शुक्तिज्ञानगोचर इति युक्तम्; रजतमिदम् इति भ्रमगृहीतस्य तत्कालेऽपि निर्मललोचनेन पुरुषान्तरेण शुक्तित्वेन वेदनात्; नापि तद्वैव शुक्तिरजतात्मकम्, तथा सति शुक्तिरजतत्वप्रयुक्तकार्यद्वय-प्रसङ्गेन शुक्तिदाहे क्षारभावद्रवीभावयोरुपलम्भप्रसङ्गात् । यत्तु

बाध्यबाधकभावानिश्चय इति, तन्न ; पूर्वज्ञानस्योत्तरेण बाधान्
 रजतज्ञानात्प्राक् शुक्तिज्ञानस्याप्राप्तस्य तेन बाधानुपपत्तेः ।
 ज्ञानयोः स्वगोचरचारित्वेऽपि शुक्तित्वरजतत्वयोः वर्णितेन प्र-
 कारेण एकधर्म्यसमावेशे स्याद्विरोधः । एवं च भ्रमसम्यक्त्वा-
 नुमानं बाधकप्रत्ययेन कालातीतम् । एतेन स्वप्नप्रत्ययो मि-
 थ्येति व्याख्यातः । न्यायानुभवसिद्धं तद्बाधनम् 'न तत्र
 रथाः' इति श्रुतिः अनूद्य आत्मनः स्वप्नकाशत्वं प्रतिपादयती-
 ति । स्वप्नस्त्रीदर्शनादेः अस्ति व्यावहारिकं सत्त्वम्, नोपलब्धं
 स्यादि इति बाधानुपलम्भात् । युक्त्या तु मिथ्यात्वरूपित-
 त्वेन तात्त्विकत्वं बाध्यते । अतस्तस्य सत्यशुभाविसूचनमर्थ-
 क्रिया न विरुध्यते ॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥

'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः' संहृतकरण इत्यर्थः ; अत एव
 'सप्तसप्तः स्वप्नं न विजानाति, आसु तदा नाडीषु सृष्टो
 भवति' इति श्रुतेः ; तथान्यत्र 'नाड्यः द्वासप्ततिसहस्राणि
 ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति श्रोत्रे' इति नाडीपुरीतस्त-
 मुच्चय आम्नायते । तथा अन्यत्र च 'तासु तदा भवति
 यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवंप्रका-
 भवति' इति प्राणशब्दवाच्यस्य ब्रह्मणो नाडीनां च समुच्च-
 यो निगद्यते । अन्यत्र च 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मि-
 न्श्रोत्रे' इति केवलं ब्रह्म सुषुप्तिस्थानं निगद्यते । तत्र— किं

नाड्यादि विकल्पेन सुषुप्तिस्थानम्, समुच्चयेन वेति संशयः ; प्रत्येकं सप्तमीश्रवणात्, ताभिः प्रत्यवस्तूप्य' इत्यादिसमुच्चय-निर्देशाच्च । सत्यपि नाडीनां पुरीतद्ब्रह्मभ्यां समुच्चयश्रवणे, विकल्पः कल्प्यते ; कदाचिन्नैरपेक्ष्येण नाडीनामाधारत्वात् ॥

जीवस्य स्वप्नभत्वाय स्वप्नमिध्यात्वमीरितम् ।

अथास्य ब्रह्मभावाय सुप्तिः केति विचिन्त्यते ॥

तत्र—

प्रत्येकं सप्तमीश्रुत्या नैरपेक्ष्यप्रतीतितः ।

आधारत्वेन चैकाध्याज्ञाह्यादीनां विकल्पनम् ॥

उत्तरम्—

समुच्चयं तु स्वीकृत्य विकल्पाश्रयणाद्वरम् ।

समुच्चयोऽस्तु सर्वत्र न विकल्पोऽष्टदोषतः ॥

न तावन्नैरपेक्ष्यं सप्तमीभिरवगमयितुं शक्यम् ; 'ताभिः प्रत्यवस्तूप्य' इत्यादिना सापेक्षत्वस्य द्युतत्वात् । न च संभवति ; वस्तुतः परमात्मस्वभावस्य जीवस्थान्तःकरणापाध्याश्रितस्य नाड्यादावाश्रितत्वासंभवात् ; इतरथा परममहत् आधेयत्वाद्योगात् । तथा च सति मनसि स्वप्नवद्विशेषविज्ञानप्रसङ्गे सुषुप्तिव्याघातः । एतेन तुल्यार्थत्वं नाड्यादीनां निरस्तम् ; तेषां जीवोपाध्यन्तःकरणाधारत्वात् । जीवश्च ब्रह्मतादात्म्येन ब्रह्मण आधारत्वानुपपत्तेः । यद्यपि जीवः सुषुप्तावज्ञानोपहितः, तथापि तस्य परमार्थतो ब्रह्मात्मकत्वात् सायदुपाधि भेदकल्पना स्थूलसूक्ष्मोपाध्योश्च निवृत्तत्वात्तादात्म्यव्यपदेशः, अल्पो-

पाध्यवशेषात् तस्माधिकानन्दाभिव्यक्तिश्च । एवं नानार्थत्वात्
 ममुच्चयश्रुतेश्च तस्मिन्नवडयाश्रयितव्ये विकल्पनमनुपपन्नम् ;
 तस्याष्टदोषदुष्टत्वात्—नाडीं परित्यज्य पुरीतदायतनत्वेन क-
 चित्सुपुष्पावाश्रिते नाडीवाक्यस्य प्रमितप्रामाण्यपरित्यागः, अप्र-
 मिताप्रामाण्यस्वीकारः, पुनः सुपुष्यन्तरे नाडीनामाश्रयत्वाश्र-
 यणे नाडीवाक्यस्य पूर्वस्वीकृताप्रामाण्यपरित्यागः, परित्यक्त-
 प्रामाण्योपादानमिति नाडीवाक्ये चत्वारो दोषाः । एवं पुरी-
 तद्वाक्ये चत्वारः— इत्यष्ट दोषाः । ब्रीहियवयोस्तु न समुच्च-
 यश्रवणम्, न वानेकार्थत्वम्, क्रतुसाधनपुरोडाशप्रकृतित्वात् ;
 अतो गत्यन्तराभावाग्नियमार्थतया सकलप्रयोगव्याप्तिबोधि-
 कयो ' ब्रीहिभिः ' इति ' यवैः ' इति च श्रुत्योरनुग्रहाय विकल्प
 आश्रित इति । सति चैवं नाडीषु पुरीतति च सप्तम्यौ सामी-
 प्यपरतया नेतव्ये—प्रासादे शेते पर्यङ्के शेते इतिवत् । ब्रह्मणि
 तु सप्तमी तादात्म्यप्राप्त्यभिप्राया ॥

म एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ३ ॥

सुपुष्यनन्तर ब्रह्ममंप्रतिपत्तेः प्रतिबुध्यमानो जीवः किं
 यः संपन्नः स वा, अन्यो वेत्यनियमः, उत स एवेति संशयः ।
 यः सुप्तः सोऽहं जागामि इति प्रत्यभिज्ञानान्, सुपुष्पाबुधाधि-
 प्रविलयाच्च ॥

आत्यन्तिकतयोऽसृष्टा सत्संपत्तिः पुरोदिता ।

अविद्याशेषतन्मस्या अपवाद इहोच्यते ॥

अथवा, 'अतः प्रबोधोऽस्मान्' इति सुपुप्स्यनन्तरं ब्रह्मणः प्रबोधोऽस्त्वनात् तदात्मनैव सुपुप्स्यस्तिष्ठतीत्युक्तम् ; तत्र ततः प्रबोधस्तत्संपत्तिं न गमयति सुपुप्सावन्यस्य प्रबोधसंभवेन सुपुप्स्य नाडीपुरीततोरवस्थानसंभवादित्याक्षिप्यते ॥

उपाधिलयतो जीव एकतां ब्रह्मणा गतः ।

नास्त्येव तत उत्थानमुदविन्दुरिवाम्बुधेः ॥

यथा हि समुद्रे क्षिप्त उदविन्दुरुद्धर्तुं न शक्यते, तद्वच्चि-
दम्बुधौ स्थूलसूक्ष्मशरीराद्यध्यामलयादेकीभूतो जीवः सुपुप्सौ ;
पुनः प्रबोधे स एवोत्तिष्ठतीति दुःसंपादम् । अत्र च धर्मा-
तिरिक्तं भावरूपमज्ञानं नास्तीति मन्वानस्य पूर्वः पक्षः ॥

अथ राद्धान्तः—

सुप्तस्यैव प्रमुद्यत्वे कर्मादिभिरवस्थिते ।

अनाद्यविद्यावच्छेदः सुपुप्सावपि कल्पते ॥

पूर्वं सामिकृतस्य कर्मणः सुप्तोत्थितेन शेषानुष्ठानम्, यः
सुप्तः सोऽहं जागर्मि इति प्रत्यभिज्ञानं च, नान्योत्थानेऽव-
कल्पने ; 'त इह व्याप्तो वा सिंहो वा यद्यद्भवन्ति तदा भव-
न्ति' इत्यादिश्रुतिश्च सुपुप्तस्यैवोत्थानं दर्शयति । अन्योत्थाने
च कर्मविद्याविधिवैयर्थ्यम् ; सुपुप्तिभात्रेण मोक्षप्रसङ्गात् ; त-
स्मात्सुप्त एवोत्तिष्ठति । एतद्वानाद्यविद्योपधानं जीवस्य कल्प-
यति ; सुप्तावन्तःकरणविलयात् स्थूलशरीराध्यासस्य च नदा-

नीमभावान्; श्रूयते च— 'मति संपद्य न विदुः' इति सुपु-
 ष्पावज्ञानम् ॥

मुग्धेऽर्धमंपत्तिः परिशेषात् ॥ ४ ॥

मुग्धः सुप्तादन्यो न वेति संशयः; विशेषविज्ञातरहितत्वा-
 न्, भयानकवदनत्वादिलक्षणभेदाच्च । पूर्वत्र सोऽहमिति प्रत्य-
 भिज्ञानात्सुपुष्यप्रतिबुद्धैक्यमुक्तम्; तर्हि विशेषविज्ञानाभाव-
 प्रत्यभिज्ञानात्सुप्तिरेव मुग्धता ॥

विशेषज्ञानहीनत्वे पुनरुत्थानवत्त्वतः ।

मुग्धः सुप्तिश्चिरोच्छ्वासाद्यवान्तरविभेदतः ॥

स्वप्नजागरितयोरव्यभिचाराय विशेषज्ञानहीनत्वग्रहणम्;
 मृतावनेकान्तधारणाय पुनरुत्थानवत्त्वम् । चिरोच्छ्वासवै-
 पयुप्रमृतयस्तु धर्माः सुप्तेरेवावान्तरभेदत्वात् मुग्धे उपपद्यन्ते—
 सुपुष्टेरिव अङ्गगौरवलाघवादिः । विशेषविज्ञानाभावो हि सु-
 पुष्टेरन्तरङ्गम्, नद्रभावाभिव्यक्तिहेतुत्वात्; अतस्तत्साम्यम-
 वानुसर्तव्यमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

नद्रभावाविशेषेऽपि लक्षणान्यत्वतो यथा ।

सुप्तेर्मृतेर्मिदा मुग्धेस्तथा लक्षणभेदतः ॥

यथा हि 'तेजः परस्यां देवतायाम्' इति मृतौ लिङ्गश-
 रीरस्य मद्यपि लयाभिधानान् जीवस्य नद्रभावेऽपि पुनरु-
 त्थानरूपालक्षणभेदात्सुप्तेर्मरणस्य भेदः; एवं मुग्धेरपि प्रसन्न-

वदनत्वादिलक्षणलक्षितात्सुप्तात् भयानकवदनत्वादिना भेदः;
अत एव अनुमानमपि प्रसन्नवदनत्वादिना सोपाधिकम्; सुग्धिः
सुप्तिर्न भवति, करालवदनत्वादिलक्षणत्वात्, क्रोधावस्थाव-
दिवि उपाधिव्यतिरेकेण सत्प्रतिपक्षिता च । शरीरपातप्रयो-
जनत्वान्मोहस्य सत्येव मोहे शरीरपातात्, श्रमापनुत्त्यर्थत्वा-
त्स्वापस्य; मुसलपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्त-
त्वात्स्वापस्य; विशेषविज्ञानाभावात् मोहत्वापाभेदानुमाने च
विशेषविज्ञानभावात् जाग्रत्त्वप्रयोरभेदापातः; सुप्तस्याप्यङ्ग-
लाघवाद्यवान्तरभेदेऽपि निमित्तप्रयोजनलक्षणाभेदेर्बहुभिरभे-
दः । यदा तु सुग्धिः सुप्तेर्निद्रा, तदा समार्था पृथक्कृत्यः
परिभाक्नीयः, न चेन्न— इति चिन्ताप्रयोजनम् ॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं

सर्वत्र हि ॥ ५ ॥

येन ब्रह्मणा जीवः सुप्तिमुग्धाद्यवस्थासु तादात्म्यं प्राप्नोति,
तन् सविशेषं निर्विशेषं चेत्युभयरूपम्, उत निर्विशेषमेवेति
संशयः; 'सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादिश्रुतेः, 'अस्थूलम्'
'नेति नेति' इत्यादिश्रुतेश्च । तत्र—

उपाधिजस्य सत्यत्वमप्रामाण्यं यथा दृशः ।

निर्विशेषं ततो ब्रह्म सविशेषमुपाधितः ॥

ब्रह्मणि सविशेषत्वनिर्विशेषत्वयोः श्रवणादुभयरूपत्वं यु-

कम्, तत्राप्यनयोर्भावाभावरूपयोर्विरोधान् सविशेषत्वमुपाधि-
तः, विशेषस्योपाधिमन्तरेणानिरूपणात्; न च चत्परतस्त-
दसत्यम्, न हि चक्षुषः स्वतः प्रमाकरणस्य दोषोपाधिकमप्रमा-
करणत्वमवास्तवम्, भ्रमलक्षणकार्यानुत्पादप्रसङ्गात्; यद्यपि
स्फटिकलौहित्यादिकम् औपाधिकं मिथ्यापि दृश्यते, तथापि
न ब्रह्मण्यौपाधिकं रूपं तथाविधम्; श्रुतिप्रमितत्वात् । एवं
प्राप्ते, अभिधीयते—

परिणामाद्धि वस्तुनां स्वभावादन्यरूपता ।

न भेदादिविकल्पान्ता सहेतेति मृषा मता ॥

तथाहि वस्तुनो रूपान्तरापत्तिः परिणामाद्वा विवर्ताद्वा,
न तावदौपाधिकरूपान्तरापत्तिर्वास्तवी सती विवर्तो भवितुम-
र्हति, परिणामस्तु स्यात्; परिणामोऽपि वस्तुनः सर्वात्मना
एकदेशेन वा; आद्ये अनवशेषेण पूर्वरूपे निवृत्ते न तस्य
परिणामः; द्वितीये स एकदेशस्तस्माद्भिन्नश्चेत् न वस्तुनः
परिणामः, न ह्यन्यस्मिन्परिणममाने अन्यः परिणमते, अभेदे
सर्वात्मना परिणामापातः; भिन्नाभिन्न एकदेशो वस्तुत इति
चेत्, न, भेदस्याभेदविरोधित्वात्, अविरोधे एकदेशस्यैक-
देशिमात्रत्वं स्यात्, भेदस्याभेदे सत्यपि अविरोधान् तस्यैव
सर्वात्मना परिणामापत्तेः; एतेन चक्षुरादिप्रमाणानां दोषापा-
दितं रूपं सत्यमिति निरस्तम्; तस्यापि विचारामहत्त्वेनावा-
स्तवत्वान् । ब्रह्मसप्रपञ्चत्वश्रुतिविरुद्धा एते तर्का इति चेत्,

न, द्विधा हि वेदान्तानां प्रवृत्तिः— वस्तुप्रकाशनेन, उपासनाविधानेन च; वस्तुज्ञापनमपि द्विधा— परप्रतिपेक्षेन, विधिमुख्येन च; यथा— 'नेति नेति' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' इति । तत्र ये निषेधाधिकारपठिताः प्रपञ्चाः— 'द्वे साध ब्रह्मणो रूपे, मूर्त चामूर्त च' इत्यादयः, ते सृष्टिब्रह्मैर्ब्रह्मसंश्लिधत्वेनारोपिताः प्रतिषेधायानूद्यन्ते; ये तु विधिमुख्यप्रतिपादनप्रकरणपठिताः, ते 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादिशब्दैः प्रतिपिपादयिपिताद्वैतप्रमित्यर्थं कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्मव्यतिरेकेण अभावाय ब्रह्मकार्यत्वेन निर्दिश्यन्ते—'आत्मन आकाशः संभूतः' 'तत्तेजोऽसृजत्' इत्यादिभिः । ये पुनः 'स क्रतुं कुर्वति' इत्याद्युपासनाप्रकरणे 'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्यादिभिः प्रपञ्चा अभिधीयन्ते, ते उपासनाविध्यर्थत्वात्तद्वाक्यानां न ब्रह्मणः सप्रपञ्चतामावहन्ति; अन्यपरादपि शब्दात्प्रतीतं तथेत्याभयिष्यते, यदि न प्रमाणान्तरैः प्रतिषेधयिष्यते; सन्ति च 'नेह नानास्ति किंचन' इत्याद्या द्वैतवाधिन्यः श्रुतयस्तत्पराः; अद्वैतस्य मानान्तरानवगम्यमानत्वान् निर्दुःखपरमानन्दत्वेन पुरुषार्थत्वाच्च ताप्रतिपादकश्रुतीनां तत्परत्वम्; द्वैतस्य तु लोकमित्त्वान् अपुमर्थत्वाच्च तद्वाक्यानामत्रत्परत्वमिति । तस्मान्मायामयी सप्रपञ्चता, निष्प्रपञ्चता तु तात्त्विकीति मितम् ॥

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो
ब्रवीति च भूयः ॥ ६ ॥

‘द्वे वाच ब्रह्मणो रूपे मूर्ते चामूर्ते च’ ‘पृथिव्यप्तेजां वा-
य्वाकाशौ च’ इत्युपक्रम्य, अमूर्तरसस्य लिङ्गात्मनो माहार-
जनाद्युपमितानि रूपाणि स्वप्नेऽभिव्यज्यमानानि वासनाम-
यानि दर्शयित्वा पठ्यते— ‘अथात् आदेशो नेति नेति’
इति; तत्र संशयः— किमयं प्रतिषेधो रूपद्वयं सवामनम्,
रूपि च ब्रह्म प्रतिषेधति, उत एकतरम्; यदा ह्येकतरम्,
तदा किं रूपि प्रतिषेधति, उत रूपद्वयमिति; रूपद्वयस्य
रूपिणश्च प्रकृतत्वात् इति-शब्देन परामृश्य नवा निषेधसंभ-
वाश्च । तत्र—

निषेधश्रुतिभिर्ब्रह्म निर्विशेषं निरूपितम् ।
तस्या ब्रह्मनिषेधत्वमिहाशङ्क्य निरस्यते ॥

अथवा

सन्मात्रं ब्रह्मसामान्यं सद्विशेषानपेक्षते ।
विशेषेषु निषिद्धेषु नास्ति ब्रह्मेति शङ्क्यते ॥

सद्वैधरूपं हि ब्रह्म मूर्तामूर्तादिप्रपञ्चमाधारणतया सामा-
न्यम्, तस्य विशेषाः मूर्तादयः; न च विशेषनिषेधे सामा-
न्यमवस्थातुमर्हति; ‘अस्तीत्येवोपलब्धव्यः’ इति च अस-
त्यपि ब्रह्मणि सत्त्वेनोपास्तिविधानम्, तत्प्रशंसार्थश्चायमर्थ-

वादः— 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' इति ।
यवान्यन् तत्र तत्र ब्रह्मप्रतिपादनम्, तदपि मूर्तादिप्रतिपादन-
वन्निषेधार्थम्; तस्मात्सर्वानिषेध इति प्रथमः पक्षः ॥

अथवा

प्रत्यक्षाद्यमित्तद्वैतनिषेधे तद्विरोधतः ।

अमितं ब्रह्म योन्यत्वादविरोधान्निषिध्यते ॥

वीप्सा तु तदत्यन्ताभावायेति मध्यमः पक्षः ॥

अथ सिद्धान्तः—

तत्र न तावत्प्रथमः,

उपाधिद्वैतवाधे हि नोपधेयस्य बाधनम् ।

साश्रयश्च निषेधः स्यादिति सर्वं न बाध्यते ॥

उपाधयो हि अविद्याकल्पिताः पृथिव्यादयो ब्रह्मणः, न तु
विशेषाः शोणककशादय इवान्तत्वस्य; न चोपाधिविगमे उप-
हितत्वाभावः—दर्पणाद्यभाव इव मुखस्य - न च इति-शब्देन
संनिहितसर्वपरामर्शात् सर्वनिषेध इति युक्तम्; निराश्रयनि-
षेधानुपपत्तेः । तस्मात् न उभयनिषेधः । नापि ब्रह्मप्रति-
षेधः;

मान्तराविषयो ब्रह्म शब्देनैव प्रमीयते ।

तन्निषेधस्य तेनैव प्रमाणेन विरुद्धता ॥

प्राप्तस्य हि प्रतिषेधः; न तावद्ब्रह्मणः अविद्यया प्राप्तिः;

तस्य सदेकस्वभावस्य निर्वचनीयत्वात् । नापि प्रमाणान्तरात् ; समन्वयसूत्रादिषु तन्निषेधात् । न च शब्दसंप्राप्तस्य निषेधः ; शब्दस्यानधिगतगोचरत्वेन तत्परस्य तत्र प्रमाणत्वेन तद्विरोधे निषेधायोगात् ; न च निषेधस्यापि शब्दत्वेन भावाभावयोस्तुल्यप्रमाणकत्वेन विकल्पः , वस्तुनि सिद्धस्वभावे तदयोगात् । न च वाङ्मनसागोचरत्वेन प्रतिषेधसाम्यत्वाद्ब्रह्मणः प्रतिषेधः ; तथा सति अबुद्धिस्थस्य निषेधुमशक्यत्वात् लक्षणया बुद्धिसंनिधाने तन्निषेधः प्रमाणवाधित इत्युक्तम् ; तस्मादविद्यासिद्धप्रपञ्च एवानूद्य प्रतिषिध्यते ॥

परमतः सेतुन्मानसं बन्धभेदव्यप-
देशेभ्यः ॥ ७ ॥

‘आत्मा सेतुः’ ‘ब्रह्म चतुष्पात्’ ‘सत्ता साम्यं तदा संपन्नो भवति’ ‘अन्तरादित्ये पुरुषः’ इत्यादिश्रुतिभिः सेतुपरिमाणसंबन्धभेदविषयाभिः ब्रह्मव्यतिरिक्तमस्तीति गम्यते ; ‘यस्मात्परं नापरमस्ति’ इत्यादिना च नास्तीति ; सुभ्वाद्यधिकरणे हि सेतुशब्दस्य पूर्वपक्षेऽप्यमुख्यार्थत्वात् विधरणवचनार्थ आश्रितः, इह तु उन्मानादिव्यपदेशानां मुख्यार्थलाभः पूर्वपक्षे, अतस्तेषां समाधानाय पुनरारम्भः । पूर्वत्र तन्निषेधात्, अन्यत्र ब्रह्मणः श्रुत्या उक्तत्वात्, अस्ति ब्रह्मेत्युक्तम् ; तर्हि ब्रह्मव्यतिरिक्तमप्यस्ति, भृत्युक्तत्वात्—

सेतुत्वान्मानवत्वाच्च संबन्धाद्भेदवत्त्वतः ।

ब्रह्मातिरिक्तमप्यस्ति निषेधो दुर्बलो विधेः ॥

ब्रह्म कुतश्चिदतिरिक्तम्, सेतुत्वात्, परिमितत्वात्, संबन्धवत्त्वात्, आधेयवत्त्वान्, संमतसेतुवन्; न च 'यस्मात्परं नास्ति' इति निषेधान् ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावः; तस्य प्रसक्तिसापेक्षस्य विधेर्दुर्बलत्वात् । अत एव पूर्वाधिकरणे श्रुतिसिद्धब्रह्मणः श्रुत्या निषेधायोगवत्, श्रुतिमिद्व्यतिरिक्तत्वस्तुनः श्रुत्या न निषेध इति संगतिरप्यन्या संपद्यते; निषेधस्तु ब्रह्मस्तुनार्य इति प्राप्तं, अभिधीयते—

धारणात्सेतुतोन्मानमुपान्तेर्भेदसंगती ।

उपाध्युद्भवनाशाभ्यां तत्परान्यनिषेधतः ॥

प्रत्यक्षे ह्यन्यप्रतिषेधे नति न सेतुत्वनिर्देशसामर्थ्यादन्यकल्पनं युक्तम्; ततश्च जगद्धारकत्वं सेतुत्वम्, तत्परनिषेधविरोधादेवोपाधिकृतम्; तदुन्मानमुपासितपरवाक्यैरभिहितम्; आधाराधेयभावेन भेदश्च उपाधिकृतो ध्यानात्यंमारोपितः; उपाधिनाशादुपाहितजीवस्य ब्रह्मनाशात्यं संबन्धः 'स्वमपीतः' इत्युक्तः । न च प्रतिषेधस्य प्राप्तर्दोषत्वम्; अन्यब्रह्मत्वत्परत्वाभ्यां प्रायस्यस्य वर्णितत्वात्, तत्प्रतिषेधस्य चान्तारोपितत्वात् । अत्रोक्तोन्मानाधारादिनिर्देशागमनिष्ठां मिद्वत्त्वान्य 'अन्तःसूत्रोपदेशान्' इत्याद्यधिकरणप्रवृत्तिः, अन्यत्र चान्तरसूत्रेष्वनुवाद इत्यप्युक्तम् ॥

फलमन उपपत्तेः ॥ ८ ॥

एव तत्पदलक्ष्यं निरूप्य इदानीं तत्पदवाच्य ईश्वरो निरूप्यते; तदर्थं च स्वर्गादीनि फलानि किं कर्मभिरेव भवन्ति, इतः कर्मभिराराधितादीश्वरादिति संशयः, विधिश्रुतिभिः 'एष ह्येव माधु कर्म कारयति तं यज्ञेभ्यो लोकेभ्य उन्निमीपते' इत्यादिश्रुतिभिश्च । ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्तुनि निरपिष्टे फलशकृत्वमपि ब्रह्मणा न स्यात् इत्याशङ्क्य व्यवहारतस्तत्समभ्येते ॥

तत्र—

साक्षाद्भाष्यं स्वशब्दस्य याग मुक्त्वापि भावना ।

स्वर्ग व्यवहितं भाष्यमुद्दिशेद्विधिगोचरम् ॥

अनुष्ठातुरपेक्षितोपायता हि विध्यर्थः । अनुष्ठातृप्रहणं चन्द्रोद्गादिभ्याशुस्वर्यम्, तस्य सिद्धत्वेन अनुष्ठातुः फलसाधनत्वायोगान्; तत्रश्च तादृगर्थविधिविधेयभावना समानपदोपात्तत्वात्मनिहितपूर्वप्रतीतं साक्षाद्भावनाभाष्यमपि धात्वर्थे नोद्देश्यतया गृह्णाति, तस्य दुःस्वरूपत्वान्, भावनायाश्च विधिना इष्टसाधनत्वबोधनान्; स्वर्गादिकं तु धीत्यात्मकतया ज्ञानत्वात्, भावनात्; प्रागेव कामनोपनिबद्धत्वात्; उद्देश्यत्वयोग्यं नामपदामिहितत्वेन व्यवहितमपि साक्षाद्भावनानुत्पत्तमपि पुरुषविशेषणमपि गृह्णात्युद्देश्यम्; योग्यतायाः पदार्थान्वये पदमकारणत्वान् । न चैकस्मिन्वाक्ये धात्वर्थस्य स्वर्गस्य

च साध्ययोरन्वयानुपपत्तिः; फलोद्देशप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वात्
 धात्वर्थस्य फलकरणत्वेन निवेशात्, भावनोद्देश्यतया साध्य-
 त्वाच्च स्वर्गस्य, द्वयोः समप्राधान्याभावेन वाक्यभेदानापत्तेः ।
 न च क्षणिकस्य कर्मणः कालान्तरभाविनि फले करणत्वायो-
 ग्यत्वात्, यागकरणकफलभावनाविध्यसंभवः; कर्मणोऽवा-
 न्तरव्यापारतया अपूर्वकल्पनात् । न चापूर्वकल्पनया योग्यता-
 वधारणे अन्ययप्रतीतिः, अन्ययप्रतीत्या अपूर्वकल्पना—इति पर-
 स्पराश्रयत्वम्; अवान्तरव्यापारद्वारा फलजनकस्य तैलपाना-
 देर्लोकैऽपि दर्शनेन यागस्यापि तद्भावस्य प्रथममेव कल्प्यत्वा-
 न् । न च व्यापारवत्यमति न व्यापार इति युक्तम्; असत्यपि
 तैलपाने, तस्माध्यपुष्टिक्रियावत्— तत्परिणामविशेषान्तर-
 व्यापारावस्थानात् । तस्मात् कर्मण एव फलम्, नेश्वरादिति
 प्राप्ते, अभिधीयते—

अचेतनात्फलासूतेः पूजितेश्वरतोऽपतः ।

कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥

न तावदचेतनमपूर्वं चेतनानधिष्ठितं फलं प्रसूते । अतस्त-
 दुपाययागादिज्ञानपूर्वकमधिष्ठात्रा परमेश्वरेण भवितव्यम् ।
 मति च तस्मिन्देवतापूजात्मकयागाराधितपरमेश्वरप्रसादान्
 म्यायिनः कालान्तरीयफलोद्देश्यसंभवे न अपूर्वं कल्प्यम् । ईश-
 मस्तु न केवलं कल्प्यते, 'एष होव—' इत्यादिभूतिप्रमितञ्च ।
 राजमेवैव चेश्वराराधनान् फलजन्म दृष्टानुगुणम् । राजपू-

जायां तदमालायाराधनोपयोगवच्च परमेश्वराराधने तदङ्गारा-
धनरूपाः समिदादय उपयुज्यन्ते ॥

तस्माद्दृष्ट्याविरोधेन देवताराधनात्फलम् ।
न त्वपूर्वात्कर्मणो वा केवलात्तद्विरोधतः ॥

निषेधातिक्रमकृतेश्वरकोपाच्च नरकाद्युत्पत्तिः । ईश्वरप्रसा-
दाच्च जीवस्याप्यपवर्ग इति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुमवानन्दपूज्य-
पादाशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



तृतीयः पादः ॥



सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

द्वितीये पादे तत्त्वंपदार्थो परिशोधितो; इदानीमपुनरुक्त-
कार्ष्णिकपदार्थोपसंहारेण सगुणनिर्गुणब्रह्मवाक्यानामर्थोऽव-
धार्यते । सगुणवाक्यार्थचिन्ता तु तद्विद्यानां सत्त्वशुद्धिद्वारा
निर्गुणविशेषयोगात्) पदार्थोपसंहारानुपसंहाराभ्यां वाक्या-
र्यावधारणपूर्वकमुपास्त्यां च सगुणविद्यासु भेदाभेदचिन्ता ।
निर्गुणविद्यायां तु वेद्याभेदाद्विद्यैक्यं सिद्धमेवेति तत्र विचा-
र्यते । गुणोपसंहारस्तु 'आनन्दादयः—' इत्याद्यधिकरण-
संख्याखण्डवाक्यार्थसिद्धयर्थं वाक्यार्थोपसंहाररूपो वर्णयि-
ष्यते ॥

आद्यसधिकरणं वर्णयते— प्रतिशास्यं वेदान्तेषु उपासना-
नि भिन्नानि, उताभिन्नानीति संशयः; नामादिभेदात्, फल-
संयोगाद्यैक्यात् । तत्र—

नामरूपविभागेन धर्मभेदादमंनिधेः ।

अध्यासाशक्तितान्त्रिसमाप्तिभ्योऽपिषां भिदा ॥

'नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाशाक्तिसमाप्तिवचनप्राव-

अत्रिदानीन्वार्थदर्शनाच्छास्त्रान्तरे कर्मभेदः स्यात्' इति शास्त्रान्तराधिकरणपूर्वपक्षसूत्रम् । तत्र नामभेदात्कर्मभेदः—'अथैष ज्योतिः अथैष सर्वज्योतिः एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इत्यत्र प्रकृतज्योतिष्टोमस्य 'ज्योतिः' इति नामैकदेशेनानूदितस्य सहस्रदक्षिणागुणविधिरित्याशङ्क्य, संज्ञान्तरात्कर्मभेदप्रतीतिः सति संभवे च लक्षणाया अयोगात्, सहस्रदक्षिणागुणकं कर्मान्यदिति वर्णितम् । एवमुपासनेष्वपि वेदान्तविहितेषु, तैत्तिरीयकम्, वाजमनेयकम्, काठकमित्यादिनामभिर्भेदः; न च ग्रन्थनामत्वम्, विद्यायामपि प्रयोगात्; न च ग्रन्थे मुख्यस्य ज्ञाने गौणत्वम्, वैपरीत्यस्यापि संभवात्; कथादिप्रणयनं तु ग्रन्थवज्ज्ञानेऽपि संभवति । तथा रूपभेदः गुणभेदः; सोऽपि कर्मभेदस्य ज्ञापकः— यथा 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इति । अत्र वाजिपदेन वाजम् अन्नम् आमिक्षा येषाम्, तं वाजिन इति विश्वान्देवान विश्वेदेवपदसंनिहितानुपलक्ष्य तदुद्देशेन वाक्यद्वयेन द्रव्यद्वययुक्तमेकं कर्म विधीयत इति प्राप्ते, उच्यते— 'वैश्वदेवी' इति तद्धिनधृत्या द्रव्यदेवतासंबन्धानुमितो यागो विहितः, तत उत्पत्तिशिष्टामिक्षावरुद्धे कर्मणि दुर्बलेन वाक्येन वाजिनविधानासंबन्धान् द्रव्यदेवतान्तरविशिष्टं कर्मान्तरं विधीयत इति । तद्वन्—एकपामप्रीयोमीय एकादशकपालः अन्येषां द्वादशकपालः; एकत्रोत्पत्ती वक्तव्यायाम् अन्यत्रोत्पत्तिशिष्टगुणावरुद्धे कर्मणि गुणान्तरविध्यसंबन्धाद्वाजिवत्कर्मभेदः;

एवमिहापि पञ्चाग्निविद्यायाः षडग्निविद्या भिन्ना । छन्दोगा
 हि षडन्ति— 'पञ्चाग्नीन्वेद' इति । वाजसनेयिनस्तु षष्ठम-
 ग्निमात्मनन्ति— 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्' इत्या-
 दिना । तथा धर्मभेदोऽपि कर्मभेदहेतुराशङ्कितः— यथा तै-
 त्तिरीयाणां कारीर्यध्ययने भूभोजनम्, नान्येषाम्; एवमाथ
 वैणिकानां मुण्डकाध्ययने शिरोव्रतम्, नान्येषां तत्तदुपनिषद-
 ध्ययने इति तत्र विद्यान्यत्वम् । न च तान्येव कर्माणि भूभो-
 जनादिजनितमुपकारसाकाङ्क्षन्ति नाकाङ्क्षन्ति चेति संभव-
 ति । एकादशकपालत्वादि करणशरीरनिष्पादकत्वात्कर्मणो रूप-
 म्, भूभोजनादिस्तु इतिकर्मव्यतेति भेदः । तथा अर्सेनिधानात्
 कौण्डपायिनामयने कर्मणि 'माममग्निहोत्रं जुहति' इत्यग्निहो-
 त्रशब्देन नित्याग्निहोत्रानुवादेन मामगुणो विधीयत इत्याशङ्क्य,
 माध्यत्वेन विहितस्य सिद्धयोघफेन नाग्रा अनुवादायोगात्
 अर्सेनिधानात् मामगुणविशिष्टकर्मन्तरविधिः । एवं कर्मणां
 विधानां च शास्त्रान्तरेष्वर्सेनिधानाद्भेदः । एवम् 'ममि-
 पो यजति' इत्यादिना पञ्चकृत्वः 'यजति' इत्यभ्यास-
 वात्स्वर्थक्यात्प्रथमेन भावनाविधानम्, उपरि तदनुवादः,
 अंभ्यामस्तु आदरार्थं इत्याशङ्क्य, अद्वाङ्निभावाद्यापन्नव-
 स्तुविषयत्वाभावाद्वाक्यानां क्रमानाकाङ्क्षत्वेन, पाठेन त-
 त्प्रियमायोगेन एकस्यापि वाक्यस्य प्राथम्याभावाद्युपपत्त्या-
 दान्भवकारित्वात् क्रमपाठस्य, क विधिः क चानुवाद-
 इत्यभिधायत्सर्वत्र विधिः; तत्रभाष्यात्कर्मभेदे तदनुषङ्-

भावनाभेदः । एवं शाखान्तरेऽभ्यासात्कर्मणां विद्यानां च भेदः । तथा 'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाञ्जुहोति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्' इत्यनुदितहोमनिन्दा, 'यथातिथये प्रद्रुतायाभ्रमाहरेयुस्तादृक्तयदुदिते जुहोति' इत्युदितहोमनिन्दा; तयोरेकत्र विरोधः । कर्मभेदे तु यदनुदितहोमं कर्म तदुदिते न समृद्धम् इतरदनुदिते इत्यविरोधः । विकल्पाश्रयणेन निन्दोपपत्तिमाशङ्क्य, प्रायश्चित्तादाहरणम्; वैकल्पिकेषु ह्युभयथाप्यवैगुण्यम्; अत्र तु प्रायश्चित्तविधानादुभयत्रापि वैगुण्यमिति न विकल्प इति । न हि निन्दा निन्द्यं निषेद्धुं प्रयुज्यते; अपि तु निन्दितादितरत्प्रशमितुम्; अतश्च कालयोरेकस्मिन्कर्मणि विकल्पः, उदितहोममनुदितहोमं वा प्रक्रम्य तदतिक्रमे प्रायश्चित्तम् । तद्य कर्मैकत्वेऽपि अविरोधमिति परिहारः । निन्दाप्रायश्चित्ते च कर्मण्येव, न विद्यायाम् । अशक्तेश्च— न ह्येकः सर्वशाखागतान्गुणानुपसंहर्तुं शक्नोति; सर्वशाखानामध्ययनाभावात् । अनधीतार्थोपसंहारे अध्ययनानर्धक्यम्; तद्य प्रतिशास्त्र कर्मणां विद्यानां च भेदः । ममाग्निभेदाच्च— मैत्रायणीयानाम् अन्वारोहमंश्लेषु स्थलारोहणमन्त्रेषु अग्निः समाप्यते, अन्यत्रान्येषाम्; ततः कर्मभेदः । एवम् ओंकारमार्वात्स्यकथनसमाप्तौ केषां चिद्विद्याममाग्निः अन्यत्रान्येषामिति विद्याभेदः । लिङ्गदर्शनात्— द्वादशाहं श्रूयते— 'यदि पुरा दिदीक्षाणाः' दीभि-

तवन्तः इत्यर्थः— ततः पूर्वदीक्षायां रथंतरस्य प्रयुक्तत्वान्
 बृहत्तामानमतिराज्जुपेयुः, यद्यदिदीक्षाणास्ततो रथंतरसा-
 मानमुपेयुः— इति ; अत्र द्वादशाहाधिकारिणो अनिष्टप्रथमय-
 ज्ञत्वं ज्योतिष्टोमभेदेऽवकरूपते । ताण्डिके हि श्रूयते— ‘एष
 वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्टा
 अन्येन यजेत गर्तपत्यमेव तन्’ इति ; अनेन ज्योतिष्टो-
 मपूर्वक एव सर्वयज्ञेष्वधिकारो दर्शितः ; ततोऽन्योऽप्य-
 म्ति ज्योतिष्टोमो यद्रहितस्य द्वादशाहाधिकार इति ।
 एवम् ‘नैतदधीर्णव्रतोऽधीते’ इति मुण्डके अधीर्णशिरोव्रत-
 स्याप्ययनानिपेधलिङ्गात् विद्या नास्तीति सम्पत्ते । कचिच्छा-
 यायां अधीर्णव्रतस्याप्यप्ययनदर्शनाद्विद्यास्तीति । धर्मविशेषे
 तु एकैव विद्या स्वस्याः फलकरणत्वे शिरोव्रतमिति कर्तव्यत्वा-
 त्वेनापेक्षते नापेक्षत इति विरोध उक्तः, लिङ्गदर्शने तु इष्टप्र-
 थमयज्ञत्वबन्धिरोव्रतस्याधिकारहेतुत्वान् तद्वतः फलकरणम्,
 अतद्वतः अन्यशास्त्रिनोऽपि फलकरणमिति विरोध इति वि-
 शेषः । तस्मात्कर्मवच्छासान्तरेषु विद्यान्यत्वे प्राप्ते, आधि-
 र्णयते—

फलसंयोगरूपाख्याचोद्ययज्ञाविशेषतः ।

कर्मणांमिव विद्यानां शास्त्रान्यत्वेऽप्यभिन्नता ॥

यथा ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रादेः सर्वशाखास्त्रैकस्वर्गफलसंयो-
 गः, एवं प्राणविद्यादेर्व्येष्टत्वश्रेष्ठत्वादिगुणवत्प्राणादिप्राणिः

फलं सर्वशास्त्रास्वविशिष्टम् । रूपमपि यथा कर्मणो द्रव्यदे-
 वतं सर्वत्राविशिष्टम्, एवं विद्यानामपि वैद्यं प्राणादि तत्त-
 द्द्रव्यविशिष्टमविशिष्टं सर्वत्र । आख्या च अग्निहोत्रमित्यादि-
 बन् प्राणविद्येत्यादिका भ्रमना । यथा देवतोदेशेन द्रव्य-
 त्यागस्य यागस्य, तस्यैव प्रक्षेपाधिकस्य होमस्य अवच्छेद्यप्रयत्नो
 यादृश एकत्र चोच्यते— 'यजति' 'जुहोति' इति, स एवा-
 न्यत्र । एवं प्राणादिज्येष्टत्वश्रेष्ठत्वविषयवेदनावच्छिन्नपुरुष-
 प्रयत्नो यादृश एकत्र, तादृश एव सर्वत्र विधीयते— 'यो
 ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' इति; तस्मात्सर्वत्र विद्यैक्यम् ।
 यत्तु नामादिभेदाद्भेद इति, तत्र, 'आख्या प्रवचनात्' इति स्मर-
 णात् कठादिप्रवचननिमित्तानां काठकादिसंज्ञानां प्रन्थविषय-
 त्वात् प्रवचनस्य प्रन्थविषयत्वेन विद्यास्वसंभवान् । कठाय-
 नुष्ठानस्य च विद्यासु इतरानुष्ठानादविशेषान्; अतश्च प्र-
 न्थसमाख्यानां विद्यासु लाक्षणिकः प्रयोगः । द्वादशैका-
 दशकपालत्वयोः एकस्मिन्नग्नीषोमीये उत्पत्तिशिष्टत्वेन तुल्य-
 त्वाद्द्विकल्प इति न कर्मभेदः । पञ्चाग्निविद्यायां तु
 पञ्चैव सांघादिकाप्रथः याजमनेयिनामपि छन्दोगानामिव ।
 पष्ठत्वग्नि- संघाद्यत्वाभावायानूद्यते, न तु विधीयते ।
 वैश्वदेव्यां तु उत्पत्तावामिक्षा विधीयमाना वाजिनमनव-
 काशयतीति गुणान्तरात्कर्मभेद इति । तथा धर्मविशेषोऽपि ।
 'शिरात्रतं वेदप्रतेन व्याख्यातम्' इति वचनात् प्रतस्य प्रन्थ-
 यन्धः । ततश्च यैराथर्वणिकप्रन्थद्वारा विद्याधिगन्तव्या, तेषा-

मेव शिरोव्रतपूर्वकाध्ययनप्राप्तमन्यवोधिता विद्या फलं प्रयच्छति ; अन्येषां तु छन्दोगादीनामचीर्णशिरोव्रतानामपि फलप्रदा । एतेन 'नैतदर्चाणव्रतोऽधीते' इति लिङ्गदर्शनमपि व्याख्येयम्— अध्ययनाधिकारहेतुराथर्वणिकानामेव शिरोव्रतम् ; अतश्च तेषां तद्द्वाराधीतविद्या फलप्रदा, अन्येषामचीर्णधतानामपि स्वशाखाजन्यविद्या सर्व फलप्रदा इति । 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वेदत शिरोधतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' इत्यत्रापि प्रकृतमन्यजन्यत्वोपहितविद्यासंबन्धः, धचनान्तरेऽध्ययनसंबन्धस्य स्पृष्टत्वात् । तच्चतुर्णविशिष्टविद्यायाः शाखान्तरे प्रत्यभिज्ञया मन्निधानादसंनिधिरसिद्धः । पुनरुक्त्यापि समिदाद्यध्यासस्य कर्मभेदकत्वम्, एकस्यां विहितस्य विधिवैयर्थ्येन औत्सर्गिकस्याज्ञातज्ञापनाप्रवृत्तप्रवर्तनरूपविधित्वस्य कोपप्रसङ्गात् । शाखान्तरे तु अध्येतृभेदात्कर्मकत्वेऽपि नौत्सर्गिकविधित्वकोप इति । अशक्तिरपि न विद्याभेदहेतुः ; शाखान्तरगतार्थानां तदध्येतृभ्योऽधिगम्य उपनंहुतुं शक्तेः । न चाध्ययनवैयर्थ्यम् ; 'ध्याध्यायोऽध्येतव्यः' इति स्वाध्यायशब्देन स्वशाखाध्ययनस्यैव नियमितत्वेन परशाखास्यध्ययनानपेक्षणादिति । ममाग्निश्च कर्मण्ययमाग्नेऽपि तस्मिन्निधाने पक्षार्थे रक्ष्यासावगम्ये ममाग्ने व्यपदिश्यते— यथा यजुर्वेदे आध्वर्यवे कर्मणि समाग्ने ज्योतिष्टोमस्य ममाग्निव्यपदेशः । न हि तावता तत्त्वमाग्निः, वेदान्तरगतस्तोत्रशस्त्रादेः सद्भावादिति । यजु कर्मभेदे लिङ्गदर्शनम्, तन् द्वादशाहेन दी-

क्षितत्रिपयम् । ये द्वादशाहेन दीक्षितास्ते बृहत्सामानम-
तिरात्रमुपेयुः, द्वादशाहेनादीक्षितास्तु रथंतरमामानमिति ।
ततश्च सर्वयज्ञान्प्रति ज्योतिष्टोमस्य प्राथम्यसंभवात् न ज्यो-
तिष्टोमभेद इति ॥

उपमंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्स-
माने च ॥ २ ॥

एकविद्यागता गुणाः शाखान्तरेऽनर्घातास्तस्यामेव विद्या-
यामुपसंहर्तव्या न वेति संशयः ; विशैक्याच्छाखान्तरेऽना-
म्नानाश्च । पूर्वनिरूपितविशैक्याभ्य प्रयोजनभूतगुणोपसंहार-
निरूपणात्मंगतिः । तत्र—

विध्यभावाद्विधेयत्वे सति कोपात्कमस्य च ।

शाखान्तरोक्तधर्माणां नान्यशाखासु संहृतिः ॥

भवतु सर्वशाखाप्रत्ययमेकं विज्ञानम्, तथापि शाखान्त-
रोक्तानां गुणानां न शाखान्तरोक्ते तस्मिंश्चुपसंहारः ; तत्र
तेषामश्रुतत्वान् । साकाङ्क्षस्य हि प्रयोगविधेर्नानुप्रापकत्वमिति
सर्वस्याङ्गजातस्य सर्वशाखासु श्रुतव्यत्वं सति अधवणान्
यावन्मात्रमेकस्यां शाखायां विहितमङ्गजातं तावन्मात्रेण वि-
द्याया उपकारमिद्वेराधिकानपेक्षा । अधिकगुणोपसंहारे च
श्रुतगुणकममङ्गप्रमङ्गः । यथैकस्यां शाण्डिल्यविद्यायाम्
'मनोमयः पुरुषो भारूपः सत्यः' इति वाजसनेयके, छान्दोग्ये

तु 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इति । न च तस्यामेव विद्यायां शास्त्रान्तरे श्रुतस्य कस्यचिदङ्गस्याननुष्ठाने अखण्ड-
करणोपकारसिद्धेरनुपकृता विद्या स्यादिति युक्तम्; सकला-
ङ्गवति विहितेऽपि नित्यकर्मण्यशक्तौ यावच्छक्यमङ्गमनुष्ठातु-
म; तावन्मात्रेणाप्युपकारपरिपूर्तिदर्शनात् । गृहमेधीये च
विकृतौ अतिदेशान् सर्वाङ्गप्राप्तावपि 'आज्यभागी यजति'
इति पुनर्विधानादाज्यभागाभ्यामेव सकलाङ्गसाध्योपकारसि-
द्धेरिष्टत्वान् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

वाक्यात्कमस्य दौर्बल्यात्काम्ये सर्वाङ्गसंहतेः ।

अप्राप्ताङ्गविधेर्विद्या सर्वैरङ्गैः प्रयुज्यते ॥

एकस्यां शास्त्रायां विद्याङ्गत्वेन विधीयमाना गुणा गुणि-
द्वारेण वाक्याच्छास्त्रान्तरेऽपि गच्छन्ते; न क्रमकोपभयेन
त्यक्तं युज्यन्ते, क्रमस्य वाक्यादुर्वलत्वान् । नित्ये तु यावञ्जी-
वादिनियतनिमित्तवशात् प्रधानस्यावश्यकर्तव्यत्वमवगतम्;
सर्वाङ्गोपसंहारश्च सर्वदा पुंमामशक्यः; ततश्च शक्यमात्राङ्गा-
नुष्ठानादेव सकलाङ्गसाध्योपकारमिद्धिरिति कल्प्यते ॥

उपासनासु काम्यत्वात्कार्या सर्वाङ्गसंहतिः ।

नोपसंहरणेऽशक्तिरशक्तः प्रतिषेधतः ॥

गृहमेधीयेऽप्यतिदेशतः सर्वाङ्गप्राप्तौ आज्यभागस्य पुनः-
भूतेः अङ्गान्तरसाध्योपकारोऽप्यारवभागमात्रजन्यो विज्ञायते ।

इह तु एकशाखागतगुणविधीनामप्राप्तगुणविधानेन पर्यवसानात्तु शाखान्तरीयगुणजन्योपकारस्य स्वविधेयगुणमात्रजन्यत्वकल्पकत्वमिति ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नावि-
शंपात् ॥ ३ ॥

वाजसनेयके वागादीनामुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणस्योद्धानकर्तृत्वमध्यस्योपास्यत्वं श्रूयते— 'अथ हेममास्तन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उदाय' इत्यादिना; छान्दोग्ये तु तथैव वागादीन्निन्दित्वा उद्गीथावयव ओंकारे मुख्यप्राण-दृष्टिर्विधीयते— 'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचकिरे' इति; 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्युद्गीथावयवस्य प्राणवस्य प्राप्तुतत्वात् । तत्र शाखाद्वयेऽपि किं विद्याया ऐक्यम्, उत भेद इति संशयः; वागाद्यामुरमङ्गविद्धत्वादेः प्राणस्य पाप्माविद्धत्वादेश्चाविशेषान्; उद्धानकर्तृत्वोद्धानकर्तृत्वादीनां भेदात् । चान्दनाद्यविशेषाद्विशेषमुक्तम्; तत्राख्याया अपवाद इह कियते । अपवादितानां चाल्पार्यां विद्याभेदादनन्तराधिकरणोक्तगुणोपसंहाररूपप्रयोजनग्राह्यप्रादितं भवति । तत्र—

वागाद्यासुरवेधादिषुधर्माविशेषतः ।

एकत्वात् न ममाख्यायाः कियया कर्तृत्वक्षणा ॥

देवासुरसंभ्रामारूपायिकोपक्रमः वागादीनामासुररूपाम्नादि-
भिर्वेषः, तेषां च मुख्यप्राणं प्रति गुणभावोपगमः, प्राणवीर्या-
वासुरजय इत्यादिबहुधर्ममाधर्म्यात् प्राणवियोगे समाख्यैक्या-
च्च, वियौकत्वेऽवधृते, छान्दोग्ये 'तमुद्गीथमुपामांवाकिरे'
इत्यत्रोद्गीथानक्रिययोद्गीथानकर्ता लक्षणीयः, उद्गीथावयवेन चा-
वयव्युद्गीथभक्तिलक्ष्यत्वं; नतत्रोभयत्र उद्गीतयुद्गीथानकर्तृप्राण-
दृष्टिविधिरिति प्राप्ते, ब्रूमः—

उपक्रमश्रुतोपास्यरूपभेदादुपासना ।

भिन्नार्थवादमारूप्यभेदे न प्रयोजकम् ॥

एकस्मिन्वाक्ये उपक्रमाधीनत्वादुपसंहारस्य, शास्त्रादये चां-
पक्रमे एकत्रोद्गीथस्योपासिकर्मत्वनिर्देशात्, अन्यत्रोद्गीथानकर्तृ-
रुपास्यत्वावगमान्, एकस्य मकल्यकदेशस्य अन्यत्र च मकल-
भक्तैरुपास्यत्वावगमात् विभाया भेदे मति, न प्राणसंवादाव-
यव्याद्मारूप्याक्षरमायमवाह्विचैक्यमिति ॥

रुपासंश्च नमञ्जमम् ॥ ४ ॥

'ओमिन्येतदक्षरमुद्गीथमुपामीत' इत्यभरोद्गीथशब्दयोः
सामानाधिकरण्यं दृष्टिविषयम्, उतापवादार्थम्, किं वा
एकत्वप्रमित्यर्थम्. आहोः विशेषणविशेष्यभावनिष्पन्नमिति
संशयः; 'नाम तद्वैतुपामीत' इत्यप्यामे, 'इदं सर्वं यद्-
पमात्मा' इत्यववादे, 'विमानमानन्दम्' 'मिन्धुरः कृती'

इत्येकत्वे, नीलमुत्पलम् इति विशेषणे च सामानाधिकर-
ण्यस्य दृष्टत्वात् । पूर्वसोद्गीथो विशेषणमोकारस्यैतद्वाक्यार्थे
इति सिद्धयत्कृत्य उद्गीथावयवांपास्यत्वप्रक्रमभेदाद्विद्याभेदो द-
र्शितः; इदानीं न एवार्थश्चिन्त्यते ॥

नत्र—

अत्राप्ये नापवादः स्यान्नापर्यायार्थ एकता ।

न विशेषणता वाक्यभेदादृष्टिस्तु शिष्यते ॥

न तावदक्षरम् उद्गीथमिति दृष्ट्या अक्षरत्वमपवादितुं श-
क्यम्; व्यावहारिकप्रमाणसिद्धत्वात् । न चावयवस्यावय-
वित्वम्; वैपरीत्यात् । न चापर्यायशब्दान्ययोरक्षरोद्गीथयो-
रेकत्वसंभवः; विज्ञानानन्दपदयोर्लक्ष्यमेवाभिन्नम्, न वा-
च्यम्; न चात्र लक्ष्यैक्यसंभवः; लक्ष्यमाणयोरोकारोद्गीथ-
व्यक्त्याभेदान् । व्याख्यानार्थं नु करिमिन्धुरपदयोः सहप्र-
योगः । न चात्र व्याख्यानापेक्षा, निगदव्याख्यानत्वात् ।
न चात्र सर्ववेदमाधारणमोकारमुद्गीथत्वेन विशेष्य तत्र प्रा-
णाद्युपास्तिर्विधेया; तथा मति ओमित्येतदक्षरमुपासीत् तं
चाद्गीथमिति विशिष्टांद्देशने विध्यावृत्त्या वाक्यभेदापत्तेः ।
तस्मादक्षरे उद्गीथदृष्टयध्याम इति प्राप्ते, अभिधीयते—

फलकल्पनतो गौण्या लक्षणाप्रवृत्ततः ।

विशिष्टविधितृष्टेश्च स्यादुद्गीथो विशेषणम् ॥

अध्यामे हि फलं कल्प्यम्, तत्र फलस्याश्रुतत्वात् । 'आ-

पयिता ह वै कामानां भवति । इत्यादेराप्यादिगुणकप्रणवो-
पास्तिफलत्वेनोद्गीथत्वदृष्टिविशिष्टप्रणवोपासनाफलत्वाभावात् ।
यदा तु उद्गीथावयवप्रणवोपासनविधिपरं वाक्यम्, तदा वि-
शेषणस्य विशिष्टप्रणवप्रतीत्यर्थत्वेन पाराध्यान्न फलकल्पना ।
अपि च गौण्या वृत्तेर्लक्षणावृत्तिर्बलीयसी; लक्षणायां हि लक्ष-
णीयपरत्वं पदस्य, गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षणीयस्य तीरस्यैव
वाक्यार्थेऽन्तर्भावात्; सिद्धो देवदत्त इत्यत्र तु न सिद्धशब्दस्य
लक्षणीयसिद्धसंबन्धिशौर्यादिपरत्वम्, अपि तु तत्तुल्यशौर्या-
दियुक्ते देवदत्तपरत्वमित्यर्थविप्रकर्षाद्गौणी वृत्तिर्दुर्बला । तत्र तु
उद्गीथदृष्टिविषयत्वगुणयोगात् अक्षरे गौण उद्गीथशब्दः; मम
तु अवयविवचनाऽवयवे लाक्षणिक इति । न च विशेषणपक्षे
विशिष्टोद्देशेन वाक्यभेदः; उद्गीथावयवत्वविशिष्टतत्तद्रूपकप्र-
णवविशिष्टोपास्तेरेकत्वेन तद्विधायकवाक्यस्याप्येकत्वादिति ॥

मर्वाभेदादन्यत्रेभे ॥ ५ ॥

वाजसनेयिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे ज्येष्ठभेदत्वगु-
णवतः प्राणस्योपासनमुक्तम्, वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः ;
कौपीतिक्रिप्रभृतीनां च अस्ति ज्येष्ठचर्मपुत्रवतः प्राणस्योपास-
नम्, वसिष्ठत्वादि तु न श्रुतम्; तन्नापमर्हत्क्यम्, उतोपसं-
हर्तव्यमिति संशयः; एवंशब्दाद्विलोक्यात् । श्रूयते हि कौपी-
तिक्रिप्रभृतीनाभेदशब्दः— 'अथो एवंविद्वाग्म्राणे निःशेषं
विदित्वा' इति । पूर्वत्र सर्वप्रणयप्राप्तावुद्गीथमिति विशेषणा-

दन्यव्यावृत्तिरुक्ता तद्वदिहाप्येवंशब्दात्संनिहितालम्बनात्सं-
निहितविशैक्यद्वारा अनुमानात्प्राप्रवतो वसिष्ठत्वादेर्व्या-
वृत्तिः ॥

वक्ति संनिहितं ह्येवंशब्दः शाब्दश्च संनिधिः ।

शाब्दमानोपयोगीति नापेक्षानुमितैर्गुणैः ॥

न ह्यशाब्दं शाब्दे व्यवहारेऽन्वेति, तद्यथा— 'स्य आ-
गताः फठकौण्डिन्या' इत्युक्ते न प्रत्यक्षदृष्टेन माठरेण वाक्यार्थ-
मुपपादयन्ति, किं तु माठरश्च— इति शब्दोपात्तमाठरेणैव
तदुपपादनम् । तदिह कौपीतकिशाखायामेवंशब्देन संनिहित-
प्रकारवाचिना शब्दोपात्तं ज्यैष्ठ्यभ्रैष्ठ्यादिगुणमात्रं परामृ-
श्यते । यत्त कौपीतकिवाक्यं वसिष्ठत्वादिप्राणगुणविषयम्,
भ्रैष्ठ्यादिगुणवत्प्राणोपास्तिविषयत्वात्, वाजसनेयिवाक्यवत्-
इत्यनुमानप्राप्तं तु गुणजातम्, न तत्तत्र परामृश्यते, शब्दाप्रा-
पितत्वादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

एवंशब्दाऽविशेषेण वक्ति संनिहितं ततः ।

भूमिद्वारेण पुद्दिस्थगुणस्याप्यस्ति शाब्दता ॥

मत्स्यं शाब्दस्यैव वाक्यार्थेऽन्तर्भावः, तदिह एवंशब्दस्य
शाब्दादात्तमाधारणसंनिहितमात्रवाचिनः भुक्तेः भ्रैष्ठ्याण-
रूपधर्म्यविनाभावेन पुद्दिस्थं वसिष्ठत्वादिगुणजातमभिधेय-
मिति भवति शाब्दम् । ततश्च वाक्यार्थेऽन्तर्भविष्यति ॥

आनन्दादयः प्रधानम् ॥ ६ ॥

तैत्तिरीयके 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' 'आनन्दो ब्रह्म' 'आत्मन आकाशः संभूतः' इति च मत्प्रज्ञानानन्तानन्दात्मत्वानि ब्रह्मधर्मा आस्तातः; अन्यत्र कश्चित्कश्चित्; तत्राश्रुतस्येते वे किं नोपसंहर्तव्याः, उतोपसंहर्तव्या इति संशयः; ब्रह्मणो निर्विशेषत्वेन धर्मान्तरानपेक्षणान्, सर्वत्र ब्रह्मविद्यैक्यात् । प्राणस्य स विशेषस्वाशुक्तः शास्त्रान्तरीयवसिष्ठत्वाद्युपसंहारः, ब्रह्मणस्तु निर्विशेषत्वात्स्वशास्त्रागतधर्मैरेव प्रमितिसिद्धौ न शास्त्रान्तरगतानन्दाद्युपसंहारः । किंच,

आनन्दाद्युपसंहारे ब्रह्मैक्यद्वारके सति ।

संयद्दामादिधर्माणामुपसंहार आपतेत् ॥

अत्रोत्तरम्— न तावदेकरूपे ब्रह्मण्यनेकपदवैयर्थ्यम्, यतः—

भिध्यात्वादि यदुभयस्तं ब्रह्मण्येतस्य चाधनम् ।

नानापदैर्बिना नेति ब्रह्म तैरुपलभ्यते ॥

सत्यज्ञानानन्दपदार्था इत्येतरविशेषणविशेष्यभूता ब्रह्मणि अनृतजहदुःस्वरूपत्वादिभ्रान्तीर्व्यावर्तयन्तः, सत्त्वादिपरापरसामान्याधारभूतामेकामानन्दव्यक्तिं लक्षयन्ति, मत द्रव्यं कुम्भ इति पदानां च कुम्भव्यक्तिम् । अनन्तपदं तु लक्षणत्वेन स्वीकृतसामान्यव्यक्तिभेदमपि वास्तुतो निषेधति; आत्मपदं तु एवंभूतस्य ब्रह्मणः पराक्तत्वं निषेधति । एवंभूतप्रसिद्धिभ्र नैकस्मात्पदान्, एकभ्रमनिपृत्तावपि इतरभ्रमानिपृ-

त्तः; लक्षणाया हि अस्पष्टब्रह्मासिद्धिः । न चैकपदप्रयोगे लक्षणा;
विरोधस्फूर्त्यभावात् । प्रयोक्तव्ये च पदान्तरे यावन्त्यो भ्रान्तयः
संभाव्यन्ते, तन्निरसनार्थं पदवृन्दं प्रयोक्तव्यम्, तच्च सर्वत्रो-
पसंहृतव्यमिति । यज्ञानन्दाद्युपसंहारे संयद्ब्रह्मत्वादेः सर्वत्र
प्रसङ्ग इति । अत्रोच्यते—

विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद्यथाविधि ।

प्रतिपत्तिफलानां तु सर्वशास्त्रासु संगमः ॥

संयद्ब्रह्मत्वादयो हि उपामनार्थं विधेयाः ; विधिप्रयुक्ता-
पूर्वस्य च नियतपरिमाणत्वान् अपूर्वमाधनधर्माणां यथावि-
धि व्यवस्था स्यात् । मत्यज्ञानादयस्तु वस्तुतत्त्वप्रतिपत्त्यर्था
लक्ष्यमाणव्यक्त्यात्मना ब्रह्मस्वभावभूताश्चेति यत्र यत्र तत्त्व-
प्रतिपत्तिस्तत्र तत्र नेनव्या इति ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ ७ ॥

विद्याभेदाभेदचिन्तनाप्रमद्वाद्वाक्यभेदाभेदचिन्तनान् तन्नि-
बन्धनविद्याभेदाभेदचिन्तनाद्वा पादसंगतिः । ब्रह्मस्वभावभू-
तोपसंहार्यधर्मचिन्तनानन्तरम्, अस्वभावस्यानुपसंहार्यस्वा-
व्यर्थोद्विपरत्वरूपधर्मस्य ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाचिन्तनाधिकरण-
संगतिः । 'इन्द्रियेभ्यः परा श्रियां अर्थेभ्यश्च परं मनः' इत्या-
रभ्य, 'अध्यक्षात्पुरुषः परः पुरुषात् परं किञ्चित्—' इति
सूयते । तत्र संगतः— किं प्रत्येकधर्मादीनां परत्वं विवक्षि-

तम्, अतः पुरुष एव एभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यते, ता-
दर्थ्येन चार्थादिपरत्वं कीर्त्यत इति; इहार्थादिपरत्वश्रवणस्य
पृथक्फलसंबन्धसंभवासंभवाभ्याम् ॥

तत्र—

श्रुतेः परत्वमर्थादिस्तज्ज्ञानाच्च फलं स्मृतम् ।

वाक्यभेदो न दोषाय प्रमाणप्रापितत्वतः ॥

अर्थादिपरत्वश्रवणस्य तत्परत्वसंभवे सति नान्यार्थत्वम् ।
न च प्रयोजनाभावादन्यार्थता; तद्विज्ञानस्य फलवत्त्वस्मृतेः—
'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु
शतं पूर्णं सहस्रं त्वभिमानिकाः ॥ यौद्धा दशमहस्राणि ति-
ष्ठन्ति विगतज्वराः । पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्त-
काः ॥ पुरुषं निगुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते' इति ।
एवं फलवतां ज्ञानानां प्रधानत्वात्तत्प्रतिपादकवाक्यानां भेदो-
ऽपि प्रामाणिकत्वादेष्टव्य इति प्रत्येकमर्थादिपरत्वविवक्षायां
प्राप्तायाम्, अभिधीयते—

दृष्टे मत्तफले लभ्ये पुरुषस्य निवेदनान् ।

अदृष्टं क्लमत्प्यं च न स्यादर्थादिचिन्तनान् ॥

पुरुषपरत्वनिवेदने हि दृश्यते फलमविद्यानिवृत्तिः परमान-
न्दरूपम्; श्रुते च—'विज्ञानसागरिणस्तु मनः प्रमहवा-
मरः । सोऽथेनः पारमार्थोति तद्विष्णोः परमं पदम्' इति ।

तद्दामे अर्थादिपरत्वध्यानानामदृष्टं कतिपयकालनिर्दुःखाव-
स्थानरूपं फलं न गृह्यते । तस्मात् वाक्यभेदे निरवयवप्रयो-
जनाभावादर्थ्यादिपरत्वप्रतिपादनं पुरुषपरत्वप्रतिपादनोपयो-
गिनया नैकैकवाक्यतां प्रतिपद्यत इति ॥

आत्मगृहीतिरितिरवयवदुत्तरात् ॥ ८ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—' आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्य-
त्किञ्चन मियत् स ईक्षत लोकांस्तु सृजा इति स इमाँल्लोकान-
सृजत ' इति । तत्र मजय—किमात्मशब्देन हिरण्यगर्भोऽभि-
धीयते, उत परमात्मेति; लोकसृष्टिवचनान् प्रागुत्पत्तेरात्मैक-
त्वावधारणाच्च । पूर्वत्र वाक्यभेदप्रसङ्गादर्थ्यादिपरत्वं निरस्तम्,
तर्हि हिरण्यगर्भे सकलवाक्यम्यान्वयेन वाक्यभेदामावात्
तत्परत्वं वाक्यस्य ॥

अमहामृतमृष्टयुक्तेः प्रजापतिपरा धृतिः ।

आत्मैवेदमम आर्मादिनि वाजमनेयवत् ॥

पारमेश्वरी हि सृष्टिगणनादिका, यथा 'आत्मन आ-
द्यानः संभूतः इति, इयं तु लोकलोकपाटान्यादिसृष्टि-
धृतिः । न चात्र भूतानि भ्रुतानि, यथा वाजमनेयके—' आ-
त्मैवेदमम आर्मात्पुरुषविधः ' इत्युपक्रम्य, 'मग्निमसृजत'
इत्यादिभौतिकसृष्टिरुच्यमाना हिरण्यगर्भकर्तृका, तर्थापि ।
तस्मादैतरेयकं वाक्यं हिरण्यगर्भपरम्, महामृतमृष्टयविष-

यत्वे मति अभिसृष्टिविषयत्वात्; वाजसनेयिवाक्यवदिति ।
 अत एव प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणम् आत्मशब्दश्च हिरण्य-
 गर्भेऽपि संभवतः । अपि चैतरेयके 'अथातो रेतसः कार्यस्य
 सृष्टिः' इति प्रतिज्ञाय, 'प्रजापते रेतो देवाः' इत्यादिनोप-
 क्रमे प्रजापतिसृष्टिरुक्ता; उपर्यपि स्वसृष्टाभ्यो देवताभ्य इन्द्रि-
 यलक्षणाभ्यः ताभ्यः गां गोशरीरं भोगायतनमानयत् अश्व-
 शरीरमानयत् इति च शरीरवति उचितव्यवहारदर्शनाच्चि-
 रण्यगर्भपरत्वं संदर्भस्य; प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं तु स्ववि-
 कारोपक्षमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रतिष्ठितं पृथिव्यादि ब्रह्मणीत्युपसंहृतः ।

उपक्रमेऽपि लोकानां कर्तृ ब्रह्मेति गम्यते ॥

उपरिष्ठाद्धि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योर्त्विपि इत्या-
 दिना सह महाभूतैः सर्वकार्यजातमनुक्रम्य, 'सर्वं तत्प्रज्ञा-
 नेत्रम्' प्रज्ञानेवृकमित्यर्थः, 'प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्' इत्युक्त्वा,
 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति श्रावयिष्यति; तेन एकत्वावधारणलोकसृ-
 ष्टिभ्यां संदिह्यमानोपक्रमस्य उपसंहाराद्ब्रह्मपरत्वं निर्णयिते;
 एवं च मति अनुमाने महाभूमसृष्टयविषयत्वविशेषणमसि-
 द्धम् । यस्तु 'अथातो रेतसः सृष्टिः' इति प्रतिज्ञाय प्रजा-
 पत्युपक्रमः, स महतोऽपि महाव्रतस्य कर्मणो हिरण्यगर्भो-
 पास्तिसहितस्यापि संसारफलत्वमिति ब्रह्मविद्यास्तुत्यर्थः ।
 तथा हि— समस्तदेवतात्मको हि प्रजापतिः, तथा च 'देव-

ता अप्येति य एवं वेद' इत्युपास्तिसहितस्य कर्मणः फलम-
 भिहितम्; देवतानां च संसारित्वमुक्तम्— ता एता देवताः
 सृष्टा अस्मिन्महत्कर्णवे संसारे प्रापतन्निति । यत्तु 'ताभ्यो
 गामानयन्' इत्यादि मध्ये शरीरिणामुचितव्यापारदर्शनम्, त-
 दप्यन्यार्थम् । तथा हि— परमेश्वर एवाधिकारिपुरुषशरीरं सृष्ट्वा
 करणानि तत्र प्रवेडय, आत्मनः स्वामिनः प्रवेशमन्तरेण तद्वै-
 यर्थ्यमीक्षित्वा ब्रह्मरन्ध्रेण शरीरमाविशन्; प्रविश्य च 'यदि
 वाचाभिव्याहृतम्' इत्यादिनालोचनेन वदनादिव्यापारा वा-
 गादीनामिव, न मम, अहं तु माश्रीत्यकर्तृत्वमध्यवसाय स्वप-
 रिच्छेदमपि देहोपाधिकं मत्वा, 'अयं कांऽहम् इति वीक्ष्य,
 'म गतमेव' 'आत्मा वा इदममे—' इति प्रस्तुतं जगत्कारण-
 त्वोपलक्षितं जलसूर्यमिव सकलोपाधिष्वनुग्रविष्टम् उपाधिष्ठ-
 तपरिच्छेदमपोष्य 'तद्ध ततममपडयन्' इत्ययमर्थ इह विव-
 क्षितः । ततममिति तकार एकः छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तो
 दृष्टव्यः; तततमं व्याप्ततममित्यर्थः । तस्मादात्मेति उपक्रान्तेः
 मध्ये च ईक्षितृभाषणान्, प्रमाप्रद्योपमंहारान् प्रद्योत्र प्रति-
 पाद्यते । पूर्ववर्णके विशाभेदाशक्तिरूपणात्पादासंगतिरित्यपरं
 वर्णकं क्रियते—

वाजमनेयके 'ऊतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः' इत्या-
 त्मनन्देनोपक्रम्य, 'म वा एष महानज आत्मा प्रद्यो' इति
 प्रद्योत्रमत्वमुपमंद्ध्यते । छान्दोग्ये तु 'मदेव' इत्युप-
 क्रम्य 'तत्त्वमसि' इति मन्त्रार्थोपादासंगतादात्म्यमुपमंद्ध्य-

ति । तत्र संशयः— किं विशया एकत्वम्, नानात्वं वेति; उपक्रमभेदान्, आत्मैक्यप्रतिपादकोपसंहारभेदाच्च । पूर्वत्रैकवाक्यत्वसंभवे वाक्यभेदायोगात् अर्थादिपरत्वस्य पुरुषपरत्वप्रतिपत्त्यर्थतामाभित्य विरैक्यमुक्तम् । अत्र तु उपक्रमभेदेन वाक्यैक्यायोगाद्विद्याभेदः । तत्र—

मत्त्वेनोपक्रमे सत्त्वं आत्मदृष्टिर्विधीयते ।

आत्मनो ब्रह्मता बोध्या यत्रात्मोपक्रमे श्रुतः ॥

सच्छब्दस्य आत्मानात्मसाधारणसत्तासामान्यवाचित्वात्तस्य च उपक्रमश्रुतस्यैकस्मिन्वाक्ये बलीयस्त्वात्, 'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्यापमंहारस्यास्य प्रकृतसच्छब्दार्थं तच्छब्देन परामृश्य तदेकवाक्यतापन्नस्य तदनुरोधेन सत्तासामान्ये परमात्मदृष्टिविध्यर्थत्वम्; त्वंशब्देन च अत्र जीववाचिना तदभिन्नः परमात्मा लक्षणीयः । न हि जीवोपासनं कर्मचित्फलाय कल्पत इति । वाजमनेयिवाक्ये तु जीवस्य ब्रह्मैक्यं प्रतिपाद्यत इति । अत्रोत्तरम्—

साधारणार्थः सच्छब्दो वाक्यशेषगतः ।

निर्णीयते न च ब्रह्म मुक्त्वान्यथास्ति सत्यता ॥

सच्छब्दस्य ज्ञानिवचनत्वे प्रतिव्यक्ति श्रुतेः आत्मा वा अनात्मा वा सन्निति संदेहे मति उपमंहारे 'म आत्मा सत्त्वमसि' इति निर्देशात् आत्मैव सच्छब्दार्थं इति निर्णीयते । अपि

अथ सच्छब्दादपि प्राक्तनैकविज्ञानात्सर्वविज्ञानेनात्माद्वैतावग-
मात्सच्छब्दस्यात्मपरत्वनिर्णयः । न च सच्छब्दो जातिव-
चनः, येनात्मानात्मार्थत्वसंदेहः स्यात्, किंत्वाकाशादिशब्द-
वद्व्यक्तिवचनः सन् आत्ममात्रार्थः, आत्मन एव सत्त्वात्,
अन्यस्य मिथ्यात्वात्; एवं चोपक्रम एव निर्णीतोऽर्थः । चि-
न्ताप्रयोजनं तु ब्रह्मण सद्रूपत्वं छान्दोग्ये श्रुतं वाजसनेयके
उपसंहर्तव्यम्, तत्र च श्रुतविज्ञानरूपत्वं च छान्दाग्य
इति ॥

कार्याख्यानाटपूर्वम् ॥ ९ ॥

अन्यस्योपसंहारमिदमर्थं प्राणविद्यायां धर्मविशेषश्चिन्त्य-
ते । प्राणस्य 'आपो वामः' इत्याम्नाय उपदिश्यते—'तद्धि-
द्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्ये-
मेव तदनमनमं कुर्वन्तो मन्थन्ते' 'तस्मादेवंविदशिष्यप्रा-
चामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनमं कुरुते' इति । तत्र
किमाचमनं विधीयते, उताचमनीयास्वप्सु वामोदृष्टिरिति
संशयः, आचमनस्यान्यतोऽप्राप्तिप्राप्तिभ्याम् । पूर्वत्र संदि-
ग्धसद्रूपक्रमस्य वाक्यशेषाद्विधाय उक्तः; एवमिहापि 'अशि-
ष्यन्त आचामन्ति' इत्यादेर्वर्तमानापदेशत्वेन विधित्वसंदेहः
'अशिष्यप्राचामेत्' इति वाक्यशेषाद्विधित्वनिर्णयः । तस्य—

प्राप्तत्वेऽपि क्रतौ यद्व्यस्यतेऽनृतवर्जनम् ।

प्राणोत्पास्तौ विधीयत तर्धवाचमनक्रिया ॥

यद्यपि शुद्धयर्थे स्मृतावाचमनं विहितम्, तथापि प्राण-
विद्याङ्गत्वेन न विहितमिति तदङ्गतया प्राणोपासनप्रकरणे
तद्विधानमर्थवत्; यथा— स्मृतावनृतवदनप्रतिषेधे सत्यपि
ज्योतिष्टोमप्रकरणे तदङ्गतया 'नानृतं वदेत्' इति प्रतिषेधो-
ऽर्थवानिति प्राप्तं, अभिधीयते—

पुनरुक्तं पुमर्थेन कर्तौ नानृतवर्जनम् ।

सर्वार्थाचमनं प्राप्तं प्राणोपास्तौ स्मृतेरिह ॥

'द्विजो नित्यमुपशृशेत्' इति सर्वकर्मसु अङ्गत्वेन स्मृत्या
विहितमाचमनं प्राणविद्यायामपि प्राप्तं स्मृतिमूलसामान्यश्रु-
तिमिदं प्राणविद्यायां श्रुत्यानूयत इति ॥

समानं एवं चाभेदात् ॥ १० ॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या पठ्यते ।
तत्र गुणा बहुतराः धूपन्ते— 'स आत्मानमुपासीत मनो-
ययं प्राणशरीरं भारूपमाकाशात्मानं कामरूपिणं मनोजवं
सत्यमंकल्पं सत्यधृतिं सर्वगन्धं सर्वरसं सर्वां दिशोऽनुप्रयान्तं
सर्वमिद्रमभ्यासम् अवाक्यनादरम्' 'यथा प्रीद्विर्वा यवो
वा' इत्यादयः; बृहदारण्यके तु श्लोकाः— 'मनोमयोऽयं
पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नाहृदये यथा प्रीद्विर्वा यवो वा स
एष सर्वज्ञेयानः' इत्यादयः । तत्र संशयः— किं मित्रे
विद्ये, कर्तव्येति; एकरस्यां शाखायामभ्यामात्ममानगुणप्रत्यभि-

ज्ञानाच्च । पूर्वत्र प्राप्ताचमनानुवादेनानप्रताचिन्तनं विधेय-
मित्युक्तम्, इह तु वाक्ययोः कस्य विधित्वम्, कस्य वानुवा-
दत्वमित्यनिश्चयान् द्वयोरपि विद्याविधित्वम् ॥

अधिकोक्तेः समोक्तेश्च गुणार्थत्वे निवारिते ।

विद्यानानात्वमभ्यासात्समिधां यजतीतिवत् ॥

द्वयोर्विद्याविध्योरेकशाखागतयोरानर्थक्यं मा भूदिति स-
मिदादिकर्मभेदवद्विद्याभेदः । न चैकमात्रानं गुणविधाना-
र्थम्, अपरं विद्याविधानार्थम्, विशेषानवधारणात् । 'अग्नि-
होत्रं जुहोति' इत्यत्र हि निर्गुणविधिः कर्मोत्पत्त्यर्थः, 'दध्ना
जुहोति' इत्यत्र सगुणो गुणविधानार्थ इत्यवधार्यते । नात्र;
उभयोरपि सगुणत्वान् । न च यत्रानुक्ता गुणा उच्यन्ते,
तत्र गुणविधिः; कामरूपत्वादेः सर्वेश्वरत्वादेश्चापुनरुक्तगुण-
स्योभयत्रापि पाठान् । एकस्य गुणविधानार्थत्वे चोभयत्र
मनोमयत्वाद्याम्नानमनर्थकम् । न च विद्याप्रत्यभिज्ञानार्थम्,
प्रधानाभिधानादपि तदुपपत्तेः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

भूयस्त्वं यत्र धर्माणां तत्र विद्या विधीयते ।

प्रत्यभिज्ञानदाह्यार्थं ममानगुणकीर्तनम् ॥

उभयत्रापि मनोमयत्वादिगुणविशिष्टशाण्डिल्यनामाङ्कित-
तावद्विद्या प्रत्यभिज्ञायते । तत्र विद्यानानात्वकल्पनायां गौ-
रवम् । न चाभ्यासवैयर्थ्यम्; एकत्रोत्पत्तेरन्यत्र गुणविशि-

ष्टगुण्यनुवादेन गुणाविधानात् । न च गुणिमात्राभिधानादेव प्रत्यभिज्ञासिद्धौ गुणानां पृथगुक्तिवैयर्थ्यम् ; तस्याः प्रत्यभिज्ञादाह्वयार्थत्वात् । न चाविनिगमः ; यत्र गुणा भूयांसो विधीयन्ते तत्र प्रधानविधिकल्पनान् । यथा— यत्र करितुरगपदातिप्रचयस्तत्र राजेति ॥

संयन्भादेवमन्त्रापि ॥ ११ ॥

बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' इत्युपक्रम्य सत्यस्य ब्रह्मण आयतनभेदेन द्वे नामनी आदिश्येते— 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्योपनिषद्हरित्याधिदेवतम्, अथाध्यात्मं यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्योपनिषद्दहम्' इति । तत्र संशयः— किमुभे अप्युपनिषदाद्युभयत्र ध्यातव्ये, इत एका अधिदेवतमेका अध्यात्ममिति ; सत्यस्य ब्रह्मण-एकत्वात्, अध्यात्माधिदेवतस्थानभेदाच्च । पूर्वत्रैकशास्त्रायामभ्यासात् शाण्डिल्यत्रिद्याभेदप्रसक्तावपि प्रत्यभिज्ञानाद्वैयर्थ्ये गुणोपमंहार उक्तः ; तर्हीहापि सत्यस्य ब्रह्मणो मण्डलद्वयवर्तिनः ऐक्यादुपनिषदोरपि उभयत्र चिन्तनम् ॥

सत्यस्यैव प्रधानस्य तच्छब्देनाभिधानतः ।

तस्यैक्यादुभयत्रापि नामद्वयमुपास्यताम् ॥

यद्यप्यध्यात्माधिदेवतस्थानविशिष्टपुरुषोऽनन्तरनिर्दिष्टः, तथापि स्थानद्वयं तद्वैशिष्ट्यं वा पुरुषं प्रत्युपसर्जनभूतं

तच्छब्देन न परामृश्यते; अपि तु प्रधानपुरुष एव सत्य-
शब्दवाच्यः । स बोभयत्रापि एक इति तद्धर्मयोरुपनिषदोः
संकर इति प्राप्ते, अभिधीयते—

एकस्थानविशिष्टस्य यो धर्मोऽवगतः स न ।

स्थानान्तरविशिष्टस्य तस्मान्नाज्ञानोऽवस्थितिः ॥

सत्यं न गुणभूतं स्थानमात्रं तच्छब्देन परामृश्यते, नापि
तद्वैशिष्ट्यं धर्मः, किंतु स्थानविशिष्टं ब्रह्म, 'य एष एतास्मि-
न्मण्डले पुरुषः' इति तस्यैव प्रकृतत्वान् । तथा च विशि-
ष्टस्य विशिष्टान्तरेऽननुगमात् नोभयत्र उभयनामचिन्तनेति ॥

संभृतिशुद्ध्याप्यपि चानः ॥ १६ ॥

राणायनीयानां स्थलेषु ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते—
'ब्रह्मन्वेष्टा वीर्यां संभृतानि ब्रह्माग्ने ज्येष्ठं दिवमातृत्तान, ब्रह्म
देवानां प्रथमं तु जज्ञे तेनाहंति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः' इति ।
तेषामेवोपनिषदि शाण्डिल्यविद्यादयः ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते;
तासु सा विभूतयः उपसंहर्तव्या न वेति संशयः; ब्रह्मसंब-
न्धस्योभयत्र गुल्यत्वान्, संभृत्यादिष्वविद्यमानहृदयाद्यायत-
नस्य शाण्डिल्यादिविद्यासु श्रवणाच्च । पूर्वत्राक्ष्यादित्यस्थान-
भेदाद्धर्मोनुपसंहार उक्तः, तस्यातिदेशोऽयम्; तेनाप्रोपदे-
शवत्संगतिः । ब्रह्मैक्याच्छाण्डिन्यादिविद्यासु संभृत्यादिगुणो-
पसंहार इति पूर्वः पञ्चः । शाण्डिल्यादिविद्यानामाध्यात्मिक-

इत्यादिस्थानसंबन्धात् तास्वाधिदैविकसंभृत्याद्यनुपसंहार
इति सिद्धान्तः । का ताहं अधिकाशङ्का ? उच्यते—

आधिदैविकभूतीनां शाण्डिल्यादिषु साम्यतः ।

कचिच्चायतनाभावाद्ब्रह्मैक्यादुपसंहृतिः ॥

‘ज्यायान्दिवः’ इत्यादिराधिदैविकविभूतिः शाण्डिल्यादि-
विद्यासु संभृत्यादिविधाभिः समा, षोडशकलादिविद्यासु
आयतनमेव नास्ति । ब्रह्मसंबन्धप्रत्यभिज्ञानं सर्वत्र समामिति
सर्वत्र विद्यासु संभृत्याद्यो गुणा निविशन्ते । यद्यपि वैश्या-
नरषोडशकलादिविद्यानामितरेतरमाधिदैविकविभूतिप्रत्यभि-
ज्ञानं ब्रह्मसंबन्धप्रत्यभिज्ञानं चाविशिष्टम्, तथापि वासु
नेतरेतरगुणोपसंहारः शक्यते; तासां प्रत्यक्षविधिविहितत्वेन
भेदनिश्चयात् । संभृत्यादीनां त्वद्भुतविधिकत्वात् परिशिष्टोपदे-
शात्मकखिलग्रन्थशिष्टत्वाच्च उपनिषद्भुदितविद्याशेषत्वमाश-
ङ्कयेतीति प्राप्तं, अधिधीयते—

ब्रह्मतद्गुणमात्रैक्यं विद्यैक्येऽतिप्रसञ्जकम् ।

असाधारणधर्मैक्यं नात्र विद्यैकता यतः ॥

न तावद्ब्रह्मैक्यम् आधिदैविकविभूत्यात्मकसाधारणगुण-
मात्रैक्यं वा विद्यैक्यं गमयितुमलम्; वैश्यानरषोडशकलादि-
विद्यानामप्यभेदप्रमद्धान् । ये त्वसाधारणा वीर्यसंभरणादयः
संभृत्यादिविद्यासु, ये च शाण्डिल्यविद्यादिषु मनोमयत्वा-

दयः, तेषां न इतरेतरप्रत्यभिज्ञा; अतो न विद्यैक्यम् । एवं च खिलोक्तायामश्रुतविधिकायामपि मंभृत्यादिविद्यायां विधिं कल्पयित्वा विशाभेदोऽध्यवसातव्यः । ततश्च गुणानुपसं-
हार इति ॥

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामना- ज्ञानात् ॥ १३ ॥

अस्ति छन्दोगानां पुरुषविद्या— ‘पुरुषो वाव यज्ञस्तम्य
यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम् । अथ यानि चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यंदिनसवनम् । अथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम् । न यद्दक्षिणपति यस्तिपासति यद्दमते ता अस्य दीक्षा । अथ यद्धर्मात् यज्जक्षति तत्स्तुतशब्दे’ इति दीक्षादिकल्पना, ‘न चेदेनमिन्वयमि किञ्चिदुपतपेत्स श्रूयान् प्राणा वा वमथ इदं मे प्रातःसवनं माध्यंदिनसवनमनु संतनुत’ इत्यादिरागी, ‘मोऽन्तत्रेलायामेतन्न्यं प्रतिपद्येता-
क्षितमम्यच्युतममि प्राणमंशितममि’ इति मन्त्रप्रयोगो विहितः । तत्तिरीयके तु पञ्चाने— ‘तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमान, श्रद्धा पत्नी शरीरमिष्ममुरो वेदिलोमानि वार्हिर्वेदः शिवा हृदयं मूपः काम आज्यं मन्युः पशुमत्पोऽग्निर्दमः शमयिता दक्षिणा वाग्द्योता प्राण उद्राता चक्षुरध्वयुः’ इत्यादि । तत्र विद्यैक्यं न वेति संशयः; तत्तिरीयगतयोः ‘विदुषो यज्ञस्य’ इति पञ्चमोः सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यानवधारणम् ।

पूर्वत्रासाधारणगुणप्रत्यभिज्ञाभावात्संभृत्यादौ विद्याभेद उक्तः ;
इह त्वसाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाद्विचैक्यम् । तथा हि—

निषादस्थपतिन्यायात्सामानाधिकरण्यतः ।

षष्ठ्योः संपाद्यते पुंसि यज्ञत्वं तैत्तिरीयके ॥

छान्दोग्ये तावत्स्पष्टं पुरुषे यज्ञत्वसंपादनम्— 'पुरुषो
वाव यज्ञः' इति । तैत्तिरीयकेऽपि 'विदुषो यज्ञस्य' इति
षष्ठ्यौ सामानाधिकरण्ये, निषादस्थपतिवत् । न तु विदुषो
यज्ञस्येति वैयधिकरण्ये; संबन्धकल्पनार्या गौरवभ्रसङ्गात् ।
ततश्च पुरुषयज्ञत्वमुभयत्राविशिष्टम् । न च यज्ञत्वेन निरू-
पितम्य विदुषः 'आत्मा यजमानः' इति यजमानस्वरूपानिरूपणवि-
रोधः; स्वरूपवचनेनात्मशब्देन यज्ञस्वरूपस्यैवाभिधानात्,
अन्यस्य हि यज्ञस्यातिरिक्तो यजमानः; पुरुषत्वेन संपादि-
तस्य तु यज्ञस्य स्वरूपमेव यजमान इत्युक्तं भवति । तथा
मरणावभृथत्वाद्यपि समानमिति विचैक्यं प्राप्ते, अभिधीयते—

मुख्यसंबन्ध एवास्तु गौणैकाधिकरण्यतः ।

बहुना रूपभेदेन किञ्चित्साम्यं च वाध्यते ॥

षष्ठ्योः सामानाधिकरण्ये हि विदुषो यज्ञत्वममुख्यामिति
यज्ञपदं साध्यसादृश्येन यज्ञदृष्टिविध्यर्थं गौणं स्यात्; विदुष
इति षष्ठ्याः संबन्धार्थत्वे विद्वत्संबन्धिनो यज्ञस्यात्मादीनां
यजमानादित्वकल्पनान्मुख्यार्थत्वम्; आत्मशब्दश्च न यज्ञ-

स्वरूपं वक्ति; तस्य मुख्ययजमानत्वविरोधादेव । अपि च तव विदुषो यज्ञभावः, तं प्रति चात्मयजमानत्वादिकं विधेयमिति वाक्यं भिद्येत । न मम, विद्वत्संबन्धयज्ञानुवादेनात्मादीनां यजमानादिभावस्यैव विधानात् । अत्र च बह्व्यमाणयजमानादिदृष्टिविधीनालोच्य श्रुत्या तदर्थसमूहे यज्ञशब्दः प्रयुक्तः । न चैवं विद्वत्संबन्धयज्ञोद्देशे वाक्यभेदः; यतो यज्ञमात्रमुद्देश्यम्, तस्य तु विद्वत्संबन्धः प्रकरणभाषाऽनूद्यत इति । बहुवैषम्ये च मरणावभृथत्वादि बाधेत । पत्न्यादिकल्पना ह्येकत्र, नान्यत्र । एकत्र च पुरुषायुषं सवनत्रयं कल्पितम्, अन्यत्र प्रातरादिकालः । आयुर्षुद्विफलत्वमेकस्य, अन्यस्य तु मक्षविद्याशेषत्वमिति । वस्तुतस्तु विद्यास्तुत्यर्थमर्थवादः 'तस्यैवं विदुषः' इत्यादिः; कल्पनाया विद्याया अतपेक्षत्यादिति ॥

वेधार्थभेदात् ॥ १४ ॥

आथर्वणिकाशुपनिषदारम्भे 'सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमर्ताः प्रवृष्य' इत्यादयो मन्त्राः, प्रवर्यादीनि च कर्माणि विशामनिधौ श्रूयन्ते; तानि मन्त्रकर्माणि विशाङ्गम्, अनश्रान्यत्रोपमं हतव्यानि, न वेति मंशयः; विशामनिधिपठितत्वान्, मन्यस्य लिङ्गेनाभिचारे, प्रवर्यस्य वाक्येन च ज्योतिष्टोमेषु विनियुक्तत्वात् । एवं मन्त्रान्तरे कर्मान्तरे च द्रष्टव्यम् । ननु वाक्यलिङ्गयोः मंनिधेः सकाशाद्गृहीयत्वान् नद्विरोधे कथं

संनिधिमात्रात् मन्त्रकर्मणां विद्यार्थत्वम् ? नैष दोषः; मन्त्रा-
णां विद्यासमवेतहृदयादिप्रकाशकत्वेन विद्यायामपि सामर्थ्या-
विशेषात् । प्रवर्ग्यादीनां च कर्मणां यद्यपि वाङ्मयादि ज्योतिष्टो-
मादिशेषत्वप्रतिपादकमस्ति, प्रवर्ग्ये तावत् 'पुरस्तादुपसदां
प्रवर्ग्य प्रवृणक्ति' इति श्रवणान्, उपसदां च ज्योतिष्टोमादि-
नामावात्तद्वाच ज्योतिष्टोमसंबन्धः; तथापि न पठवदित्येव
वाक्यं दुर्बलं संनिधिं वाधते, अपि तु मतिं विरोधे; न चात्र
विरोधः, विद्यार्थस्यापि कर्मार्यत्वमंभवात्, अर्थस्य यदि-
रत्वस्य पुरुषार्थत्ववत् । तत्र विनियोजकवाक्यसोऽनुत्पत्त-
त्त्वमिति चेत्, मत्तम्, अर्थाविरोधे मतिं वाक्यमंनिधिभ्यां
प्रपञ्चदुर्बलाभ्यामपि प्रवर्ग्यस्य कर्मार्यत्वं विद्यार्थत्वं वाचि-
कम्, नन उपपन्नः संशयः । पुरुषयज्ञवत्संनिधेर्विद्याङ्गत्व-
मिति संगतिः ॥

योगात् असमर्थस्य चोपकारकत्वानुपपत्तेः सामर्थ्यं कल्पय-
न्ति ; न च समर्थानामपि श्रुतिमन्तरेण तादर्थ्यमिति वि-
नियोजिकां श्रुतिं कल्पयित्वा विद्याङ्गतां प्रतिपद्यन्ते । अ-
साभिधीयते—

शीघ्रं कर्मान्वये जाते मन्त्रादेर्वाक्यलिङ्गतः ।

विद्ययापि न संबन्धः संनिधानाद्विलम्बितात् ॥

यावद्विद्यया महाकाङ्क्षालक्षणप्रकरणं संनिधानेनानुमीयते,
तावन्मन्त्राणां कर्माभिलेङ्गाच्छ्रुतिः, प्रवर्ग्यस्य च वाक्याहिरुं
कल्प्यते । यावद्विद्यायां मन्त्रकर्मणां प्रकरणाद्वाक्यं कल्प्यते,
तावत्प्रवर्ग्यस्य ज्योतिष्टोमे वाक्यकल्पितलिङ्गाच्छ्रुतिः मन्त्रस्य
चाभिचारे लिङ्गकल्पितश्रुत्या विनियोगः क्रियते । यावच्च
प्रवर्ग्यस्य विद्यायां प्रकरणकल्पिताद्वाक्याहिरुं कल्प्यते ताव-
ज्योतिष्टोमे लिङ्गकल्पितश्रुत्या विनियोग इति मन्त्राणां स्वा-
ध्यायविधिमहणस्य प्रवर्ग्यस्य च स्वविधिपरिमहस्योपपत्तौ
मयां विद्यायां लिङ्गश्रुतिविनियोगाः कल्प्यमाना ह्यनमूलत्वा-
दागच्छन्मस्यधर्मायन्ते । यत्तु 'हृदयं प्रविष्य' इत्यत्र हृदयपदं
विद्यायामपि समवेतार्थमिति लिङ्गमुभयप्राप्यविशिष्टमिति ।
तत्रोच्यते— हृदयपदस्य विद्याकर्मणाः समवेतार्थत्वम्, इत-
रेषां पदानां बहूनामभिचारे समवेतार्थत्वम्, न विद्यायाम् ;
अतः श्राव्यभोजिन्यायेन भूयसां ज्यायेन च मन्त्रस्य कर्म-
शय्या । न च संनिध्यनुपूर्वकपदसमवेतार्थता विद्याङ्गत्वं

गमयतीति वाच्यम्; हृदयपदस्यैवाभिचारे समवेतार्थताया इतरपदैकवाक्यतापत्तिरूपवाक्यप्रमाणातुंगृहीताया वल्लदभि-
चारार्थत्वावगमात्, वाक्यानुग्रहस्य संनिध्यनुमहान्द्वितीयस्त्वा-
दिति ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दः-

स्तुत्युपगानवल्लदुक्तम् ॥ १५ ॥

ताण्डिनोः निर्गुणविद्यां प्रकृत्याधीयते— 'अथ इव रो-
माणि निधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धृत्वा शरीर-
मकुरुं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' इति । कौपीनकि-
नस्तु पर्यङ्गविद्यायां मनुणाद्यामामनन्ति— 'तत्सुकृतदुष्कृते
विधूयते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यमिया दुष्कृतम्'
इति । तत्र संशयः— यत्र हानमेव सुकृतदुष्कृतयोः धूयते,
तत्रोपायनं संनिपतेन्न वेति; कचिद्धानसंनिधौ उपायनस्य
श्रुतत्वाद्विद्यान्तरगतत्वात् । यथा पूर्वत्र विद्यासंनिधौ श्रुत-
स्यापि मन्त्रादेर्द्विद्यायामसामर्थ्यादनुपसंहार उक्तः, एवं हा-
नसंनिधौ श्रुतस्याप्युपायनस्य तदन्तरेणापि हानसंभवेन हा-
नोपपादनसामर्थ्याभावादनुपसंहारः । तत्र—

भ्रूतेऽधुपायनाद्धानसंभवात्सगुणे श्रुतम् ।

निर्गुणे नोपसंहार्यं सुकृतादेरुपायनम् ॥

न तावन् 'विधूय पापम्' इत्यादिदानवाक्ये उपायनं श्रु-

तम् । न च पर्यङ्कविद्यायां हानसंनिधाबुपायनश्रवणादत्रापि हाने तदुपसंहारः; पर्यङ्कविद्यायाः सगुणत्वात् 'अथ इव रोमाणि' इत्यस्य च निर्गुणविद्याविषयत्वात् । न चोपायन-
मन्तरेण हानानुपपत्तेर्विद्यान्तरगतमप्यानेतन्न्यम्; परैरस्वी-
कृतयोरपि पुण्यपापयोः विद्यया— पापस्येव प्रायश्चित्तेन हानसंभवान् । एवं प्राप्तं, अभिधीयते—

विद्याभेदेऽपि सिद्धस्य स्तुत्यर्थं संक्रमाद्भवेत् ।

अश्वरोमादिवत्सककर्मणोऽन्यैरुपायनम् ॥

विद्यान्तरविहितं ह्यङ्गं विद्यान्तरे नोपसंद्ध्यते, विधिप्रमा-
णकत्वादङ्गभावस्य विद्यान्तरे च विध्यमावान् । यत्पुनर्न
विधीयते, किं तु स्तुत्यर्थं सिद्धतया संकीर्त्यते, तदर्थाद्दमा-
मर्त्याद्विद्यान्तरेऽप्यसति बाधके देवताधिकरणन्यायेन प्रती-
यमानं न परित्यक्तुं शक्यम् ; तदिह पर्यङ्कविद्यायां हानमुपा-
यनशब्दसंनिहितमवगतम्, ताण्ड्यादिशाखायामपि निर्गुणवि-
द्यायां मुकृतादेश्यागोऽश्वरोमट्टान्तेनाप्रातः; अश्वरोम्णां च
त्यक्तानां न नाशः, किंतु अन्यप्रावस्थानम् । एवं दार्ष्टान्तिके-
ऽपि विदुषा परित्यक्तमुकृतादेशरन्यप्रावस्थानं प्रतीयते, न प्रा-
यश्चित्तवप्राज्ञः । समुपपादयितुमपेक्ष्यमाणं परैरुपायनमुपसं-
हृतंभ्यम् । नत्र च पराभितक्ष कर्मणः स्वरूपेण परम संवा-
रामंभवात्कथं मंचरति; कथमंचारोत्तरकालं च कर्मस्वरूप-
श्रवः 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादिभिरवगम्यते । न च

परकृतस्य कर्मफलस्य परत्र संचारासंभवः; पित्रादिकृतवै-
श्वानरेष्टयादिकृतस्य पुत्रादिगामित्वाभ्रानात् । तस्मान्निर्गुण-
विद्या हानोपायनाभ्यां सांतव्या । प्रयोजनं तु विदुषि सौहार्द-
माचरितव्यम्, न दौहार्दमिति ॥

वर्णकान्तरं वर्ण्यते—

‘अथ इव रोमाणि विधूय पापम्’ इत्यादौ किं विधूननं
सुकृतदुष्कृतयोश्चालनं किं वा हानमिति संशयः; धुनोतेः
कम्पने प्रसिद्धत्वात् उपायनशब्दसंनिधानाच्च । पूर्वत्र वेधा-
दिमन्त्राणां विद्यानुपयोगादनुपसंहार उक्तः, न हीह, विद्या-
विरुद्धकर्मणां फलारम्भात् चालनस्य विद्यापयोगान् शब्दस्य
तदर्थकत्वम् ॥

कर्मणः स्वाश्रयत्यागपरसंचारलक्षणात् ।

फलतश्चालनं लक्ष्यं लाघवेन धुनोतिना ॥

यदा ह्यमूर्तयोः पुण्यपापयोः स्वाश्रयत्याग आश्रयान्तरसं-
चारश्चानुपपन्नः, एवं चालनमप्यनुपपन्नम्; तत्र विरुद्धार्थद्व-
यलक्षणाद्वरं स्वफलारम्भाच्चालनमेव लक्ष्यतामिति प्राप्ते, अ-
भिधीयते—

उपायनसमीपस्थात्यागो लक्ष्यो विधूननान् ।

स एव केवलालक्ष्यश्चालनानुपपत्तितः ॥

अत्यक्तयोः सुकृतदुष्कृतयोः परेरुपायनानुपपत्तेः उपाय-
नसंनिधौ भुतविधूननेन त्यागो लक्ष्यमित्यर्थः; तथा च केव-

द्विविधूननश्रवणेऽपि प्रवृत्तत्वात्तस्यैव लक्षणा युक्ता, न फल-
प्रश्यावनस्य । न चामूर्तयोः सुकृतदुष्कृतयोः मुख्यं चालनं
तवापि संभवति, प्रमाणप्रापितत्वाच्च सुकृतादेः फलद्वारेण
स्वाश्रयाद्वियोगः आश्रयान्तरसंचारश्च कल्प्यमानो न गौरव-
दोषमावहति इति ॥

सांपराये तर्नव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ १६ ॥

देवयानमार्गमध्ये सुकृतदुष्कृतवियोगं कौपीतकिन- म-
मामनन्ति— 'स आगच्छति विरजानदीं तां मनसैवात्येति
तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' इति । तथा ताण्डिनः पठन्ति—
'अथ इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुख्य
धृत्वा शरीरम्' इति । आश्रयायनिनश्चार्धीयते— 'तस्य पुत्रा
दायमुपयन्ति मुहदः माधुकृत्याम्' इत्यादि । तत्र मंसयः—
तत्र किं विरजानघतिक्रमानन्तरं सुकृतदुष्कृतश्रयः, किं वा देह-
निर्याणत्प्रागेवेति; उभयथा श्रुतेः । पूर्वत्र मिदं कृत्वा विद्यायाः
कर्मश्रयहेतुत्वं हानसंनिधाद्युपायनोपमहार उक्तः, इदानीं तु
तदेवामिदम्, मार्गमध्ये श्रूयमाणस्य कर्मश्रयस्य विद्याहेतुक-
त्वाभावादित्याशङ्क्यते—

तच्छब्देन परामृष्टो विरजानघतिक्रमः ।

तन्मादर्थेन हेतुः भ्यात्पुण्यपापविधूनने ॥

'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' इति तन्मादर्थेनशब्दज्जुष्ट्या अन-

न्तरप्रकृतस्य विरजानद्यतिक्रमस्य कर्मक्षयं प्रति हेतुत्वमभिधीयते । ताण्डिश्रुतौ तु 'विधूय' इति ब्रह्मलोकप्राप्तेः प्राक्कालत्वं विधूननस्योक्तम्, तन्वार्धपथे विधूननेऽप्युपपन्नम् । न च जीवित एव विधूननम्, जीवन्विधूयेत्यश्रवणात्; एतेन 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति' इति शाक्यायनिधुतिर्व्याख्याता; नन्व्यायपि जीवित इत्यश्रवणात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

प्रधानं प्रकृतं विद्यां परामृशति तच्छ्रुतिः ।

अर्थात्पाठश्च बाध्यत यवागूपाकहोमवत् ॥

धर्माद्यनुष्ठानसहिताया विद्याया उत्तरमार्गेण पर्यङ्कस्य ब्रह्मप्राप्त्युपायत्वं कौपीतकिशाखायां श्रूयते । न चाप्रक्षीणपाप्मेन उत्तरमार्गप्राप्तिः तद्द्वारेण ब्रह्मलोकप्राप्तिश्च संभवति; तेन विद्यायाः पापक्षयहेतोरुत्तरमार्गप्रापकत्वे सिद्धे, अर्थकमान्मार्गमध्ये पठ्यमानोऽपि पापक्षयः अन्त्यप्रत्ययानन्तरं दृष्टव्यः । तथा च ताण्डिश्रुतौ पापविधूननानन्तरं वेदमोक्ष उक्तः । 'अथ इव ..विधूय' इति च स्वतन्त्रस्य पुरुषस्य व्यापारं वृत्ते; न च परेतस्यास्ति स्वातन्त्र्यम् । यत्तु सर्वनामश्रुतेर्विरजानद्यतिक्रमस्य पापक्षयहेतुत्वमिति, तन्न । सर्वनामः प्रकृतपरामर्शित्वान्, प्रधान्येन प्रस्तुतस्य च प्रकृतत्वान्, विद्याया एव तथात्वाद; नद्यतिक्रमस्य संनिहितत्वस्याप्यप्रधानत्वेन प्रकृतत्वाभावादिति ॥

गतेरर्थवच्चमुभयभान्यथा हि विरोधः ॥ १७ ॥

त्रिसोदयसमनन्तरक्षण एव कर्महानमिति प्रसङ्गागतं निरूप्य, गुणोपसंहारानुपसंहारचिन्तैव क्रियते । क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते— यथा पर्यङ्कविद्यादौ । क्वचिन्न— यथा निर्गुणविद्यायाम् ' विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ' इति । तत्र संशयः— किं सर्वत्र देवयानं सनिपतेन्न वेति । तत्र ' हानौ तु ' इत्यधिकरणे क्वचिद्धानसंनिधानुक्तमुपायनं केवलहानश्रवणेऽप्युपसहर्तव्यमित्युक्तम् ; एवं क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ उक्तां गतिं केवलापिश्रुतहानिरुपस्थापयतीत्याशङ्क्यापोचते ॥

विमतो गतिमान्विद्वत्पुण्यपापक्षयत्वतः ।

पर्यङ्कविद्यास्थपुण्यपापक्षयो यथा ॥

न च ' निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ' इत्यागमेन विरोधः ; पुण्यपापक्षयानन्तरं देवयानेन पथा ब्रह्मलोकप्राप्तौ निरञ्जनस्य परमसाम्योपपत्तेः । असौचरम्—

बोधबोधविध्वस्तौ निद्वयब्रह्मात्मलाभतः ।

बोधस्य चेद् निष्पत्तेर्ब्रह्मलोकगतिर्वृथा ॥

ब्रह्मशान्तिर्यथा वा ब्रह्मलोकगतिः, ब्रह्मविद्यार्थं वा ; नात्र, अज्ञानब्रह्मभाषस्य ज्ञानादज्ञानदादात् इदं प्राप्तेः । न द्वितीयः, यमनियमादिमत इदं भवणादिभिर्ज्ञानैस्त्वत्तेः । अनुमानं तु मगुणविद्यागतत्वेन सौपाधिकम् ; विमतं पुण्यपापदानं न

गतिमत्, निर्गुणविद्यासाध्यपुण्यपापहानत्वात्, मुख्यमान-
हिरण्यगर्भपुण्यपापहानवत्— इति सत्प्रतिपक्षं च । न च
हिरण्यगर्भस्यान्यकाले विद्यानिरस्यपुण्यपापासंभवः; प्राग्भ-
वीषपुण्यादेः प्रसुप्तस्य संभवात् । ब्रह्मविद्ययेव उपास्त्या सर्वक-
र्मक्षये सति उपास्तेरपि पुण्यत्वेन निवृत्तिप्रसङ्गात् ; तस्मादु-
पास्तिफलप्राप्तिप्रतिबन्धककर्मणामुपास्तिनिवर्तिका, न सर्वस्य ।
अत्र च निर्गुणविद्यायामनुमानाद्गतिराशङ्क्य निरस्ता । वाद-
र्यधिकरणे तु ब्रह्मशब्दस्य मुख्यत्वादिभिर्गतिमाशङ्क्य तंपा-
मनन्यथामिद्ब्रह्मलोकश्रुत्यादिभिर्बाधोऽभिधास्यत इत्यपौन-
रुक्तिः ॥

अनियमः नर्वांसामविरोधः शब्दा-
नुमानाभ्याम् ॥ १८ ॥

सगुणासु विद्यासु कासुचिद्गतिरर्चिरादिका श्रूयते— यथा
पर्यङ्कविद्यायां पञ्चास्रिविद्यायामुपकोसलविद्यायां दहरविद्यायां
च । कचिन्न श्रुता— यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां
षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति ॥

अहंप्रहा इमाः सर्वा ब्रह्मलोकाप्तिसाधिकाः ।

विशुद्धोकाप्तिपर्यन्तं प्रतीकोपासनाफलम् ॥

तत्र संशयः— किं यत्र श्रुता गतिः तत्रैव व्यवतिष्ठते,
उत सर्वसगुणविद्यासु साधारणीति; प्रकरणात् सगुणविद्या-

फलस्य ब्रह्मलोकादेर्गत्यपेक्षत्वलिङ्गाच्च । ननु लिङ्गप्रकरणाभ्यां प्रथमदुर्बलाभ्यां कथं संशयः ? उच्यते, लिङ्गस्य सामान्यसंबन्धसापेक्षत्वात् अत्र च तदभावाद्दुर्बलत्वं शङ्क्यते । पूर्वत्र सगुणनिर्गुणविद्यासु गतिव्यवस्था उक्ता, तद्वत्सगुणास्वपि विद्यासु गतिव्यवस्थाप्राप्तौ तदपवादात्संगतिः । तत्र—

प्रक्रियातो नियम्येन मार्गोक्त्यापत्तिरन्यथा ।

सर्वत्र च पथिप्राप्तौ द्विराम्नानमनर्थकम् ॥

प्रकरणस्य धर्मनियामकत्वे दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमधर्माणामन्योन्यत्र संकरप्रसङ्गः एकत्र श्रुतस्य च पथः सर्वत्र प्राप्तौ एकस्यां शाखायां पश्चाद्विद्यायामुपकोमलाविद्यायां च संपूर्णाद्विरादिमार्गो नाध्यस्यत । 'मत्यमुपासते' इति तु वाक्ये मत्यशब्देन यथादृष्टमत्यवचनमभिधीयते, न ब्रह्म; उपास्यस्य भिष्यात्वादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

वाक्यात्प्रकरणं वाध्यमिहान्यत्र नियामकम् ।

मार्गाभ्यामस्तु चिन्तार्थो विद्ययोहभयोरपि ॥

अमति विरोधे प्रकरणस्य धर्मनियामकत्वमिष्यत एव । इह तु 'ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽद्विरभिसंभवन्ति' इति वाक्यं सर्वविद्यासु गतिसंबन्धमवबोधयति । तद्विरोधे प्रकरणं गतिं न नियन्तुमर्हति । यद्यप्युपाध्युपहितं मिष्या, तथापि यस्योपाधिसंबन्धः तत्त्वत्वशब्दार्थः । एतदुक्तं

भवति— सत्यं ब्रह्म उपाधिनावच्छिद्योपासत इति । इतरथा सत्यं मुक्त्वा रुद्धचनपरत्वे गौरवम् । गत्यभ्यासस्तु पञ्चामि-
विद्योपकोसलविद्ययोः यावदुक्तानुचिन्तनार्थः । तस्मात्प्रधि-
दुक्तगतं सर्वब्रह्मोपालिपूपसंहारः ॥

यावदाधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥

निर्गुणविद्यायां गतिं प्रनिषिध्य सगुणविद्यायां गतिप्रयोज-
कैश्वर्यविशेषदर्शनाद्विद्विषयवतीत्युक्तम् । सगुणासु विद्यासु
गतेः सार्वत्रिकत्वं धर्णितम् । इदानीं निर्गुणविद्याया अमि
मोक्षहेतुत्वानुपपत्तेश्चैश्वर्यविशेषहेतुत्वम् ऐश्वर्यविशेषश्च न गति-
मन्तरेणैवभिहितव्यवस्थाक्षेपेण प्रत्यवस्थीयते ॥

विद्यावतोऽपि व्यासादेरप्रवृत्तक्रियाकृतम् ।

अस्ति देहान्तरं तस्माद्विद्या मुक्तेर्न साधनम् ॥

न्यासशरीरम् अपान्तरतमःशरीरारम्भककर्मातिरिक्तकर्मा-
रब्धम्, अपान्तरतमःशरीरादन्यत्वं सति शरीरत्वान्, वसि-
ष्ठशरीरवत् । तत उत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारस्वाप्यनारब्धफलक-
र्मारब्धशरीरग्रहणदर्शनात् ब्रह्मविद्यायाः मोक्षः फलमिति
प्राप्ते, अभिधीयते—

नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपासनयैकया ।

आरब्धं प्रतिबन्धः स्यादैश्वर्यं ब्रह्मवेदिनः ॥

न हि हेतोरपि सति प्रतिबन्धे कार्यानुपजनिः प्रतिधि-

पति हेतुवाम् । न हि सेतुप्रतिषेद्धा आपः न निम्नदेशमभि-
 सर्पन्तीति सेतुमङ्गेषु न प्रसर्पन्ति । तदिह प्रवृत्तफलाया
 कर्मसहितेश्वरोपासनया विरचितेन युगपत्क्रमेण वा नानादे-
 होपभोग्यैर्भोग्येण विश्वाकर्मारोघनपरितुष्टेश्वरदत्तेन प्रतिषेद्धा
 विश्वा न फलं जनयति, भोगेन तत्क्षये च दाम्भ्यति, 'तस्य ता-
 वदेव चिरम्' इति भ्रुवेर्व्यासादिष्वप्यविशेषात् । अतुमाने तु
 व्यासशरीरम् अपान्तरतमःशरीरान्मकत्वरहितकर्मारब्धं न
 मवति, व्यासापान्तरतमःशरीरान्यान्यस्वान्, अपान्तरतमः-
 शरीरवदिति सेत्प्रतिषेधतेति ॥

अक्षरधियां त्वचरोधः सामान्यतद्भावा-

भ्यामीपसदवत्तदुक्तम् ॥ २० ॥

वाजसनेयके भूयते— 'एतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अ-
 भिवदन्ति अस्थूलमनष्वद्भवम्' इत्यादि । तथाथर्वणे— 'य-
 त्तदद्रेश्यम्' इत्यादि । एवमन्वयापि प्रपञ्चप्रतिषेधाः कचि-
 दधिकाः कचिन्न्यूनाः । तत्राधिका इतरत्रोपसंहर्तव्याः, उत
 नोपसंहर्तव्या इति संशयः, उपसंहारप्रयोजनसंभवासंभवा-
 भ्याम् । पूर्वत्राधिकारिकाणां प्रारब्धकर्मण एव शरीरान्तरा-
 रम्भसंभवात् कर्मान्तरस्य निमित्ततेत्युक्तम् । एवमिहापि त-
 त्प्रकरणपटितनिषेधत एवोपलक्षणतया सर्वप्रपञ्चनिषेधासि-
 द्देर्न शास्त्रान्तरीयनिषेधानां शास्त्रान्तरे ब्रह्मप्रमितिहेतुत्वम् ।
 नन्वानन्दादिवन्निषेधोपसंहारः किं न ह्यात् ? नेत्युच्यते;

भवेद्द्रव्यास्वरूपत्वादानन्दाद्युपसंहृतिः ।

निषेधांनामनात्मत्वात्किमर्थमुपसंहृतिः ॥

न चास्वरूपाणामपि स्वरूपप्रतिपक्ष्यर्थमुपसंहारः । यस्मात्—

आनन्देन निषेध्यानां तन्निषेधधियामपि ।

असंख्येयतयैकत्र नोपसंहारसंभवः ॥

स्थाळीपुलाकवर्त्किचिन्निषेधेनान्यलक्षणे ।

श्रुतमात्रेण तत्सिद्धेरूपमंहरणं वृथा ॥

इति शान्ते, अभिधीयते—

प्रतिषेध्या अनात्मनोऽध्यात्मलक्षणतां गताः ।

आत्मप्रमितिसिद्धपर्य संयास्यन्त्यश्रुतस्यले ॥

न च निषेधानन्त्यादनुपसंहारः ; यतः—

प्रतिषेध्यः प्रपञ्चोऽत्र भूतं वा मौक्तिकानि वा ।

इन्द्रियामि शरीरं वाधिद्या वा विश्वकारणम् ॥

एषां परिमितत्वेन निषेधपरिभेदतः ।

साकाङ्क्षेषु निषेधेषु गच्छेद्युः पूर्तये परं ॥

इयदामननात् ॥ २१ ॥

‘द्वा सुपर्णा’ इति मन्त्रमायर्वणिकाः खेटाश्ववराश्च पठन्ति; कटाश्च ‘अतं विशन्तौ’ इति । अत्र विद्याया एकत्वं

नानात्वं वेति संशयः; एकत्र द्वयोः पारुत्वेन, अन्यत्रैकस्या-
नशित्वप्रतिपादनेन च स्वरूपभेदात्, द्वित्वोपेतवस्त्वैक्य-
प्रत्यभिज्ञानाच्च । सर्वत्र निर्गुणवाक्ये ब्रह्मपरत्वसिद्धौ विद्या-
न्यत्प्रज्ञाहानिवतारान् कश्चिद्ब्रह्मपरत्वेन कश्चिद्ब्रह्मपरत्वेन च
विद्यानानान्वचिन्ता । ननु 'गुहां प्रविष्टौ' इत्यत्र ज्ञतपाननि-
श्चिबजीवद्वितीयता तत्स्वरूपपरमात्मन एवेति जीवेश्वरपरत्वं
निर्णीतम्, 'ज्ञा सुपर्णा' इति मन्त्रे तन्व्यायमंशुदेशिमतेऽति-
दिग्ब्रह्मपुनिरपत्कृतव्याख्यानेनासंसारिब्रह्मात्मता जीवस्या-
यंमन्त्रः श्रुतिपादयति न जीवेश्वरौ भेदेनेति विद्याभेदो निर्धा-
रितः । तत्र विद्यैकत्वमिद्वान्तः पूर्वापरविराधौ; कृत्वाचिन्त-
या च तुम्यार्थत्वाभरणे जीवेश्वररूपार्थक्याद्विद्यानानात्वपूर्वं
पश्चानुत्थानमिति । नदुच्यते—

बुद्धौ निक्षिप्य कर्तृत्वममसारीश्वरात्मना ।
जीवोऽभिधीयते यद्ब्रह्म सुपर्णेति मन्त्रनः ॥

बुद्धमुपाधिकर्तृत्वात्पुनरधिकेश्वरत्वमेतानात् ।
अनुपाधिः स एवेश ज्ञतमन्त्रे तथेरितः ॥

तस्मादेकविद्यात्वमिद्वान्तो न विरुद्धः । पूर्वत्र प्रतिपाद्य-
प्रत्येकवचन्यभिज्ञानाद्विद्यैक्ये अक्षरधियामुपगोहार उक्तः । इह
तु प्रतिपाद्यभेदाद्विद्याभेदः ॥

एकत्राभोक्तृभोक्तरी भोक्तारत्वपरत्र च ।

तन्व्येन लभता मुच्यतेमवे न च मुच्यते ॥

न च 'पिबन्तौ' इत्यत्र छत्रिन्यायेन पिवदपिबन्तौः लक्षणाः ; मुख्यार्थसंभवे तदाश्रयणार्थोणात् । न च 'यः सेतुरीजानानाम-
मक्षरं ब्रह्म यत्परम्' इति वाक्यशेषात्तदाश्रयणम् ; संदेहे हि
वाक्यशेषान्निर्णयः, न च मुख्यलक्षणिकप्रसङ्गविषयो विशयः
संभवति । 'अन्यत्र धर्मात्' इति प्रकरणस्य च बलीयमा
'पिबन्तौ' इति वाक्येन बाधात् न तद्वलेनापि लक्षणा । अत
एव गुह्यप्रविष्ट्याधिकरणेन न पुनरुक्तिः । तस्मादेकत्र भोक्त्वृद्ध-
योपास्तिः अन्यत्राभोक्त्वृद्धात्मत्वविद्येति प्राप्ते, अभिर्थायते-

उत्पत्तौ द्वित्वविज्ञानात्साम्ये नैसार्गिके सति ।

उपक्रमोपसंहारात्पिबन्ता बाध्यते द्वयोः ॥

विद्योत्पत्तिसमय एव मन्त्रद्वयेऽपि 'द्वौ' इति 'पिबन्तौ'
इति च द्वित्वप्रतीतेः सामानता औत्सर्गिकी । तयोपक्रमोप-
संहारसंगलितया 'पिबन्तौ' इत्यत्र छत्रिन्यायेन पिवदपि-
पत्समुदायं प्रति समूहिनौ लक्षयति । तय 'द्वा सुपर्णा' इति
मन्त्रे जीवागतं कर्तृत्वं बुद्धौ निक्षिप्य निरुपाधिको जीवो प्र-
कृत्वेन निरूप्यते । 'कृतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु औपाधिके जीवे
कर्तृत्वागुक्त्वा उपाधिविनिर्मुक्तः स एवाभोक्त्वृत्परमात्मभावेन
निरूप्यत इत्युक्तमेव । अतो न युद्धिजीवनिर्देशमात्रेण विद्या-
भेदः । प्रयोजनं तु कठवर्हीषु 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादिना
ह्यात्मनो धर्मोद्यत्य लक्षः, गुण्डके 'यत्तदद्रेश्यम्' इत्यादिनो-
क्तमदृश्यत्वादि । श्वेताश्वतरीवेऽपि 'त्रिरुश्रतं स्याप्य समं

शरीरम्' इत्यादिनात्मविद्याङ्गत्वेन योग उक्तः । तस्य सर्वस्य
शास्त्रत्रयेऽप्युपसंहारः ॥

अन्तरा भूतग्रामश्चत्स्वात्मनः ॥ २२ ॥

'यत्तासादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरसं मे व्याचक्ष्व'
इत्येवं द्विरुपस्त्रिकहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाज्रसनेयिनः समा-
मनन्ति । तत्र संशयः— एका विद्या नाना वेति; अभ्यासात्,
सर्वान्तरत्वप्रत्यभिज्ञानाच्च । पूर्वत्र 'पिचन्ता' इत्यस्य लक्षण-
गिकत्वमुपाशय मन्त्रद्वयेऽपि भीष्मभोक्तृपरत्वेनार्थैक्यादिय-
क्यमुक्तम् । इहार्थैक्येऽपि न विरैक्यम्, अभ्यासात्— इति
रूपैक्यस्यापवादमभ्यामभासाङ्ग्य प्रतिविधानं कियते—

पुनःश्रुत्यर्थवत्त्वाय प्राणादिव्यतिरिक्तैः ।

यकत्रोपासनाभ्यत्र शुभुक्षाद्यतिर्लङ्घिनः ॥

उपस्त्रिप्रश्ने हि 'यः प्राणेन प्राणिति म आत्मा सर्वो-
न्तरः' इत्यादिना प्राणादिव्यतिरिक्त आत्मा उपास्यः, कदो-
लप्रश्ने तु 'योऽशनायापिपामे अत्येति' इत्यादिना स एवा-
शनायाद्यदीतो भ्येयः । स्यादेतत्, यथैकस्यामपि विद्यायाम्
'तत्त्वमसि' इति वर्ये अद्यात्मैक्यं भवकृत्वोऽप्यद्यते तत्त्व-
दाशङ्कानिराकरणेन, एवमत्रापि । तथाहि— सुषुप्त्यु-
त्थान्वाद्यवस्थासु येन रूपेण जीवः संपद्यते तत्सदसीति
विद्या बोधितः श्वेतकेतुराशङ्कते— सुषुप्तौ सत्संपन्नाः जीवाः

सद्ब्रह्मात्मत्वं किमिति न विदुरिति । अत्रोत्तरं पित्रो-
 क्तम्— यथा नानावृक्षरसा मधुमक्षिकाभिर्मधुत्वेन समा-
 हता न विवेक्तुं शक्यन्ते— अयम् आमस्य रसः अयं
 पनसस्येति, तत्र यथा मधुराम्लादिरसभेदः सत्रापि नोपल-
 भ्यते, एवं सुषुप्त्यादौ प्राप्तमपि ब्रह्म न वेद्यत इति । ननु
 युक्तं सुषुप्तौ करणाभावादविज्ञानम्, उत्थितस्तु ब्रह्मणो-
 ऽहमुत्थित इति कस्मान्न वेद—यथा स्वगृहे सुप्तस्तत उत्थानम् ।
 उत्तरम्— यथा नद्यो जलधरैरम्बुपेराकृत्य वृष्टाः पुनः समु-
 द्रे प्राप्ता न विदुः— समुद्रादगता घयं समुद्रे क्षिप्ता इति ।
 जलधराकर्षणे हि रमान्यत्वात्समुद्रात्मत्वं नदीनां दुर्ज्ञानम्,
 एवमुत्थितानां संसारिणां ब्रह्मवैलक्षण्यात्तदात्मनावस्थाय उ-
 त्थिता वयमिति न ज्ञानमित्यर्थः । सुषुप्तौ जीवस्य कारणभाव-
 प्राप्ते समुद्रवीच्यादिवज्जाशनाशङ्क्योक्तम्— यथा वृक्षस्य
 परश्वादिना ऋद्धे रसस्त्रावित्वात्सजीवस्त्वम्, एवं सुषुप्तौ देहे-
 ऽपि लोहितदर्शनात् जीवनाश इति । सूक्ष्माद्रक्षणः कथं
 स्थूलजगदुत्पत्तिरिति शङ्का यदधानान्तर्गतसूक्ष्मस्त्वादृष्टस्यां-
 त्तस्या निरस्ता । जगन्मूलं ब्रह्म किमिति नोपलभ्यत इत्या-
 शङ्क्य, उदकप्रक्षिप्तलवणघनस्य दर्शनस्पर्शनाभ्यामनुपलम्बं-
 ऽपि रसाङ्गवणसस्त्रावनिश्चयवचस्त्रुराद्यदृश्यमपि ब्रह्म कार्यलि-
 ङ्गादस्तीत्युक्तम् । ब्रह्मसाक्षात्कारे क उपाय इत्याशङ्क्य, गा-
 न्धारदेशादरण्ये धारैर्निक्षिप्तस्य यद्ब्रह्मपुत्रः पुत्रस्य नैतव-
 न्यननिर्मुक्तिं गान्धारोपदेशगमनवदाचार्यकृताद्ब्रह्मात्मत्वोप-

देशाद्ब्रह्मसाक्षात्कारोऽविद्यानिवृत्तिश्चेत्युक्तम् । स विद्वान्कैत-
 क्रमेण ब्रह्म संपद्यते इत्यपेक्षायाम्, विद्वान्वाङ्मनसादेर्लये ज्ञा-
 नदीपप्रकाशितं ब्रह्म इहैव प्रतिपद्यते, नार्चिरादिकमपेक्षते ;
 अविद्यांस्तु देहान्तरं गृह्णातीत्युक्तम् । यदि मरिष्यमाणो मोक्षमा-
 णश्च ब्रह्म संपद्यते, तर्हि विद्वानप्यविद्वानिव किमिति नावर्तते
 इति ? उत्तरम्— तत्रपरशुं गृह्णतोः स्वेनास्तेनयोः तत्रपरशु-
 करतलसंयोगाविशेषेऽपि सत्यव्यवहितहस्ततलत्वादस्तेनो न
 दृश्यते, स्तेनस्तु दृश्यते, तेन आत्मन्यारोपितचोरत्वस्य परशुह-
 स्ततलव्यवधायकत्वाभावात् । एवमन्त्यकाले विद्वदविदुषोः
 समानायामपि सत्संपत्तौ सत्यब्रह्माभिसंधी पुनर्न देहं गृह्णा-
 ति, अनृतदेहाद्यात्मबुद्धिस्तु पुनरपि शरीरमुपादत्त इति । एतेन
 च 'आशङ्कान्तरनिराकरणेन च असकृदुपदेशोपपत्तेः' इति
 भाष्यं व्याख्यातम् । अत्र 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु'
 इति पूर्वापरसाक्षात्क्षत्वावगमाद्विद्वैक्यम् । न च प्रस्तुतेऽस्ति
 तद्विद्वैक्यकारणम् ; यदेव साक्षादित्येवकारस्य यत्साक्षादेव न
 कदाचित्परोक्षमित्येवमर्थत्वात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

प्राप्ते विधेरनुपपत्तिरिदं तु सिद्धं

पथ्यं पुनःपुनरपि प्रविपादनीयम् ।

प्राणादिभिच्चिरदनादिनिवृत्तिरर्थो

भिन्नौ समं च सकलान्तरमत्र वस्तु ॥

अत्र हि 'कृतमो वाङ्मवत्स्य सर्वान्तरः' इति प्रश्ने 'एष

व आत्मा सर्वान्तरः' इति प्रतिवचने च प्रसिद्धं वस्तु निरूप्यते, नोपास्तिर्विधीयते ; तत्र विधेः प्रवर्तकत्वेनाप्राप्तं गौचरः, प्राप्ता तु तत् एव प्रवृत्तेस्तद्वैयर्थ्यामिति समिदादौ भेदकत्वम् ; वस्तुस्वरूपं तु हितं पुनःपुनरुपदिशन्त्यादरेण प्रतिपत्त्यर्थमाप्ताः, विशेषस्तस्तु वेदः पितृभ्यामभ्यर्हितः । न च सर्वथा पानरुकत्वम् ; उपस्तिब्राह्मणे आत्मनः प्राणादिभेदप्रतिपादनात्, कहोलब्राह्मणे चाशनायाश्रययाभ्रानात् ; तेन 'तत्त्वमसि' इतिवद्ब्राह्मणभ्यामः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । यथा च तत्र 'भूय एव' इत्येकवाक्यताप्रतीतिः एवमत्रापि 'यदेव' इत्येवकारान् । यत्त्वाभादेवेत्यन्वये तु व्यवहितान्वयः स्यात् । अपि च सर्वान्तरत्वादिरूपात्मोभयव प्रत्याभिज्ञायते । तस्मादेका विद्येति ॥

व्यनिहारो विधिपन्नि हीतरघत् ॥ २३ ॥

'ततोऽहं सोऽसौ योऽसौ मोऽहम्' इत्यत्र जीव एवेन्नरटाष्टिर्विधीयते, उतेश्वरेऽपि जीवटाष्टिरिति मंशयः ; सकृष्टे निकृष्टट्टिर्न फलवतीति न्यायान्, व्यनिहाराभ्रानाह । पूर्वत्र विशेष्येऽप्यभ्याम आदरार्थं इत्युक्तम् । अत्रापि तथा ॥

इंघरस्य निकर्षः स्यात्मंसारित्येन दर्शने ।

अभ्यामभवादरार्थः मन्द्रदयत्येकतां तयोः ॥

सत्तरम्—

इंघरस्यापि जीवत्वमुपास्यं यथनादिह ।

ट्टे रूपादिनाशित्वाभेश्वरे स्यामिकृष्टता ॥

यथा हि वस्तुतो निर्गुणं ब्रह्म सगुणत्वेन वचनादुपास्यते,
 नेतावतास्य निकर्षः; एवमत्रापि जीवरूपेण दृष्टिर्दशरस्य
 मोत्कृष्टरूपं नाशयति । तस्मादन्योन्यमकर्तृत्वं ध्यातव्यम्;
 आर्थिकं त्वैकत्वं न निवार्यते । सत्यकामत्वादिगुणोपासित-
 विधाविव तद्गुणेश्वरसिद्धिः ॥

उत्कृष्टब्रह्मदृष्टिर्वा निकृष्टेष्वभिधास्यते ।

सा साधारणवाक्येषु नेदं साधारणं वचः ॥

सैव हि सत्यादयः ॥ २४ ॥

‘स यो हृतं महद्यज्ञं प्रथमजं वेद जयतीमौहोकात्’ इति
 सत्यविद्याभाष्यनाय, अनन्तरं पठ्यते— ‘तद्यत्तरसत्यमसौ स
 आदित्यो य एष एतस्मिन्गण्डले पुरुषस्तस्योपनिषद्दरिति हन्ति
 पाप्मानं य एवं वेद यथायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्योपनिषद्-
 हम्’ इति; अत्रापि पापहानमेव फलमिति । तत्र संशयः—
 द्वे इमे विद्ये, उतैकेनि; फलभेदध्वनान् ‘तद्यत्तरसत्यम्’ इति
 प्रकृताकर्षणाय । पूर्वत्र जीवब्रह्मणोरितरंतरात्मत्वनिर्देशभेदा-
 द्दिरूपा मनिः कर्तव्येत्युक्तम्; एवमिहापि ‘जयतीमौहोकात्’
 इति, ‘हन्ति पाप्मानम्’ इति च फलभेदनिर्देशाद्विद्याभेदः ॥

प्रकृताकर्षणाद्विशेषभेदाभावेऽपि भिद्यते ।

उपासिः माध्यमेदेन नित्यकाम्यार्थजाश्रयत् ॥

‘तद्यत्तरसत्यम्’ इति प्रकृताकर्षणनोपास्यरूपोपास्यतुयं-

धाभेदेऽपि फलभेदादुपासनाभेदः; 'यावज्जीवं वर्षापूर्णमासाभ्यां यजेत' 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति शास्त्रयोरिवाधिकाररूपसाध्यभेदाद्भेद इति प्राप्ते, अभिधीयते—

साधिकारे विधावङ्गफलोत्केरधर्वात्ता ।

अर्थवादात्फले कल्प्ये सर्वे तत्स्थात्प्रधानगम् ॥

प्रकृताकर्षणात्तावदनुबन्धैक्याद्विद्यैक्यमवगतम् । न च फलभेदः; यतः 'जपतीमाँल्लोकान्' इत्यादिना प्रधानविधौ फलवति जाते 'तस्योपनिषदहः .. अहम्' इति यद्रहस्यनामोपासनमङ्गं तद्व्यशंसार्थोऽर्थवादः 'हन्ति पाप्मानम्' इत्यादिः । अथैवं कामपदाभावेन पुरुषस्य कर्मण्यश्चर्यरूपस्याधिकारस्याश्रवणात्प्रन्यायेत्सार्थवादात्फलकल्पनम्, ततोऽमुकं फलं प्रधानस्य इत्यगृह्यमाणविशेषत्वाद्वाक्यशेषगतसर्वकामफलस्य संवल्लिनाधिकारकल्पनया सर्वफलयुक्तमंकमुपासनमिति ॥

कामादीतरन्न तन्न ध्यायतनादिभ्यः ॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरं दहरं पुण्डरीकं वैश्वं दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति प्रक्रम्य हृन्दोगा अधीयते— 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृशुर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादि; वाजसनेयिनस्तु 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्शेते सर्वस्य वशी' इत्यादि ।

वन्न संशयः— किमितरेतरत्र गुणानामनुपसंहारः, उतोपसंहार इति; रूपभेदाद्बुद्ध्यादिसाम्याच्च । पूर्वत 'तद्यत्तत्सत्सम्' इति प्रकृताकर्षणेन रूपाभेदाद्गुणोपसंहार उक्तः, इह तु रूपभेदाद्गुणानुपसंहारः ॥

उपास्यं कचिदाकाशं ज्ञेयमन्यत्र तद्गतम् ।

सगुणे निर्गुणे तुल्यगुणतेति पराहतम् ॥

दहराकाशस्य हि छान्दोग्ये उपास्यत्वम् । वाजसनेयके त्वाकाशाश्रितस्यात्मनो निर्गुणस्य ज्ञेयत्वम् 'असन्नो ह्ययम्' इत्युक्तवान्; अतो न गुणोपसंहार इति प्राप्ते, अभिधीयते—

दहराकाश आत्मैव हृदाकाशेऽपि वर्णितः ।

अन्तर्भावस्तुतिभ्यां स्यादुपसंहारवर्णनम् ॥

वाजसनेयके हि निर्गुणोऽप्यात्मा सगुणदशायां छान्दोग्ये उक्तेरायतनादिसाम्योपस्थापितैः मत्प्रकामादिभिः स्तूयते, स्तुतेर्दृष्टद्वारा कर्तुं शक्यत्वाच्च, एकत्र ध्येयत्वेन विहितानामप्यन्यत्र स्तुत्यर्थत्वाविरोधः । न च निराकाश्याणां स्तुत्येकत्वकल्पनानुपपत्तिः; आयतनादिसाम्योपस्थापितगुणैरेवाकाशक्षेत्र्यापनान् । न चाविहिते स्तुतिवैयर्थ्यम्; स्तुतिकृतादरेण न्युत्पन्नमित्यतिशयोपपत्तेः । वदित्वाद्यस्तु उत्पत्तावेव निर्गुणवान्तुस्तुत्यर्था इति सगुणेऽप्यायतनादिमाम्यनोपस्थापिताः स्तुतिमेव कुर्वन्ति नोपास्येरन्; उपास्यत्वस्यापूर्वत्वेन विध्ये-

काम्यत्वात् । स्तुतिरप्येषां न शब्दतस्तत्र नयनमपेक्षते, सत्य-
कामत्वादिसामर्थ्यादेव वशित्वादिसिद्धेः । न च विधिपदस-
मभिव्याहारमन्तरेण दूरस्थैः स्तुत्यसंभवः; विधिपदैकवाक्य-
तायां हि अर्थवादानामयं नियमः ॥

वाक्यैकवाक्यतायां हि प्रयाजाद्यङ्गवस्तुतिः ।

वाक्यान्तरगतप्यर्थसान्ध्याद्वाक्यान्तरं व्रजेत् ॥

केचित्तु वशित्वादेः प्रपञ्चोपाधिकस्य निर्गुणे वेद्यत्वानुप-
पत्तेः प्रशंसामात्रेण चरितार्थत्वानुपपत्तेः आयतनादिसाम्यकृ-
तसंनिध्युत्थापितेन सगुणब्रह्मण आकाङ्क्षामुत्थाप्य सगुणब्र-
ह्मणो वशित्वादिगुणानां चोपास्यत्वयोग्यानामेकवाक्यता;
एवं सत्यकामत्वादिना निर्गुणस्य ब्रह्मण आकाङ्क्षामुत्थाप्य
स्तुत्यस्तावकत्वयोग्यतया एकवाक्यतेति वदन्ति । प्रयोजनं
तु सत्यकामत्वादिभिः सगुणदशायां विद्यमानैर्निर्गुणब्रह्म-
ण्यविद्यमानैः पूर्वावस्थामपेक्ष्य निर्गुणस्य स्तुतिः, वशित्वा-
दिभिस्त्वन्वर्थात्वेन सगुणदशायां विद्यमानैः सगुणब्रह्मणः
स्तुतिः ॥

आदरादलोपः ॥ २६ ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रहृत्य श्रूयते— 'तद्यद्दत्तं प्रथम-
मागच्छेत्तद्वामीयं स यां प्रथमामाहुर्ति जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय
स्वहा' इत्यादि; तत्र पञ्च प्राणाहुतीः आवयित्वा तास्वप्निहो-

त्रशब्दः प्रयुक्तः— 'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' इति, 'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवं सर्वाणि भूतानि अग्निहोत्रमुपासते' इति च । तत्र संशयः— किं भोजनलोपे प्राणाग्निहोत्रस्यालोपः, उत लोप इति ; तदर्थं च किं भोजन-माश्रित्य प्राणाहुतिर्विधीयते, उत तत्रैव भक्तविधिरिति ; 'तद्व-द्रुक्तम्' इति भोजनार्थभक्तसंयोगात्, 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्री-यात्' इति भोजनकालादपकर्षाच्च । पूर्वत्रोपास्तिलोपेऽपि स्तु-त्यर्थत्वेन गुणालोप उक्तः ; तद्वदिहापि पूर्वोऽतिथिभ्य इत्यादि-स्तुत्युपपत्त्यर्थं भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रालोप इत्यवान्तरसं-गतिः । चिन्ताया उपास्तिगोचरत्वाभावेऽपि वैश्रानरविद्यासं-न्धिप्राणहुतिविषयत्वादास्ति परंपरया पादसंगतिः ॥

आहुतेरन्यकालत्वाच्च भुज्यर्थान्नभिष्टता ।

नाप्येकदेशद्रव्यत्वमत एधानपेक्षणात् ॥

'सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते' इत्यतिथीनां प्राणाग्नि-होत्रमुक्तम्, तस्मानिधौ 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्रीयात्' इत्यशनमु-च्यमानं प्राणाग्निहोत्रमेव स्वामिभोजनं चातिथिभोजनात्प-ग्स्ताद्विहितम्, एवं च स्वामिभोजनादन्यकालीनस्य स्वामि-प्राणाग्निहोत्रस्य न भोजनप्रयुक्तभक्तोपजीवित्वेनाप्रयोजक-त्वम् ; किं तु भोजनाभावेऽपि भक्तं प्रयुञ्जीत ; 'तद्वद्रुक्तम्' इति तु वाक्यं फौण्डपायिनामयनवदग्निहोत्रनाम्ना मुख्याग्निहोत्रध-र्मस्य पयआदेः प्राप्तौ भक्तद्रव्यताविधानार्थम् ; विहिते च

भक्ते 'प्रथममागच्छेत्' इति भोजनार्थभक्तकीर्तनं तावत्संशो-
ऽनुवादः । तन्नियामकभोजनाभावेऽपि प्राणाग्निहोत्रविधेर्द-
र्शितत्वान् । एतेन 'उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति' इतिवद-
न्यार्थद्रव्यैकदेशाश्रितत्वात्प्रयोजकत्वं निरस्तम् । उत्तरार्धं हि
प्रयोजकपुरोद्वाशज्ञानादृते न शक्यं ज्ञातुमिति न स्विष्टकृतप्र-
युक्तम्; भक्तं तु प्राणाहुत्यङ्गं विनापि भोजनज्ञानेन वर्णितेन
मार्गेण शक्यं ज्ञातुमित्येवं प्राप्ते, अभिधीयते—

तच्छब्दः प्रकृतापेक्षो भुश्यर्थाग्रं परामृशत् ।

अग्निहोत्रपदं त्वर्थवादस्य नातिदेशकम् ॥

'तद्धोमीयम्' इत्यत्र तच्छब्दस्य 'तद्यद्भक्तम्' इति प्रकृतभो-
जनार्थभक्तमादायैवामिधानपर्यवसानात्सापेक्षत्वम्; अतश्चोत्त-
रार्धवदप्रयोजिका प्राणाहुतिः, न भोजनाभावे भक्तागमनं प्र-
योजितुमर्हति । यत् अग्निहोत्रशब्दात्पयजादिप्राप्तौ तद्वाभ्या भ-
क्तद्रव्यविधायकम् 'तद्यद्भक्तम्' इति वाक्यं न भोजनार्थभ-
क्तानुवादकमिति; तत्र; कौण्डपायिनामयने हि विध्युद्देशग-
ताग्निहोत्रशब्दो गौणः साध्यसादयं विदधत् धर्मान्प्रापयेत्,
अयं त्वर्थवादगतः सिद्धं किञ्चित्सादृश्यमनूय स्तुत्यर्थस्तद्भक्त-
वं न विदधीत् । यत् अग्निहोत्रस्य कालान्तरे विधानान् न
भोजनार्थभक्तमात्राश्रितत्वमिति; तदुच्यते—भशनं तत् ना-
ग्निहोत्रम्; अतिष्यग्निहोत्रसमभिव्याहारात्स्वामिहोत्रतां परि-
कल्प्य भोजनकालादपकर्षस्तच्छब्दश्रुतिविरुद्ध इति ॥

तन्निर्धारणानियमस्तदृष्टेः पृथग्ध्य-
प्रतिबन्धः फलम् ॥ २७ ॥

‘ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत’ इत्यादीनि कर्माङ्गाश्रितोपासनानि नित्यान्यनित्यानि वेति संशयः; अङ्गाश्रितेषु पर्णमयतादिषु नित्यत्वदर्शनात्, गोदोहनादिष्वनित्यत्वदर्शनाच्च । पूर्वज्ञानित्यभोजनाश्रितप्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्वमुक्तम्, एवं चेन्नित्याङ्गोपाश्रितोपास्तीनां नित्यत्वम् ॥

अप्रक्रियागतत्वे सत्यङ्गनिष्ठत्वतो मतिः ।

नित्योद्गीथादिगा पर्णमयतादि यथा तथा ॥

उद्गीथाद्युपासनं नित्यम्, क्रतुप्रकरणानाश्रितत्वे सति क्रत्वङ्गाश्रितत्वात्; गोदोहनादिव्यावृत्त्यर्थं प्रकरणानाश्रितत्वप्रदणम्; हिरण्यभरणादिनिवृत्त्यर्थं क्रत्वङ्गाश्रितत्वविशेषणम् । न च फलबन्धादनित्यत्वम्; ‘आपयिता ह वै कामानां भवति’ इत्यादेर्वर्तमानापदेशस्य परार्थगतत्वेन सन्नबद्धिपरिणामायोगादिति प्राप्ते, अभिधीयते—

पर्णता न फलायालं सिद्धा क्रत्वन्वयाद्भिना ।

उपास्तिस्तु क्रियाङ्गानां फलवाक्याद्विधीयते ॥

सिद्धरूपा पर्णमयता न क्रियामनाश्रित्य फलं साधयति ।
न चास्ति तस्यां प्रकृताः काश्चित्क्रियाः, अनारभ्याधीत-

त्वात् । तत्र वाक्येनान्यभिचरितक्रतुसंबद्धजुहूद्वारा क्रतुसंबन्धज्ञापनात् । तथा च तत्र तात्पर्येवद्वाक्यं न फलसंबन्धमपि बोधयति, वाक्यभेदप्रसङ्गात् । उपासनानां तु क्रियात्मत्वादेव फलसंबन्धोपपत्तेः ; अतोऽह्निविशिष्टानां फले विधानमविरुद्धम् ॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ २८ ॥

‘वायुर्वायु संवर्गः’ इत्यग्न्यादीनां वायुः संहर्ता अधिदेवसमवधारितः, अध्यात्मं च वागादीनां प्राणः ; तत्र संशयः— वायुप्राणौ भेदेनोपास्येते, उताभेदेनेति ; ‘यः प्राणः स वायुः’ इत्यभेदव्यपदेशात्, अध्यात्माधिदेवतविभागोपदेशाच्च । पूर्वत्र फलभेदात्कर्माङ्गानां तद्विद्योपासनानां च नित्यानित्यरूपप्रयोगभेद उक्तः ; इह तु वायुप्राणयोस्तत्त्वाभेदात् तत्प्रसङ्गिच्छणफलक्याश्चोपासनाप्रवोगैक्यम् ॥

उत्पन्नशिष्टधर्माणां भेदाद्धर्मि न भिद्यते ।

अग्निहोत्रवदित्यैक्यं प्रयोगस्य प्रतीयते ॥

‘अन्नवानप्रादो भवति च एवं वेद’ इत्युत्पन्ने उपासनेऽध्यात्माधिदेवविभागोऽवगतः नोपासनां भिन्नत्वि, अग्निहोत्रेभिश्च दधितण्डुलादीति प्राप्ते, अभिधीयते—

अभेदेऽप्यग्निहोत्रस्य प्रयोगः सायमादिकः ।

भिन्न एवमुपास्तेरप्यधिदेवादिभेदतः ॥

उत्पन्नशिष्टो धर्मभेदो विद्यां सा भिन्नत्तु, प्रयोगं तु भि-

नन्ति ; प्राणवाय्वोरध्यात्माधिदैवसंबर्गविशेषणविशिष्टयोरि-
तरंतरावैशिष्ट्येन प्रयोगभेदेन ध्येयत्वात् ; अग्निहोत्रस्येवेतरे-
तरानन्तभूतसायंप्रातरवच्छेदेन प्रयोगभेद इति ॥

लिङ्गानूपस्त्वात्सद्धि वलीयस्तदपि ॥ २९ ॥

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये 'तद्वैतन्मन एवासीत्' इति मनः
प्रक्रम्यार्थायते— 'तत्पद्त्रिंशत् सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नी-
नर्कान्मनोमयान्मनश्चितः' इत्यादि, तथा, 'वाक्चितः प्राण-
चितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचितः' इति पृथगग्नी-
नामनन्ति, कर्मेति शरीरमुच्यते, अग्निरिति जाठरः । तत्र
पुरुषायुषस्य शतसंवत्सरस्य पद्त्रिंशत्सहस्राण्यहोरात्राणि भव-
न्ति, तत्रैकैकाहोरात्रावच्छिन्नमनोवृत्तिष्विष्टकालं संपाद्य ता-
भिः संपादितेष्टकाभिश्चीयमानोऽग्निः संपद्यते ; एवं 'वाक्'
इत्यादिष्वपि योज्यम् । एतेऽग्नयः किमिष्टकाचितेनाग्निना
विकल्प्यमानाः कल्पार्थाः, उत पुरुषार्था इति संशयः ; प्रकर-
णान्, लिङ्गाच्च । प्रकरणस्यापि लिङ्गेन स्पर्धा पूर्वपक्षे वक्ष्यामः ।
यन्नवैपम्येऽपि विकल्पः कल्प्यते षोडशप्रहणाप्रहणवत्, यन्ना-
धिक्ये तु फलाधिक्यम् । पूर्वत्रैकप्रयोगासंभवाद्वायुप्राणौ
भेदेन ध्येयावित्युक्तम्, इह तु मनश्चिदादीनां कर्माद्भवेनैक-
प्रयोगत्वमाशङ्कते ॥

अतत्परोऽर्धवादोऽन्यमानप्राप्तिमपेक्षते ।

एवकारश्रुतिर्ब्राह्मसाधनत्वनिवारिणी ॥

प्रकरणं तावन्मनश्चिदादीनां कर्माङ्गत्वं गमयति । न च 'तान्द्वैतानेवसिद्धे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति कर्मप्रयोगादन्यथापि मनश्चिदादीनां सद्भावलिङ्गात् 'विद्यया द्वैतेन एषांविदश्चिता भवन्ति' इति पुरुषसंबन्धेन तच्छेषत्वप्रतिपादकवाक्यात् 'ते ह्येते विद्याचित एव' इति क्रियाङ्गत्वाद्यावर्तकैवकारश्रुत्या च प्रकरणयाध इति वाच्यम्; यतो द्विविधं लिङ्गम्— सामर्थ्यम्, अन्यार्थदर्शनं च; सामर्थ्यमपि द्विविधम्— शब्दगतम्, अर्थगतं च; शब्दगतं तावत् यथा पूषानुमन्नगमन्नागम्, अर्थगतं च यथा 'पशुना यजेत' इत्यत्रैकत्वसंख्याया अर्थस्य संख्येयावच्छेदसामर्थ्यम् । न चाथ द्विविधमप्यस्ति; अन्यार्थदर्शनं तु विधिस्तुत्यर्थतया विधिपरत्वात् स्वतन्त्र्येणाग्नीनां स्वातन्त्र्यं गमयति; प्रमाणप्राप्तं तूपोद्धृत्यति । न चात्र प्रमाणान्तरम्; एतेन वाक्यमपि प्रयुक्तम्; तस्याप्यन्यार्थदर्शनरूपत्वात् । श्रुतिस्तु बाह्यसाधनत्रयवच्छेदार्था । तस्मादप्रत्युहं प्रकरणं मनश्चिदादीनां क्रियाक्षेपत्वं गमयतीति प्राप्ते, अभिधीयते—

स्वातन्त्र्यगोचरादर्थवादात्कल्प्यो विधिर्वदेत् ।

स्वातन्त्र्यं बाह्यसाध्यत्वं विद्यात्वादेन वारितम् ॥

. ये हि श्रुतिविधिना एकवाक्यत्वं गता अर्थवादाः, न तन्ना-
न्यार्थदर्शनानां प्रापकत्वम्; अत्र त्वपूर्वार्थगोचरेभ्योऽर्थवा-
देभ्यो विधिः कल्पनीयः । तथा च तेभ्यो यादसोऽर्थः प्रती-

यते तद्विषय एव स भवति । प्रतीयते च तेषु वर्णितेन प्रकारेण स्वातन्त्र्यम् । न चैवकारो बाह्यसाधनत्वव्यावृत्त्यर्थः; विद्याशब्दादेव तत्सिद्धे । तस्माद्विद्यात्वेऽपि मानसग्रहवत्क्रियाङ्गत्वप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमवधारणम् ॥

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ३० ॥

देह आत्मा न वेति संशयः, अहं मनुष्य इत्यपरोक्षप्रत्ययान्, मृतौ, सत्यपि देहे चैतन्यानुपलम्भाच्च । देहव्यतिरिक्तात्मनो निरूपणं समस्तशास्त्रेण संगतम्, तमन्तरेण स्वर्गमोक्षयोरसंभवादिति प्रदर्शनार्थं विधेयोपासनाविचारपरे पादे क्रियते । पूर्वत्र मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वमुक्तम्, तदयुक्तम्; देहव्यतिरिक्तस्य तत्फलभोक्तुरभावात् ॥

तनुरात्मा मनुष्योऽहमिति प्रत्यक्षदर्शनात् ।

देहधर्मैरहंकारसामानाधिकरण्यतः ॥

स्थूलोऽहमित्यादि देहधर्मैः स्थौल्यादिभिः सामानाधिकरण्यं देहस्यात्मत्वं गमयति; तथात्मधर्मैर्ज्ञानादिभिरपि देहस्य तादात्म्यमनुभूयते— अहं मनुष्यो जानामीत्येवमादिषु । न चात्माश्रयादेहस्यात्मधर्मसामानाधिकरण्यम्, दृष्याधारस्य कुम्भस्यापि दधिधर्ममधुरादिभिः सितं मधुरं कुण्डमिति सामानाधिकरण्यप्रमद्धान् । न च देहोऽनात्मा, भूतत्वात्, घटवदित्यनुमानमुचितम्; अहं मनुष्य इति प्रत्यक्षविरोधान्,

अदेहत्वेन सोपाधिकत्वाच्च । बाधितविषये पक्षेतरस्वस्याप्युपा-
धित्वमधिकद्वम् । न च बाध्यं व्यस्तेषु भूतेषु चैतन्यानुपल-
म्भाद्बहिःसमे लोहे वायुसमाभ्माते सलिलकणाभ्युक्षिते च च-
तुर्णां भूतानां मेलनेऽपि चैतन्यानुपलम्भात्, तद्देहस्यापि
न चैतन्यमिति अनुकूलतर्कोपबृंहितादनुमानात्पक्षे साध्यप्र-
मितौ अदेहत्वं तत्रैव साध्याभ्यापकमिति ; अस्य प्रतिबन्धा
प्रतिषेधेण प्रतिरोधेन मिथो विरोधित्वात् । यदि प्रत्येकं
मिलितेषु च भूतेषु चैतन्यानुपलम्भेन देहाकारपरिणते-
ष्वपि चैतन्यं निराक्रियेत, ततः क्षिप्वादीनामपि एकैकस्य
मिलितस्य वा मदयितृत्वमदृष्टमिति मदिराकारपरिणतेष्वपि
तेषु मदयितृत्वं नोपलभ्येत ; दर्शनप्रलान्तत्र तदनाक्षेपः प्रकृते-
ऽपि समः । अङ्गीकृत्य चानुमानप्राप्तयं प्रस्तुतानुमाने दूष-
णशुक्तम्, न त्वनुमानं मानम् । उक्तं हि—

देशकालादिरूपाणां भेदाद्भिज्ञानु शक्तिषु ।

भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरपि दुर्लभा ॥

इति । देशकालादिरूपाणां भेदेन वस्तुशक्तीनां भेदान् ;
व्याप्तिग्रहणदेशादावग्नेर्धूमजननशक्तिरासीत्, अनुमितिसर्वदे-
शादौ तु सा नास्तीति शङ्कया धूमजनकत्वाभवस्यापि संभवेन
धूमस्याग्नेरव्यभिचारशङ्कोत्थानादादेत्यर्थः । एवं प्राप्ते, अभि-
धीयते—

अथावदेहभावित्वात्तद्विशेषगुणा चितिः ।

न भवेदीक्षित्वाच्च पुरुषान्तरचिदथा ॥

देवदत्तचैतन्यं न देवदत्तविशेषगुणः, अयावदेवदत्तदेहभा-
 वित्वात्, तद्रूपत्वाच्च, यज्ञदत्तचैतन्यवत्; संयोगादिषु व्य-
 भिचारवारणाय प्रतिज्ञायां विशेषग्रहणम् । चैतन्यं च यदि
 गुणः, तर्हि विशेषगुण एव स्यात्; द्वीन्द्रियप्राद्यगुणत्वे सत्य-
 परोक्षत्वात्; स्वाश्रयस्याष्टद्रव्येभ्यो व्यावर्तकसामान्यवत्त्वाद्वा,
 गन्धवत् । न च चैतन्यं देहगुणः, देहभावभावित्वात् तद्रूप-
 वत्— इति युक्तम्; देहारम्भकभूतेष्वनैकान्त्यात् । न च
 देहाभावेऽभावित्वं हेतुः, सदिग्धत्वान्; देहाभावेऽपि हि चै-
 तन्यं देहान्तरे संघ्नरिष्यति, कुतोऽस्य नास्तित्वनिश्चयः । अपि
 च परिणामविशेषान्तर्भूतधर्मत्वे चैतन्यस्य प्रतिमदिरावयवम-
 नुवर्तमानमदशक्तिवत् प्रतिदेहाश्रयवमनुवृत्त्यापातः, ततश्चैक-
 म्भिन्देहे वदन् चेतनाः स्युः, तेषां चानेकमत्ता विकृद्धदिकृकि-
 र्चं शरीरसुन्मध्येत अश्रियं वा प्रमज्येत; एवं च मदनक्तिप्र-
 तिबन्धा विशेषादाभामत्वे मत्यप्रतिबन्धात् ममसत्यस्ताधि-
 कल्पप्रभवतर्केण साध्यनिश्चयाद्देहत्वस्य साध्याव्याप्तेरनुपा-
 धित्वान् भूतत्वादपि देहस्यानात्मत्वम्; एवं च अहं मनुष्यो
 जानामीत्यादयः प्रतीतिव्यवहाराः भ्रान्ताः । अनुमानाप्रामा-
 ण्यं तु न प्रत्यक्षम्, धूमादीनामिन्द्रियगोचिकर्षेऽपि मदनप्रामा-
 ण्यानिश्चयान्; वस्तुनक्तिभेदाद्व्यभिचारानुमानाप्रामाण्योक्ति-
 र्याहन्त्येव ॥

अद्वापयद्वास्तु न जाग्वारु हि प्रतिवेदम् ॥

प्रामाद्विज्ञो विज्ञो परिममाप्य प्रस्तुतामेव गुणोपभंदार-

धित्वां विद्महे । 'ओमित्येतदक्षरमुट्ठीयमुपानीत' इत्यादयः
 प्रत्ययाः प्राणादिविषयाः प्रतिशतस्य स्वरादिभेदभिन्नान्युट्ठीयाद्य-
 दान्याधिन्य विधीयन्ते ; तेषु मंगलयः—किं यस्मिन्वेदे ये उट्ठी-
 यादयो विहिताः तेषामेव तद्वेदविहिताः प्रत्ययाः, उतान्यवेद-
 विहितानामपि उट्ठीयानामिति ; उट्ठीयादिधुतेर्षलीयस्यात्प्रत्य-
 यसाधेशिकत्वप्रतीतिः, मामान्यविशेषत्वेन तस्याः प्राकरणात्क-
 विशेषाकाङ्क्षत्वात् । पूर्वत्र प्ररीरात्मनोर्भेदात्प्रत्ययसंज्ञासं-
 भवः प्ररीरे इत्युक्तम् ; एवमेकशाग्यागतोऽट्ठीयादिधर्माणां प्रा-
 णादिदृष्टानां न तद्विषयान्तराद्योऽट्ठीयेषु प्राप्तिरिति प्राप्त-
 क्रिकानन्तराधिकरणेन मंगतिः ; व्यवहितेनाप्युच्यते— 'वि-
 याधित एव' इत्येवकारधृत्या मनश्चिदादीनां क्रियाप्रकर्षणं
 ममम् ; इदं तूट्ठीयादिनामान्यक्षुभेः प्रकरणेऽपनीतरिशोपाका-
 हत्वेन तदथाधकत्वादुपानीनां व्यवस्थाविशेषाकाङ्क्षायां स्व-
 शाग्यागतस्य विशेषस्य संनिधानात्तर्गैवाकाङ्क्षानिवृत्तेर्न प्रा-
 णान्तरीयोऽट्ठीयान्तरापेक्षा । न चैवं संनिधानात्कृतेर्थापः ;
 भुक्तमिहितलक्षितजाविद्यकत्वोरथापाञ्छाखान्तरीयाह्वोकारे-
 ऽपि । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

ज्ञानेः क्रियान्वयायोगात्प्रकिल्लक्ष्या भतिः पुनः ।

आनिमात्रेऽपि शक्येति न ह्यक्षिरिह लक्षयते ॥

युक्तं पटमानयेत्युक्ते पटसामान्यस्थानवनायोगात्पटश्रुतेर-
 विशेषप्रवृत्ताया अपि व्यवसायोपकत्वम् ; आक्षिप्यमाणा च
 व्यक्तिः पटं लुप्तमानयेत्यादिप्रयोगेषु संनिहितैः शुक्लादिशब्दैः

देवदत्तचैतन्यं न देवदत्तविशेषगुणः, अयावदेवदत्तदेहमा-
वित्त्वान्, तद्द्रष्टृत्वाच्च, यद्देवदत्तचैतन्यवत्; संयोगादिषु व्य-
भिचारवारणाय प्रतिज्ञायां विशेषग्रहणम् । चैतन्यं च यदि
गुणः, तर्हि विशेषगुण एव ह्यान्; द्वीन्द्रियप्राद्यगुणत्वे सत्य-
परोक्षत्वात्; स्वाश्रयस्याष्टद्रव्येभ्यो व्यावर्तकतामान्यवत्त्वाद्वा,
गन्धवत् । न च चैतन्यं देहगुणः, देहभावभावित्वात् तद्रूप-
वत्— इति युक्तम्; देहारम्भकभूतेष्वनैकान्त्यान् । न च
देहाभावेऽभावित्व हेतुः, संदिग्धत्वात्; देहाभावेऽपि हि च
तन्यं देहान्तरे संनिरिप्यति, कुतोऽस्य नास्तित्वनिश्चयः । अपि
च परिणामविशेषान्तर्भूतधर्मत्वे चैतन्यस्य प्रतिमदिरावषण्ण-
नुवर्तमानमदशक्तिवत् प्रतिदेहावयवमनुवृत्त्यापातः, ततश्चक-
स्मिन्देहे यद्देव चेतनाः स्युः, तेषां चानेकमन्या विकृद्दिक्कि-
र्यं शरीरमुन्नभ्येत अक्रिय वा प्रसज्येत; एवं च मदशक्तिप्र-
तिपन्त्या विशेषपादाभामत्वे मत्प्रतिवन्धान् ममस्तव्यस्तवि-
कल्पप्रभवतर्केण साध्यनिश्चयाद्देहत्वस्य साध्याख्याप्रैरनुपा-
धित्वान् भूतत्वादिषु देहस्यानात्मत्वम्; एवं च अहं मनुष्यो
जानामीत्यादयः प्रतीतिर्यवहाराः भ्रान्ताः । अनुमानाप्रामा-
ण्यं तु न प्रत्यक्षम्, भूमार्दीनामिन्द्रियमनिकर्षेऽपि तदप्रामा-
ण्यानिश्चयान्; यन्मुशक्तिभेदाद्व्यभिचारानुमानाप्रामाण्योक्ति-
र्यादन्येन ॥

अह्नायपद्मान्तु न जाग्यास्तु हि प्रतिचेदम् ॥

शर्मद्वर्ती चित्ता परिममाय प्रमनुतामेव गुणोपभंहार-

पिन्तां विदध्महे । 'ओमित्येतदक्षरगुह्रीधमुपासीत' इत्यादयः प्रत्ययाः प्राणादिविषयाः प्रतिशास्त्रं स्वरादिभेदभिन्नान्युह्रीशाद्यज्ञान्याश्रित्य विधीयन्ते ; तेषु संशयः—किं यस्मिन्वेदे ये उह्रीशादयो विहिताः तेषामेव तद्वेदविहिताः प्रत्ययाः, उतान्यवेदविहितानामपि उह्रीधानामिति ; उह्रीथादिश्रुतेर्बलोयस्त्वात्प्रत्ययमार्थत्रिकत्वप्रतीतिः, सामान्यविशेषत्वेन तस्याः प्राकरणिकविशेषाकाङ्क्षत्वाच्च । पूर्वत्र शरीरात्मनोर्भेदादात्मधर्माणामसंभवः शरीरे इत्युक्तम् ; एवमेकशास्त्रगतोह्रीथादिधर्माणां प्राणादिदृष्टीनां न तद्विन्नशास्त्रान्तरीयोह्रीथेषु प्राप्तिरिति प्राप्तिकानन्तराधिकरणेन संगतिः ; व्यवहितेनाप्युच्यते—'विवाचित एव' इत्येवकारश्रुत्या ननञ्चिदादीनां क्रियाप्रकरणभङ्गम् ; इह तूह्रीथादिसामान्यश्रुतेः प्रकरणोपनीतविशेषाकाङ्क्षत्वेन तदव्याधकत्वादुपासीनां व्यवस्थाविशेषाकाङ्क्षायां स्वशास्त्रगतस्य विशेषस्य संनिधानात्तेनैवाकाङ्क्षानिवृत्तेन शास्त्रान्तरीयोह्रीथान्तरापेक्षा । न चैवं संनिधानाच्छ्रुतेर्वाधः ; श्रुत्यभिहितलक्षितजातिव्यक्त्योरव्याधाच्छास्त्रान्तरीयास्वीकारेऽपि । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

जातेः क्रियान्वयायोगाद्यक्तिर्लक्ष्या मतिः पुनः ।

जातिमात्रेऽपि शक्येति न व्यक्तिरिह लक्ष्यते ॥

युक्तं पटमानयेत्युक्ते पटसामान्यस्यानपनायोगात्पटश्रुतेरविशेषप्रवृत्ताया अपि व्यक्त्याक्षेपकत्वम् ; आक्षिप्यमाणा च व्यक्तिः पट शुद्धमानयेत्यादिप्रयोगेषु संनिहितैः शुद्धादिशब्दैः

ममर्प्यते; केवलप्रयोगेऽपि या काचिदानीयते । इह तूद्गीया-
दिशब्दोपात्तवसत्सामान्याश्रयाः प्राणादिदृष्टयः शक्यन्ते क-
र्तुमिति, न संनिधानाच्छक्तिसंकौचौ युक्तः; सामान्यद्वारेण
सर्वविशेषगामिन्याः श्रुतेरेकस्मिन्नवस्थापनं पीडैव । तस्मात्स-
र्वोद्गीयादिविषयाः प्रत्यया इति ॥

मूत्रः ऋतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरस्य व्यस्तस्य ममस्तस्य चोपासनं श्रूय-
ते; व्यस्तोपासनं तावन्— 'श्रौषमन्यव कं त्वमात्मानमुपा-
स्य इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आ-
त्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्मे अत्यश्रं पश्यसि प्रियम्'
इत्यादि; तथा समस्तोपासनमपि— 'तस्य ह या एतस्यास्मि-
नां वैश्वानरस्य मूर्ध्व सुतेजाः' इत्यादि, 'यस्त्वेतमेवं प्रादेश-
माश्रमभिधिमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु
भूतेषु सर्वेष्व्यात्मस्वप्नमति' इत्यन्तम् । तत्र मंशयः—
किमिह व्यस्तस्य ममस्तस्य चोपासनं विषयम्, उत ममस्त-
स्यैवेति; उभयस्याप्यभ्यासतत्त्वगतान्, व्यस्तोपासने निन्दाश-
यणात् । 'नैव हि मन्यादयः' इत्यत्र 'तद्यत्तत्त्वम्' इति त-
च्छब्देन प्रकृतपरामर्शाद्वैक्यमुक्तम्; अत्र तद्वदभेदइत्यभा-
यादगमार्थत्वम् । पूर्वप्रोद्गीयादिभ्युत्था संनिधि पाधित्योद्गीयागु-
पाम्नीनां सर्वगाम्यामूपसंहार उक्तः; एवमत्रापि व्यस्तोपास-
नस्य विधिभूतेः फलभूतेश्च ममर्त्तोपासनसंनिधानप्राप्त्यनुत्प-

र्थत्वं वाधित्वा विधेयत्वम् ॥

प्रत्युपासनमाग्नानादाख्यातस्य फलस्य च ।

विधिवत्प्रत्यविशेषाच्च व्यस्तोपास्तिश्च शिष्यते ॥

आख्यातविभक्तिकले विषयोदाहरणावसरे संदर्शिते ।
ननु समस्तौ व्यस्तानामन्तर्भावादाख्यातानामेकदेशानुवाद-
त्वम्, फलभ्रतानां चैकदेशप्रशंसाद्वारेणावयविस्तुत्यर्थत्वमिति ।
तत्र; भवेदतदेषं यदि समस्तोपास्तौ विधिः श्रूयत; अस्य
पुनरुभयत्रापि वर्तमानापदेशस्य विधिकल्पनायाश्चाविशेषात् ।
एवं कामशब्दाभावेन फलकल्पनायाश्च तुल्यत्वात्सर्वत्र विधिः ;
एवं च निन्दा व्यस्तोपासनं प्रकम्य तत्परित्यज्य समस्तो-
पास्तिकरणे द्रष्टव्या । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

उपक्रमोपसंहारौ समस्तोपास्तिगोचरौ ।

प्रधानस्तुतये तस्मादङ्गेषु फलकीर्तनम् ॥

व्यस्तोपासनाधिगतानामप्यौपमन्यधादीनां समस्तोपास्त्य-
धिजिगमिषया कैकेयराजाभ्यागम उपक्रमे च गम्यते; वाक्य-
मध्ये च कैकेयस्तत्तदुपासननिन्दया समस्तोपास्तिमुपसंज्ञहार
'तस्य ह वै' इत्यादिना । तथा चैकवाक्यत्वव्य वाक्यभेदप-
रिहाराय च वाक्यस्य समस्तोपास्तिपरत्वम्; तस्मादङ्गेषु
फलकीर्तनं प्रधानस्वभावाय ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ३३ ॥

सिद्धं कृत्वा विद्याभेदं गुणोपसंहारादि चिन्तितम् । इदानीमधिगतासु विद्यासु तद्भेदश्चिन्त्यते । दहरादिब्रह्मविद्याः न भिद्यन्ते, चत भिद्यन्त इति संशयः; उपास्यब्रह्मैक्यात्, तत्तद्गुणानां फलानां च भेदाच्च । पूर्वत्र सत्यामपि सुतेजस्वादिगुणविशिष्टद्युलोकादिवैश्वानरोपासनानां गुणफलभेदश्रुतौ उपास्यैक्यमुक्तम्, तद्वदन्यासामपि ब्रह्मोपास्तीनामैक्यं स्यात् ।

गुणभेदेऽप्यभेदेन ब्रह्मणस्तदुपासना ।

अनुबन्धाविभागेन सर्वत्रैकैव गम्यते ॥

युक्तं. कार्यरूपाणामपूर्वोत्पादकभावतानामनुबन्धभूतसाध्यस्यभावधात्वर्थभेदाद्भेदः, तदनुरक्तानामेव तामां प्रतीतेः । इह तु ब्रह्मणमनङ्गणानां च सिद्धरूपत्वादभेदः । न हि विशालप्रश्नाश्चकोरेक्षणः शत्रिययुवा एकत्रोपदिष्टः स एवान्यत्र सिद्धास्यो वृषभ्कन्ध उपदिश्यमानश्चकोरेक्षणत्वादि परित्यजति; अनुष्ठानं हि पुरुषार्थानामलाभमनुबन्धभेदे भेत्तुमर्हति, न सिद्धम्; तस्य पुंश्रयत्रात्पूर्वमेव सिद्धेः । माध्याप्युपासिर्मनीश्रुत्याश्रुतित्वादकैव; सा च गुणभेदेऽप्यभिन्नैव, अग्निहोत्रमिव दध्यादिभेदे । एवं प्राप्तं, अभिधीयते—

सिद्धेऽपि वस्तुनि म्नुन्या तदुपासा विधीयते ।

तस्याः पुरुषतत्त्वाङ्गणभेदेन भिन्नता ॥

यद्यप्युपासनभावेना उपासनार्थाननिरूपणा, उपासनं योपास्यार्थाननिरूपणम्, उपास्यं येश्वरादि व्ययमित्यरूपम्,

भेद उक्त एव, प्रकरणान्तरं तु विद्यासु स्फुटमेव । तथा फलं च— ' सर्वेष्वन्नमत्ति ' इत्यादि संनिधौ श्रुतमुपास्ति भिनत्ति ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ३४ ॥

विद्याभेदचिन्तानन्तरमहंप्रहप्रतीकाङ्गावबद्धोपास्तीनामनुष्ठानप्रकारोऽधिकरणत्रयेण निरूप्यते । अहंप्रहोपास्तीनां विकल्पेन समुच्चयेन वानुष्ठानम् इत्यनियमः, उत विकल्पेनैवेति नियमः— इति संशयः ; समानफलयोः काम्यदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमयोर्थाथाकाम्यवत् एकमङ्गलोकप्राप्तिफलानामुपास्तीनां याथाकाम्यसंभवात्, एकफलानां व्रीहियथादीनां विकल्पनियमदर्शनाच्च । समुच्चयनियमस्तूपास्तीनां नाशङ्कनीयः, पृथगाधिकारत्वान् ; यस्त्वप्रिहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमः, स नित्यत्वकृतः ; उपासनास्तु काम्या इति । पूर्वत्र शब्दान्तरादिप्रमाणादुपास्तीनां भेद उक्तः, तद्वदिह विकल्पसमुच्चयनियमप्रमाणाभावाथाकाम्यम् ॥

समुच्चये विकल्पे वा मानाभावादुपास्तिषु ।

यथाकामं प्रयोगः स्यात्फलभूम्ने समुच्चयः ॥

मन्यप्येकफलत्वे, कदाचिदुपास्तीनां समुच्चयः फलभूमाधिः उपपद्यते । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

लभ्येत विद्याफलमत्र माक्षा-

लृतेः कृतिः सा च न भिन्नरूपा ।

भिक्षासु विद्यासु विपक्षबुद्धे-

नैकाप्रता तेन विकल्प एव ॥

‘यस्य स्वादद्धा न विचिकित्सान्नि’ इति, ‘देवो भूत्वा देवानप्यंति’ इति चोपासनाफलविशेषाणां प्राप्तिः उपास्यसाक्षात्कारसाध्या अवगम्यते; साक्षात्कारे च न विशेषः, एकेन चोपास्येश्वरादौ साक्षात्कृते उपासनान्वरमनर्थकम् । न च फलमूला प्रयोजनम्; नानोपासनकरणे सति कलहेन चिकित्सायव्याघाताद्दुपाम्यसाक्षात्करणानुत्पत्तौ कस्यापि फलस्यालम्बे तद्भ्रमो दूरनिरासात्; तस्याद्विकल्प एवेति ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा

पूर्वहेत्वभावात् ॥ ३५ ॥

‘सन्नो ब्रह्मेत्युपासीत’ इत्यादीनि प्रतीकोपासनानि नियमेन विकल्पेरेव, यथाकामं वानुष्ठीयेरन्निति संशयः; अहंप्रदोपास्तिषु विकल्पनियमवर्शनात्, नानाफलेषु दर्शपूर्णमासलौकित्येमादिषु यथाकाम्यदर्शनाच्च । पूर्वब्राह्मप्रदोपास्तीनासुपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तत्वाद्विकल्पनियम इत्युक्तम्, तद्वत्प्रतीकोपास्तीनामपि तत्पर्यन्तत्वाद्विकल्पः ॥

अद्वोपास्यविरिकल्पे ब्रह्मोपास्तिहेतुतः ।

प्रतीकर्षाद्विकल्पेन यथाहंप्रह्वचिन्तनम् ॥

न चोपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तत्वमुपाधिः; साधनव्यापक-

त्वान् । 'देवो भूत्वा देवानप्यति' इति वाक्यस्य 'वाग्वै ब्रह्म' इत्यादिप्रतीकोपास्तिसंनिधिर्मन्नात्त्वेन प्रतीकोपास्तिष्वपि साक्षात्कारवत्त्वसिद्धिः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

साक्षात्कारानपेक्षत्वं सति भिन्नफलत्वतः ।

याथाकाम्यं प्रतीकेषु दर्शसोमादियागवत् ॥

प्रतीकोपास्तया यथाकाम्यमनुष्ठेयाः, उपास्यसाक्षात्कारनि-
रपेक्षत्वे सति भिन्नफलत्वान्, दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमवत्; अ-
हंघटोपास्तिषु ज्यभिचारनिवारणायाद्यं विशेषणम्, घ्रीहिय-
थादिषु तद्धारणाय द्वितीयम् । न च विशेषणासिद्धिः; 'वा-
ग्वै ब्रह्म' इत्यत्रापि वागादिषु ब्रह्मदृष्टिमात्रं विधित्सितम् ।
यतः 'वाग्वै ब्रह्म' इत्युपक्रम्य, 'वाग्वैवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा
प्रमेत्येनमुपामीत' इति हि वाक्यदोषे ममामनन्ति । तत्र
वाग्भिमानिनी देवता यागित्युच्यते, आयतनमित्यनुपाहार-
णनिर्देशः; अर्थाद्भूलोकं निर्दिष्टम्, आकाशमित्यव्याकृतम्,
तत्तमर्वमेकीकृत्याहमित्युपास्यम्, अपरिच्छिन्नोपासने सर्वोदहं-
प्रहः सिद्धः । तदाहुरप्रभवन्तो वार्तिककाराः—

विराद्गृहीतिरस स्यात्माधारकरणग्रहान् ।

तथा देवतया सूत्रं नियन्तापि च यद्विरा ॥

वाग्नाशमिलं विश्वं देवतायपि भक्ष्यते ।

यतो वागाशुपास्यं तत्सम्मात्मवै त्रिवक्षितम् ॥

इति । तस्मादत्र 'देवो भूत्वा' इति साक्षात्काराभिधानमवि-
 द्यम् । तथा च प्रतीकेषु साक्षात्कारवत्त्वे प्रमाणाभावेन सा-
 क्षात्कारानपेक्षत्वमिति न विशेषणासिद्धिः ; साधनव्याप्त्यभा-
 वात् पूर्वपक्षानुमाने उपाधेरप्यनिवारणम् ॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ३६ ॥

'ओमित्येतदक्षरमुद्रीथमुपासीत' इत्यादीन्यङ्गाश्रितोपास-
 नानि किं नियमेन समुच्येयानि, याथाकाम्येन वानुष्ठेयानीति
 संशयः, पर्णमय्यादिष्वङ्गाश्रितेषु समुच्चयनियमदर्शनान्, गो-
 दोहनादिषु याथाकाम्यदर्शनाच्च । पूर्वत्र प्रतीकोपास्तीनां मि-
 त्तफलत्वात् याथाकाम्यमुक्तम् ; तद्युक्तं मित्रफलेष्वङ्गाश्रितो-
 पासनेषु समुच्चयनियमेन फलभेदस्यानैकान्तिकत्वादित्याश-
 ङ्कषात्रापि याथाकाम्यप्रतिपादनात्संगतिः । 'तन्निर्धारणानि-
 यमः' इत्यत्र पृथक्फलत्वादङ्गोपास्तीनां समुच्चयो भग्नः, इह
 तु फलभेदेऽपि समुच्चय आशङ्क्यते ॥

उपास्तीनां स्वतन्त्रत्वे बहिर्भावः क्रतोर्भवेत् ।

समुच्चयाङ्किना न स्यान्नियमेनाङ्गसंगमः ॥

यद्यपि क्रतुफलात्पृथक्फलमुपास्तीनामस्ति, तथापि न
 स्वतन्त्रा भवितुमर्हन्ति; तथा सति क्रत्वनाश्रिततया क्रतुप्र-
 योगाद्बहिरप्यमूर्णां प्रयोगप्रसङ्गात् । तस्मादङ्गमाहिणा प्रयो-
 गवचनेनाङ्गनियता उपासना अपि प्रयुज्यन्ते; अप्रयोगे ता-

सामङ्गाधित्वनियमायोगात् तत्समुच्चयनियमः, स च प्रयो-
गावचनः उपासनासमुच्चितत्वं नत्फलकामनानामपि अवश्यंभा-
वमाक्षिपति; तदभावे तासां समुच्चयाभावान् । एतेन गोदो-
हनादयो व्याक्षिप्ताः । एव प्रप्ति, अभिधीयते—

पारतन्त्र्यमुपास्तोनां सत्त्वेवाङ्गेषु यर्पणम् ।

फलाणामविधेयत्वात् प्रयोगविधिप्रहः ॥

इदमुपास्तीनामाश्रयतन्त्रत्वम्— यदाश्रये सत्येव प्रवृत्ति-
र्नासतीति, न तु तत्प्रवृत्तिरेवेति; अतश्च यावदाश्रयभावि-
त्वेऽपि अद्वोपास्तीनां तत्तन्त्रत्वमविरुद्धमिति न तस्मिद्धर्म-
ऋतुप्रयोगवचनपरिग्रहः । न चोद्दिश्यमानान्प्रयोगवचनः स-
मुच्चेतुमर्हति, तस्य विहितप्राप्तित्वान् । उद्देश्यं हि मानान्तर-
सिद्धम्, तस्य च विधेयत्वं व्याहृतम्; तस्मात्फलकामना-
नामनित्यत्वाच्चरत्नसङ्घोपास्तीनामनित्यत्वम्, तासां च स-
मुच्चयनियमेन नित्यत्वे नित्यानित्यसंबोगविरोधः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकान्नाथधोमदनुभयानन्दपूज्य-

पादनिष्पन्नभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥



चतुर्थः पादः ॥

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति वादरायणः ॥ १ ॥

पूर्वं परापरब्रह्मविद्यानां गुणोपसंहारनिरूपणेन परिमाण-
मवधारितम् । इदानीमासां कर्मनिरपेक्षामेव पुरुषार्थसा-
धनत्वं निरूप्यते । तत्र करणत्वादमूपामितिकर्तव्यता वक्त-
व्या, तच्च कर्मैवेति शङ्कायां तदन्तरेणापि निर्गुणविद्यायां तदु-
त्पत्त्युपयोगिनो यज्ञादयः शमादयः भवणादयश्च इतिकर्तव्य-
ता निरूप्यन्ते ; सगुणविद्यासु तु कर्मापेक्षानियमाभावेऽपि
तत्साहित्ये फलोत्कर्षः । तदेवं गुणोपसंहारपादो विद्यापरि-
माणनिरूपकत्वेन हेतुः, अयं तु ज्ञातपरिमाणविद्याफलनिरू-
पकत्वेन हेतुमानिति संगतिः ॥

फलभेदाद्विना विद्याभेदाभेदाद्यसंभवान् ।

हेतुर्वा स्यादयं पादः पूर्वपादश्च हेतुमान् ॥

इत्यपरा संगतिः ; अस्मिन्स्तु पक्षे,

सिद्धं कृत्वा फलं पूर्वं विद्याभेदादि चिन्तितम् ।

स एव फलभेदोऽत्र विद्यानामुपपाद्यते ॥

ऋषकारादिप्रे सगुणनिर्गुणब्रह्मप्राप्तिलक्षणे फले सिद्धे

विद्याभेदादिचिन्ता संगच्छत इति ब्रह्मात्मविद्या ऋत्वर्था पुरुषार्था वेति संशयः ; अप्रकरणार्थाया अस्याः ऋत्वव्यभिचारिद्वारसंभवासंभवाभ्याम् ॥

कर्तुः साधारणत्वेऽपि देहाङ्गिप्रत्वधीः क्रतोः ।

अन्यत्रानुपयुक्तेषु ऋत्वङ्गमवगम्यते ॥

यद्यपि प्रोक्षणादिवदात्मज्ञानं न कंचित्कर्तुमारभ्याम्रातम्, यद्यपि च कर्तृमात्रं नाव्यभिचरितक्रतुसंबद्धम्, तस्य लौकिककर्मस्वपि साधारण्यात्, तथापि देहव्यतिरिक्तत्वेन ज्ञातो न लौकिककर्मण्युपयुज्यते, तस्य देहमात्रेणाप्युपपत्तेः ; ततश्च देहाद्यतिरिक्त उपनिषद्भयोऽधिगम्यमान आत्मा स्वव्यापकं कर्तुं जुहुरिवोपस्थापयति, ततश्च तज्ज्ञानं जुहूद्वारेणैव पर्णमयता वाक्यात्क्रतुना संबध्यते । तथा च तत्र फलश्रुतिरर्थवादः । यत् कर्तृत्वाद्यतिरिक्तं शुद्धबुद्धादिरूपमुपनिषत्सु वेद्यते, तद्विवक्षितमनुपयोगित्वात् । न च तज्ज्ञानमात्रात्कैवल्यं लभ्यत इति सप्रयोजनता ; तथा मति आत्मविदां जनकादीनां कर्माभावप्रमद्वात् । ततश्च शुद्धबुद्धत्वादिकं कर्तृस्तुत्यर्थम् ; तथा सगुणैश्वर्यवचनानि श्वार्थवादः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते-

असंमार्यात्मबोधो न कर्माङ्गं तद्विरोधतः ।

यास्तद्वत्क्यादिसंन्यासात्तुल्यमाचारदर्शनम् ॥

प्रसाधितं हि वाक्यान्वयाद्यधिकरणेषु वेदान्तानां संसा-

यात्मनुवादेनासंसारिब्रह्मत्वपरत्वम्; तथा च तादृगात्मज्ञानं न कर्माङ्गम्, अनुपयोगाद्विरोधाच्च । तथा सति अपाराध्यान्त-
द्वाक्यानामात्मज्ञानफलवचनानां नार्थवादत्वम् । देहातिरिक्ता-
त्मज्ञानस्य तु वेदान्तस्य त्वंपदार्थशुद्धमङ्गस्यानुपह्निकं कर्मप्रवृ-
त्त्युपयोगित्वम्—आमिक्षार्थस्येव दध्यानवनस्य बाजिनोपयोग
इति न किञ्चिदप्यात्मज्ञानं कर्माङ्गम् । यत्तु ब्रह्मविदां कर्म-
दशनाद्विद्यायास्त्वदङ्गत्वमिति,

लोकसंमहपाय स्यादनङ्गस्याप्यनुष्ठितिः ।

अङ्गस्य तु सत्त्वत्यागो न कथंचन युज्यते ॥

महद्भिरस्माभिरनुष्ठितं कर्म लोकैः संगृह्येतेति मत्वा प्रा-
णिषु दयया स्वनिर्गोच्यमपि कर्म कृतवन्त इति संभवति ;
अङ्गत्वे तु कर्मणां याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तस्यागो न युज्यते, त्य-
क्तस्यायोगादङ्गरहिताया याज्ञवल्क्यादिविद्याया वैकल्याया-
वाप । तदेवं ब्रह्मविद्यामाचारणोर्विरोधिकर्मानुष्ठानरूपाचारो-
ऽन्यथाभिद्धः, कर्मत्यागस्तु अनन्यथाभिद्धः । समुपयप्रमा-
णान्त्यनिरासो भाष्यटीकयोर्विशदः । ये तु समुपयमङ्गोक्तत्वं
न विद्यायाः कर्माङ्गत्वम्, किं तु कर्मैव विद्याङ्गमित्यधिकर-
णार्थं वर्णयन्ति, तैः 'उपमर्दं च' इति सूत्रमुपमादितम् ; न
सुपमृदितस्य कर्मणो विद्याङ्गत्वम् ; न तेषां मते स्तुतये वि-
दुषः कर्मानुमतिः, अपि तु अनुष्ठानार्थेति तदपि सूत्रमसं-
गतम् ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥

‘त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानम्’ इति, पुनः ‘तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मान-माचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थो-ऽमृतत्वमेति’ इति श्रूयते; इदं वाक्यं गार्हस्प्यातिरिकाश्र-माणामनुष्ठेयत्वं ज्ञापयति न वेति, वर्तमानापदेशत्वान् गार्ह-स्प्येनानुष्ठेयेन समभिव्याहाराच्च संशयः । पूर्वत्रोर्ध्वरेतःस्वा-श्रमेण ब्रह्मविद्याया आम्नानात्कर्मतैरपेक्ष्येण मोक्षसाधनत्वमु-क्तम्, इदानीं त एवाश्रमा आक्षिप्यन्ते ॥

अनुवादाद्विधौ कल्प्ये प्रत्यक्षश्रुतिवाचनात् ।

इह कर्माणि निन्द्यन्ते ब्रह्मनिष्ठां प्रशंसितुम् ॥

अत्र हि वाक्ये धर्मस्कन्धान् धर्मसमूहान् त्रीन् शुभलोक-प्राप्तिमात्रफलत्वेन निन्दित्वा ब्रह्मसंस्था मोक्षफलतया स्तूयते । न चान्यार्थदर्शनादस्मादाश्रमान्तराण्यनुष्ठेयानि सिध्यन्ति, विध्यश्रवणात्; विधिकल्पना ‘वीरहा’ इत्यादिप्रत्यक्षश्रुतिवि-रुद्धेति प्राप्ते, अभिधीयते—

आश्रमादन्यतः स्कन्धत्रित्वं धर्मेषु नोचितम् ।

परिगेषात्परिग्राह् तु ब्रह्मसंस्थ इतीरितः ॥

न तावद्यज्ञादीनां प्रातिस्विकनानाविध्युत्पत्तीनामाश्रमोपा-धिकत्वमन्तरेण त्रिस्कन्धत्वमुपपद्यते; तत्र यज्ञादिष्ठिङ्गको गृ-

इत्याश्रम एको धर्मस्कन्धः, ब्रह्मचारी च द्वितीयः, तप इति
 वपःप्रधानं वानप्रस्थः, परिशिष्टब्रह्मसंस्थशब्देन परिशिष्टः
 परिब्राह्मिणीयते । तत्र परामर्शादनुवादरूपादाश्रमान्तराणि
 प्रतीयमानानि देवसाधिकरणन्यायेन न शक्यन्ते अपह्नोतुम् ।
 न च 'वीरहा' इत्यादिनिन्दाविरोधः, तस्य प्रतिपन्नगार्हस्थ्यं
 प्रमादादशानाद्वाग्निमुद्गासयन्तं प्रत्युपपत्तेः । एवं चानुवादान्य-
 धानुपपत्त्यान्यत्र तन्मूलभूता विधिः कल्प्यते । अथवा किम-
 न्यत्र विधिकल्पनया, अत्रैव विधिः कल्प्यः । यद्यपि ब्रह्मसंस्थ-
 त्वस्तुतिपरतया एकवाक्यता प्रतीयते, तथापि सा न संभवति ;
 आश्रमान्तराणां पूर्वसिद्धेरभावे परामर्शानुपपत्तेः तदपरामर्शो
 च स्तुतेरसंभवेन स्तुतिपरतयैकवाक्यत्वासंभवात् । अपि च
 विधेयार्थेक्ये ह्यनुवादस्य विधिस्तुत्यर्थत्वेनैकवाक्यत्वम् ; अत्र
 त्वप्राप्तार्थभेदप्रतिभानाद्विधेयभेदे सति नैकवाक्यत्वमिति भ-
 इत्त्वा वाक्यमुपरिधारणावद्विधिः कल्प्यते । अथवा श्रुतिप्र-
 सिद्धं गार्हस्थ्यं स्तुतिप्रसिद्धे ब्रह्मचर्यवानप्रस्थे अनुद्य ब्रह्मसं-
 स्थता स्तुयते इत्येकवाक्यत्वनिर्वाहः ; तत्तुत्या च ताद्विधि-
 रनुमीयते, स्तुतेर्विध्यविनाभूतत्वात् ॥

अपरं चर्णकम् ॥

ब्रह्मसंस्थशब्दः किमाश्रमचतुष्टयवचनः, इत पारिव्राज्य-
 वचन इति संशयः ; तस्य भौगिकत्वेन प्रकृतमात्रपरामर्शक-
 त्वान्, असाधारणाश्रमधर्मोपक्रमपलादस्वाप्यसाधारणाश्रम-

वाचकत्वप्रतीतिश्च । तदर्थं च तपःशब्देन परिग्राह्यो न वेति विचार्यते । पुरुषार्थाधिकरणे ज्ञानस्यासहायस्य मोक्षफलत्वमुक्तम् , तन्न संभवति; गृहस्थादीनामपि ब्रह्मनिष्ठत्वस्य ब्रह्मसंस्थशब्देनाभिधानात्तदनुष्ठितकर्मणां ज्ञानसहकारित्वप्रतीतिरित्याक्षिप्यते ॥

तप इन्द्रियसंयमादिकं

यतिषु स्यादिति तेऽपि तापसाः ।

तत आश्रमिणः परामृशे-

चतुरोऽप्यत्र समासगा श्रुतिः ॥

न तावद्ब्रह्मसंस्थपदं परिग्राजि लुब्धम्; परिग्राज्यमात्रादमृतत्वप्राप्तेः ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गात् । सत्यपयवार्थे समुदायशक्तिकल्पनायोगाच्च । तेन ब्रह्मणि संस्था अस्येति बहुव्रीहिः । तन्न ममासर्वान्या इदंशब्दश्रुत्या सह परिग्राजा सर्वेऽप्याश्रमिणः परामृश्यन्ते । न च परिग्राजकस्याप्रकान्तत्वात्कथं परामर्श इति वाच्यम्; तपःशब्देन तस्योक्तत्वान् । तस्याप्यष्टमासित्वाधिकशौचेन्द्रियसंयमादेस्तपस्त्वान् । अत एव 'त्रयः' इति चतुर्णां निर्देश उपपन्नः यतिवनस्थयोरेकीकारान् । एते चाब्रह्मसंस्थाः पुण्यलोकभाजः, ब्रह्मसंस्थास्त्वमृतत्वं यान्तीत्यवस्थाभेदापेक्षत्वान् पुण्यलोकामृतीभावयोरेकत्राविरोधः— यथा देवदत्तो मन्दप्रह आसीत्स एव शास्त्राभ्यासादिदानीं महाप्राह इति । सूत्रयोजना तु— परा-

मर्शं ब्रह्मसंस्थाशब्देन सर्वेषामाश्रमाणां जैमिनिर्मते, न तु सर्व-
कर्मत्वजः कस्यचिच्चेन शब्देन चोदनाः कर्मत्वार्तां शास्त्रमपव-
दोत हि 'न कर्मणामनारम्भात्' इति । च-शब्दस्तु पुण्यलो-
मृगत्ययोरवस्थाभेदादविरोधार्थः । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

आदावसाधारणकर्मकीर्तना-

दन्तेऽपि सत्कीर्तनमेव युज्यते ।

चतुर्धापि त्रित्वमसंगतं भवं-

त्तपःपदेनेह यत्रेः परिग्रहे ॥

अमृतत्वं तदा गच्छति यद्दान्ये ब्रह्मसंस्थिताः ।

अमृतः पुण्यलोकश्च ब्रह्मसंस्थः सदा यतिः ॥

इह ह्यसाधारणेनैकैकेन लक्षणेनैकैक आश्रमो वक्तुमुपक्रान्तः 'यज्ञोऽध्ययनम्' इत्यादिना । एकस्मिन्वाक्ये च यथोप-
क्रान्तं तथैव परिसमापनमुचितम्; प्रतीयते चात्रैकवाक्यता
'द्वितीयः' 'तृतीयः' 'पदे' इति च पूर्वमापेक्षत्वादुत्तरो-
त्तरस्य । तत्र त्वसाधारणसाधारणधर्माभ्यामुपक्रमोपसंहारौ
स्थाताम्; त्वन्मते ब्रह्मसंस्थत्वस्य सर्वसाधारणत्वान् । न च
सर्वनाम्ना प्रकृतमात्रपरामर्शाच्छुत्यैव वाक्यमहम् इति वा-
च्यम्; श्रुतेरप्युपक्रमस्य वर्जयित्वात्—अगादिश्रुतिभ्योऽपि
वेदोपक्रमस्य चत्वरस्त्वयन् । चतुष्टयेन प्रतिष्ठेषु आश्रमेषु प्रित्य-
मयुक्तम्; यत्संख्याका हि ये प्रतिष्ठास्ते तत्संख्ययैव कीर्तयन्त
इति श्रुत्सर्गः । न च सवि मंभवे उत्सर्गस्य त्यागां युक्तः ।

तव च तपःशब्देन तन्त्रेण यतिपरिग्रहे 'त्रयः' इति यतेरप्यभिधानं स्यात्; न च तपो यतिवनस्थासाधारणम्; तद्धर्मस्य शौचस्य तपःशौचसंतोषेत्यादौ तपसो भेदेनाभिधानात् । अष्टप्रासनियमस्य तपस्त्वबद्धात्रिशङ्कासनियमस्यापि गृहस्थधर्मस्य तपस्त्वापातात् । इन्द्रियसंबन्धस्तु तपस्त्वेन श्रूयते— 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्येकाग्र्यं परमं तपः' इत्यत्र परममहणात्, सत्यं तप इतिवत् । इतरथा नैष्ठिकस्यापि तद्भावात्तपःपदे तन्त्राभिधानसंभवेन पृथङ्निर्देशवैयर्थ्यात् । किं च 'तपः' इति भिक्षुसंग्रहे 'एते' इति प्रकृतानां साकल्येन परामर्शात् तेषां च पुण्यलोकाभिधानाद्विधोरपि पुण्यलोकत्वं स्यात्, तत्रायुक्तम्; अत्रह्यसंस्थत्वाभावात्; अत एव तस्यैव सदा ब्रह्मसंस्थस्य पुण्यलोकोऽमृतत्वं चेति विरोधः; अवस्थाभेदेन च व्यवस्थोपपत्तये त्रिषु च ब्रह्मसंस्थपदं यदेति संबन्धनीयम् । न च 'संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानम्' इति स्मृतेस्तस्याप्यनियतं ब्रह्मसंस्थत्वम्; तस्यानुपहितत्वात्; 'प्राप्य पुण्यकृताल्लोकान्' इतिवत्, लोकैषणाव्युत्थितस्य संन्यासविधानात्, तेन साधारणाभिधानाभावेन ब्रह्मसंस्थपदं न तत्रम्, किं त्वावृत्त्येति वाक्यभेदः; यदा सदेत्यध्याहारापातश्चेति । यदिह केशवो वक्ति— यदि भिक्षोः पुण्यलोकप्राप्तिर्विरुध्यते, मा भूत्तस्य तपःशब्देन ब्रह्मणम्; ब्रह्मसंस्थपदस्य तु प्रकृताश्रमसयमात्रप्रवृत्तौ को विरोधः; यतेरपि ब्रह्मनिष्ठत्वामृतत्वं प्रमाणान्तरसिद्धम्, अतः प्रयोजकाविशेषे ब्रह्मसं-

स्थपदे भिक्षुपरित्यागोऽनुपपन्न इति चेत्, तर्हि ब्रह्मसंस्थपदेन यतिग्रहणेऽप्यन्येषां परित्यागे कारणं वाच्यमिति ; तदभागेव निरस्तम्, असाधारणधर्मोपक्रमस्य समासान्तर्बतिसर्वनामश्रुतेरपि बलवत्त्वेनासाधारणयत्याश्रमधर्मस्य ब्रह्मसंस्थशब्दाभिधेयत्वे प्रकृतपरामर्शासंभवस्योक्तत्वात् । अभोऽप्रकृतः परिप्राद् ब्रह्मसंस्थः, यौगिकमपि ब्रह्मसंस्थपदं ब्रह्मणि सनातिनाचक्षणं सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकताभिप्रायाह ; सा च नान्येष्वित्यसाधारणी । उपशमभिक्षाटनश्रवणादीनां ब्रह्मविद्योत्पत्तौ सहायत्वं चित्तविक्षेपकरत्वात्तान्येषामिति श्रुतिस्मृतिभिरंतं विधीयन्ते, इतरेषां च त्याग इति । अत एव परिप्राज्ञोऽपि न सर्वकर्मपरित्यागः, श्रवणादेर्भावादित्युक्तमुक्तम् । सूत्रयोजना तु परिप्राद्भिरेवानुष्ठेयं ब्रह्मसंस्थत्वम्, यज्ञादिभिरसाधारणाश्रमधर्मैः साम्येन श्रुतत्वादिति । 'न कर्मणाम्' इत्यादिस्मृतिस्तु शानराहितसंन्यासात्रामृतत्वमित्येवमर्थेति ॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥

'स एव रसानां रसतमः परमः परार्थोऽष्टमो यदुद्गीथः' इत्यादयोऽङ्गाभित्ता रसतमत्वादयः स्तुत्यर्थाः, अतोपास्याद्भविशेषणवद्योपासनविधिगोचरा इति संशयः ; कर्माङ्गाभित्तेषु 'स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्यादिषु स्तुतित्वदर्शनात्, 'यस्य परममयी जुहूः' इत्यादिषु विधित्वदर्शनात् । पूर्वत्रानुष्ठेयसाम्यश्रुतेराश्रमान्तरं विधेयमित्युक्तम्, इह तु रसतमत्वादा-

नामङ्गाश्रितत्वेन 'स्वर्गो लोक आह्वयनीयः' इत्यादिस्तुविज्ञान-
म्यास्तुत्रार्थत्वम् ॥

अङ्गेनाङ्गविधेः प्राप्तेरङ्गोपामाविधेरपि ।

मंनिधेस्तत्प्रसंगमा स्यादुपाम्यं त्वन्यतो महम् ॥

यद्यप्युद्गीयादिविधिः कर्मप्रकरणवर्तित्वाद्बुधवहितः, तथापि
तद्विध्यत्र्यभिचरितोद्गीयादेरिह कीर्तनात्तेन संनिधाप्यते—
जुह्वेव पर्णमयता क्रतुदेशे ; स च रसतमत्वादिनैकवाक्यतामु-
पगतः स्तूयते । न च मंनिहितविध्यन्वयनियमोऽर्थवादा-
नाम् ; अनुपङ्गादिना व्यवधानेऽप्यन्वयान् । अथवा 'उद्गी-
भनुपामाव' इत्याद्युपाननाविधिः प्रशस्यते, न तूपास्यसम-
र्पका रसतमत्वाद्यः ; 'ओमित्येतद्भ्रममुद्गीयम्' इत्यनेनैव
वत्समर्पणान् । ननु विशेषणपरं तदिति स्थितम्, मत्यम् ; अ-
प्यामपरं तु तदिति कृत्वा चिन्ता ॥

सिद्धान्तम्—

व्यवहितविधितानपेक्षमावा-

न्न हि रमतादि न तेन योगमागि ।

निकटगतविधेरुपाम्यदाना-

त्सुनिपरता वहिरङ्गतोऽनपेक्षा ॥

सर्वत्र विधां कर्मत्र्यनैकार्थसमवेतश्रेयःसाधनतायामवग-
तायां न प्राप्स्यन्म्यामि कश्चिदुपयोगः ; अतो विधिना

सह प्रतीतसमभिव्याहृतीनामर्थवादानामाकाङ्क्षया विधेरप्या-
काङ्क्षामुत्थाप्य रक्तपटन्यायेनैकवाक्यतया स्तुत्यर्थत्वम्; अनु-
पङ्गोऽप्यर्थवादस्य साकाङ्क्षत्वात् । 'चित्पतिस्त्वा पुनातु देव-
स्त्वा सविता पुनातु' इत्यत्र हि 'अच्छिद्रेण पवित्रेण'
इत्यस्य पुनात्वित्यस्मिन्नस्यपेक्षा, कचिद्धि पठितव्यः सन् अन्ते
पठित इति । न त्विह रसतमत्वादेर्देशान्तरस्योद्गीथादिविधाव-
स्यपेक्षेति न तत्स्तुतित्वम्; संनिहितोपासनाविधौ तु किं
विषयसमर्पणेनोपयुज्यताम्, उत स्तुत्येति संशये, विषयसम-
र्पणेन यथार्थवत्त्वम्, नैवं स्तुत्या; बहिरङ्गा हि सा ।

यदा रसतमत्वादि नाङ्गनिष्ठमपि स्तुतिः ।

तदा किमङ्ग वक्तव्यमनङ्गात्मधियः फले ॥

इति प्रकृतसंगतिः ॥

पारिप्लुवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ ४ ॥

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य हे भार्ये वभूवतुः' इत्याद्याख्याना-
नि विद्यासंनिधौ श्रुतानि किमाश्रमेधिकपारिप्लवप्रयोगार्थानि,
उत विद्यार्थानीति संशयः; 'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे'
इति सर्वशब्दात्, 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति पुनर्विधाना-
च्च । परिप्लुत्यानियमेन बुद्धित्यकथनं पारिप्लवः । पूर्वत्रो-
द्गीथादिस्तुत्यर्थत्वादुपास्यविषयसमर्पकत्वं रसतमत्वादेर्ज्याय
इत्युक्तम्, तर्हीख्यानानामपि विद्यास्तुत्यर्थत्वात्साक्षात्पारि-
प्लवप्रयोगशेषत्वं ज्यायः अनुष्ठानपर्यवसानमंभवात् ॥

सर्वशब्दश्रुतेर्विद्यासंनिधानस्य बाधनात् ।
अपि वेदान्तगाख्याने ब्रजेत्पारिप्लवार्थताम् ॥

यद्यप्यौपनिषदाख्यानानि विद्यासंनिधौ श्रुतानि, तथापि 'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे' इति सर्वशब्दश्रुत्या निःशेषार्थया दुर्बलस्य संनिधेर्याधितत्वात्पारिप्लवार्थान्येवाख्यानानि । न च 'यस्याश्विने शश्वमाने सूर्यो नाभ्युदियादपि सर्वदाशतयीरनुज्ज्यात्' इति दाशतयीनां विनियोगेऽपि प्रातिस्विकविनियोगैस्तत्र तत्र कर्मणि यथा विनियोगो न विरुध्यते, तथेहापि सत्यापि पारिप्लवे विनियोगे संनिधानाद्विद्याङ्गत्वमपि भविष्यतीति वाच्यम्; दाशतयीनां 'दाशतयीः' इति समुदायविनियोगस्य, प्रातिस्विकानाम् 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यम्' इत्यादिविनियोगानां च श्रौतत्वेन तुर्यबलत्वात् । कश्चिन्न समानबलतया सकृत्प्रवृत्तस्य प्रातिस्विकविनियोगस्यावगुण्ठनाभावाद्द्विङ्गादिभिरपि मन्त्रविनियोगं सहते सर्वशब्दः । इह तु संनिधानाच्छ्रुतेर्बलीयस्त्वात्पारिप्लवार्थत्वमिति प्राप्ते, अभिधीयते—

मन्वाद्याख्यानमेवैतद्वचसा विनियुज्यते ।
यतोऽत्र सर्वशब्दोऽपि ततस्तत्रैव संकुचेत् ॥

'सर्वाण्याख्यानानि पारिप्लवे संसति' इत्यभिधाय पुनः 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति विधाय, ततः 'मनुर्वैवस्वतो राजा यभूव' इत्यादि पठ्यते; तत्र पुनर्विधानं वाक्यशेषगताख्याननियमार्थम्; इतरथा वैयर्थ्यान् । अतः सर्वशब्दोऽपि तत्रैव

संकोच्यः । वाक्यशेषगताख्यानानामपि मध्ये एकव्याख्याभिधा-
योपरमस्य ज्यावर्तकतया च तस्यार्थवत्ता । पुनर्विधिभ्रुत्वा
चावच्छेदिकया सर्वशब्दश्रुतौ भद्रदर्पायां निर्भयः संनिधिः
विद्यास्वेवोपनिषदाख्यानानि विनियुञ्जीत ; प्रतिपत्तिसौकर्य
च प्रयोजनम् ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ ५ ॥

ब्रह्मविद्या मोक्षे कर्मकृतोपकारमपेक्षते न वेति संशयः ;
तदर्थं च यज्ञादीनां किं विद्याफलं मोक्षे अन्यथा, उत वि-
विदिष्यायामेवेति ; इच्छाया यज्ञादिफलत्वासंभवसंभवाभ्याम् ।
पूर्वत्राख्यानानां विद्यासंनिधेर्विद्याशेषत्वमुक्तम्, तर्हि विद्या-
शकरणे 'यज्ञेन' इत्यादिवाक्येन यज्ञादीनां विद्यायां विनियो-
गात्तेषां ब्रह्मविद्याशेषत्वमिति प्राप्तम् ॥

न वेदनेच्छा विहितप्रवृत्तः

फलं भवेत्किं तु विमुक्तिरेव ।

ज्ञानेन तस्या उदयेऽद्य ज्ञान्ति

यज्ञादि कुर्वन्ति फलोपकारम् ॥

इह हि यज्ञादीनां साधनभावस्यापूर्वत्वाद्विधिपरमिदं वा-
क्यम् ; साधधिके च वाक्ये विध्यवच्छिन्नभावनारूपवाक्या-
र्थानुप्रवेशपूर्वक एव पदानां परस्परसंबन्धः ; अन्यथा द्वा
होम इतिवद्वैयर्थ्यात् । सा च भावना मोक्षेषौव भाव्येनाव-
च्छेद्या, न तु विविदिषया, तस्या अपुमर्थत्वान् । न च विधि-

दिपा भावनायां करणम्; अविहितत्वात् । तस्मान्न तस्या यज्ञादि द्रव्यदेवतावत्संनिपत्य, नापि प्रयाजादिवदारात्, उपकरोति । तेन विविदिपया वेदनद्वारेण यत्कुर्यादित्यर्थप्राप्तमेवानूद्य यज्ञादिभिरुपकृत्येति विधीयते, ततश्च ज्ञानस्य फलोपकार्यङ्गं यज्ञादिः, उपकारश्च कर्मक्षयः । ब्रह्मभावाभिव्यक्तिर्हि ज्ञानेन क्रियते कर्मभिश्च कर्मक्षयः; स च ध्वंसत्वान्नित्यः; न चेच्छाकामस्य यज्ञादावधिकारः संभवति; अपुमर्थत्वात्, तस्यां कामानुपपत्तेः । न च ज्ञानसाधनत्वेन पुमर्थता, साध्येच्छापूर्वकत्वात्साधनेच्छायाः साध्यज्ञानेच्छायाः प्रागेव जातत्वेन पुनस्तस्याः कामनानुपपत्तेः । न च तत्र साक्षात्कारपर्यन्तमिच्छानुवृत्तेरिष्टत्वाच्छब्दज्ञानेच्छायां जात्यामपि साक्षात्कारादाविच्छाकाम्यत इति वाच्यम्; तथापि साक्षात्कारादिकामनानुपपत्तेः; तदिच्छायां च जातार्यां पुनः कामानुपपत्तिरिति पूर्वोक्तादनिस्तारात् । किं चेच्छा विषयसौन्दर्यजन्या, न यज्ञादिसाध्या । न च बुभुक्षादावस्ति साधनापेक्षेति वाच्यम्; तथापि जाठरानलपाटवस्य भैषज्यैः साध्यत्वात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

क्रमेण मोक्षहेतुत्वाद्भवेद्विविदिपा फलम् ।

ज्ञानात्कर्मक्षयः सिद्धस्तस्मिन्दृष्ट इति श्रुतेः ॥

रुचिकामनयोर्भेदात्कामेऽपि ब्रह्मवेदने ।

रुचिः क्रियाभिराधेया दुग्धे पित्तवतो यथा ॥

यदुक्तं भावनाभाव्यो मोक्ष इति ; तत्र घटते ; ब्रह्मभावो मोक्षो न भाव्यः, तस्य नित्यत्वात् । मोक्षगतः कर्मक्षयो न कर्मसाध्यः ; 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे परावरे' इति ज्ञानसाध्यत्वश्रवणात् । यद्य इच्छाया अपुमर्थत्वात् भाव्यत्वमिति ; तत्र ; ज्ञानद्वारा मोक्षसाधनत्वेन पुमर्थत्वात् । असुरत्वात्फलत्वे प्रामादौ व्याभिचारात् । या चेच्छायां कामनानुपपत्तिरुक्त, सापि न ; यतोऽन्या कामना, अन्या च रुचिः ; यथा विरादूषितास्यो दुग्धपानं कामयते, न च तस्मै दुग्धं रोचते, तत्र सत्यामपि कामनायां रुचिः साध्या ; एवं परमपुरुषार्थसाधनत्वेन ब्रह्मज्ञानेऽभिलाषेऽपि पापिनां विषय-रागापहृतचेतसामरुचौ सत्यां यज्ञादयः पापक्षयद्वारेणारुचिमु-पन्नन्तो जनयन्त्यभिरुचिम् । एवं चास्यां विविदिपापराभिधा-नायां कृतभाक्त्यायां लभ्यमानायां ज्ञानद्वारा मोक्षमाव्यत्यक्-त्पनां पौरुषेयां वेदो न मूष्यते । न च तस्य भाव्यतेलाप्युक्तम् । एवम् 'यज्ञेन' इति श्रुतिर्न मोक्षे कर्मणां समुधयमाह । 'वि-द्यां चाविद्यां च' इत्यत्र 'अविद्याया मृत्युं तर्त्वि' इत्यविद्यायाः कर्मणः पापक्षयहेतुत्वमुक्तम्, पापं च तत्र ज्ञानोत्पत्तिप्रति-बन्धकं विवक्षितम्, मोक्षगतपापक्षयस्य विद्यासाध्यत्वश्रुतेः ; संहितस्यमप्येकपुरुषाभयत्वमेव, नैककालत्वम् ; विरोधात्, न हि विद्याकाले कर्मानुष्ठानं शक्यम्, नापि कर्मकाले विद्या । किं च स्मृतिरपि कर्मज्ञानयोः 'कपाये कर्मभिः पके ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इति भिन्नकालत्वमाह । एवं समुधयविषयत्वेनावभा-

समानवचनान्तराण्यपि व्याख्येयानि ॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वत् ॥ ६ ॥

ब्रह्मात्मैकत्वविद्या स्वोत्पत्तौ यज्ञादि नापेक्षते, उतापेक्षते इति संशयः; ज्ञानस्य प्रमाणप्रवृत्तौ सत्यामन्यापेक्षाया अदर्शनात्, 'यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेश्च । पूर्वंत्र विद्याफले कर्मनपेक्षोक्ता, तर्ह्युत्पत्तावपि अनपेक्षा । ननु विविदिषा यज्ञादिना साध्या न मोक्षः, तत्र कर्मसाध्यांशाभावादिति स्थिते, किमत्राशङ्क्यते ? उच्यते—

ब्रह्माप्तौ कर्मविध्वंसे माभूद्यज्ञाद्यपेक्षणम् ।
अविद्यापनये विद्या यज्ञादिकर्मपेक्षते ॥

फलोपकारत्वसंभवे यज्ञादीनां न फलगुनीच्छामात्रे विनियोगः कल्प्यते, संभवति च मोक्षे उपकारः कर्मणाम् ॥

ब्रह्मोपासनयाविद्याप्रतिबन्धनिरासतः ।
स्वरूपानुभवव्यक्तौ कर्मणामुपकारिता ॥

न तावच्छाब्दज्ञानोत्पत्तौ कर्मणामुपयोगः, तस्य विदितवदपदार्थसंगतः समधिगतशाब्दन्यायतत्त्वस्य पुंसः स्वरसत उत्पत्तेः । नापि तदभ्यासे यथापूर्वानुभवमुत्पत्तेः । साक्षात्कारोऽपि यथाभ्यासमुदेतीति न तत्राप्यस्ति कर्मपेक्षा । तस्मात्साक्षात्कारद्वारिकायां विपर्यासनिवृत्तिपूर्वकवस्तुतत्त्वाभिव्यक्तौ कर्मणामुपयोगः । औपाधिकभ्रमे हि विपर्यासनिवृत्तिः

यन्नान्तरसाध्यादुपाधिष्वंसात्, न ज्ञानादेव; द्विचन्द्रादिषु
तथा दृष्ट्यान् । न च तत्रापरोक्षज्ञानमेव विपर्यासानिवर्तकम्,
विपर्यासनिवृत्तिमन्तरेण साक्षात्कारस्यैवानुदयात् । न खलु
तिमिरनिवृत्तिक्यतिरेकेण चन्द्रैकत्वभावना जनयाति चन्द्रत-
त्त्वसाक्षात्कारम् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

तिमिरं न बाशाङ्गमोहजं

क्रियया तद्विनिवारणं ततः ।

अपरोक्षमतिः परात्मना

तदबोधमभवं भवं नुवेत् ॥

यो हि साक्षात्कारो यद्विषयः स तद्विद्यां निवर्तयन्सद्-
द्रवं भ्रममपि निवर्तयतीति ब्रह्मसाक्षात्काराद्विद्यानिवृत्ति-
द्वारा संसारभ्रमप्रदाह उपपद्यते । मल्लप्यविद्योपाधौ तल्ले च
भ्रमे ब्रह्माहमस्मीति शाब्दबोधभावनापरिपक्वं चेतस्तत्साक्षा-
त्कारं जनयेत्, सत्त्वेन भेदभ्रमे बहुरिष्य भेदभ्रान्तिनिव-
र्तिकां प्रत्यभिज्ञाम् । अन्तःकरणदेरापि अविद्योपादानत्वा-
च्चानिवृत्तौ निवृत्तिः; तिमिरादि तु न चन्द्राद्यज्ञानजम् । अतो
न चन्द्रादिज्ञाननिरस्यमिति न दृष्टान्तः । किं च,

ब्रह्मास्मीति मत्तौ शाब्दबोधमधिकारोपमर्दनात् ।

नैव कर्म कुतस्तेन भावनायाः समुत्पद्यः ॥

न च परोक्षनिर्णयेन याधितस्यापि ब्रह्मप्यनाद्यभिमानस्य

तिरगुह्यादिप्रत्ययवदाभासरूपेणानुवर्तमानस्य कर्माधिकारहे-
तुत्वम्, बाधितेऽस्मिन्श्रद्धाविरहादश्रद्धानस्य च पुंसः 'कर्म-
ण्यनाधिकारात् । यदुक्तं भगवता— 'अश्रद्धया हुतम्' इत्या-
दि । यस्वत्र केशव उवाच— भेदाभेदाभ्यां ब्रह्मास्मीति च
कर्मण्यधिकृतोऽस्मीति चाभिमानावविरुद्धौ । 'अधिकारनि-
मित्तेऽपि न श्रद्धाचे यदा नरः । अविद्वानिव पापोपहृतचित्तो
प्रजल्पधः' इति, तदसाधुः मुक्तानामपि भेदाभेदाभ्यामधि-
कारप्रसङ्गान्, शास्त्रकृते श्रद्धाविरहेऽघःपातानापत्तेः । भास्कर-
ेण तु अत एवोद्धरेतःसु च विद्यादर्शनाद्वृत्तीन्वनादि गृहस-
कर्ममात्रं नापेक्षते ब्रह्मविद्या, किं तु यत्नादिकर्माण्यपेक्षत
इति पूर्वसूत्रं व्याख्याय सर्वाश्रमकर्मापेक्षेतत्सूत्रं व्याख्या-
तम् । तत्र पूर्वसूत्रे मात्रपदाभ्याहारप्रसङ्गः । 'सर्वापेक्षा'
इत्यनेनैव सर्वाश्रमकर्मापयोगसिद्धेः पूर्वसूत्रवैयर्थ्यं चेति ।
तस्यान्

अनागतिं प्रयुक्तत्वात्प्रहाद इव शंकरे ।

कृत्या याति प्रयोक्तारं सूत्राभिप्रायसंगृतिः ॥

सर्वाश्रानुमतिश्च प्राणाल्यये नहर्शानात् ॥ ७ ॥

प्राणविद्यायाम्— यदिदं किं चाश्रम्यः आक्रमिभ्यां भक्ष्य-
त्वेन स्थितम्, तद्धै प्राण नेऽन्नम्— इति प्राणेन जितैरिन्द्रियैः स-
र्वमन्नं प्राणाय इत्तमित्युपदिश्यान्नायते; च्छान्दोग्ये 'न ह वा
एवंविदि किंचनान्नं भवति' इति; तथा वाजसनेयकेऽपि—

‘न ह वा अस्यानन्नें जनघं भवति’ इति । तत्र मंशयः—
किमिह सर्वमन्नमद्यादिति प्राणवियाङ्गत्वेन, विधिः, उत प्रा-
णस्य सर्वमन्नमिति चिन्तनस्य स्तुतिरिति; सर्वान्नभक्षणस्या-
पूर्वत्वसंभवासंभवाभ्याम् । पूर्वत्र ‘वित्रिदिपन्ति इति’ वर्ध-
मानापदेशोऽप्यपूर्वत्वात्पञ्चमलकारस्वीकारेण विधिः कल्पितः,
एवमत्रापि ‘भवति’ इति वर्तमानापदेशोऽप्यपूर्वत्वात्पञ्चमल-
कारापत्त्या विधिः ॥

न रागाद्भक्षणं प्राप्तं पश्चाद्यन्नकृणादिषु ।

भवतेर्भावनात्प्रमाद्विधिः सर्वान्नभक्षणे ॥

स्तुत्यर्थत्वाद्द्विष्यर्थत्वं न्याय्यम्, प्रशुक्तिविशेषकरत्वला-
भान् । भवत्यर्थेन च भावना लक्ष्यते । न च तन्निरूपकधा-
त्वर्थाभावः, ‘जनघं भवति’ इत्यन्नशब्दस्य ‘अद् भक्षणै’
इत्यस्माद्धातोर्निष्ठायां निष्पन्नत्वेन भक्षणस्य भावनावच्छेदक-
स्य भावात् । ‘अस्यानन्नें जनघं भवति’ इत्यत्र तु भक्षणमुक्त-
मेव । भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रेण च पुरुषार्थविषयेण न सर्वा-
न्नभक्षणशास्त्रं वियाङ्गविषयं वाप्यते, गम्यागम्याविषायक-
शास्त्रेणैव कामदेवविशाङ्गभूतसर्वस्वपरिहारवचनम् । न च
करिकरन्नभक्ष्यस्य वटकाद्युशमीकरीरादेरशक्यत्वाद्दत्तुं सर्वा-
न्नभक्षणविध्यसंभवः; पुरुषशक्त्यपेक्षस्य शास्त्रस्य योस्यवि-
षयत्वात् । एवं प्राप्ते, अभिधीयते—

अशक्तेः कल्पनीयत्वाच्छास्त्रान्तरविरोधतः ।

प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति चिन्तनघंस्तवः ॥

अशक्तिरुक्ता । शक्यमात्रे संकोचे तु सकृत्प्रवृत्तस्यावकुण्ठ-
नाभावाच्छास्त्राविरुद्धमात्रे स ख्यात् । न च पुरुषार्थविषयो
भक्षणनिषेधः, विधिस्तु प्राणविद्यार्थ इति वाच्यम्; विधेर-
वाश्रवणात् । न चापूर्वत्वात्तत्कल्पना, अदनीयेऽनुवादत्वात्
अनदनीये त्वशक्ये विध्ययोगात्, शक्ये कलञ्जादौ निषेध-
शास्त्रेण वैपरीत्यपरिच्छेदादपूर्वार्थत्वाभावात् । विषयव्यव-
स्थापि क्लृप्तस्य शास्त्रस्य । इह तु न क्लृप्तिः स्तुत्याप्युप-
पत्तेः ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ८ ॥

‘यज्ञेन’ इत्यादिवाक्यं विविदिषायां यज्ञादीनि विनियुङ्गे,
न चेति संशयः; नित्यत्वकाम्यत्वयोरेकत्र विरोधान्, विनि-
योगश्रुतेश्च । पूर्वञ्च विविदिषार्थत्वं यज्ञादीनामुक्ते तदा-
क्षिप्यते, यथा शास्त्रान्तरविरोधात्सर्वांगत्ववचनं स्तुतिः,
एवं यज्ञादीनां नित्यत्वश्रुतिविरोधाद्विविदिषार्थत्ववचनं स्तु-
तिरित्यनन्तरसंगतिः ॥

अवश्यत्वानवश्यत्वे नैकञ्च स्तां विरोधतः ।

वस्तुनिष्ठविरोधो न वचनेनापनीयते ॥

आश्रमकर्माणि यावज्जीवादिश्रुतिभिर्नित्यसमीहितोपात्तदु-
रितक्षयहेतुत्वाच्चदयकर्तव्यानि विहितानि, ‘विविदिषन्ति’
इति च इच्छार्थतया विनियुक्तानि, विविदिषायाश्चानवश्य-

भावात् तस्माद्यनानां नावश्यकत्वव्यवस्था, तस्माद्विरोधः ।
न च वस्तुगतो विरोधः शक्यो वचनाभ्यां निवर्तयितुम् ;
एतेन 'एकस्य तूमयत्वे' इत्येतदध्याक्षिप्तम् ; तस्मादनध्यव-
साय इति प्राप्ते, अभिदध्महे—

सिद्धे हि स्याद्विरोधाऽयं न तु साध्ये कथंचन ।

विध्यधीनात्मलाभेऽस्मिन्वशाविधि मना स्थिताः ॥

सिद्धं हि वस्तु विरुद्धधर्मयोगेन वाध्यते, तस्य नित्यस्या-
नित्यस्य वा व्यवस्थितत्वेनान्यथाकर्तुमशक्यत्वात् ; साध्य-
रूपं तु विधितः कर्तव्यमित्यध्यवसाय गभाविधि निष्पाद्यते ;
अतएव रूपं विधित एव ज्ञातव्यम् । विधितश्चाग्निहोत्रादे-
रावश्यकत्वानावश्यकत्वप्रतीतेर्न विरोधः । न च विविदिपार्थ-
प्रयोगस्यानावश्यकत्वेन नित्यत्वाभावात् प्रत्यवायपरिहाराय
नित्यप्रयोगोऽपि पृथक्कर्तव्यः, न चेन्नित्यप्रयोगस्यानित्यत्वं स्या-
त्, तच्च विरुद्धमिति वाच्यम् ; नित्यप्रयोगं विकृत्य अनित्य-
प्रयोगानिवेशात्सामान्य कर्मण उभयज्ञाप्यविशेषेणानित्यप्रयोगे-
ऽपि नित्यस्य प्रसङ्गसिद्धेः नित्यविधेः पृथक्प्रयोगकृत्वाभावात् ।
तत्रच न प्रयोगावृत्तिप्रसङ्गः । ननु 'वाचञ्जीवगामिहोत्रं जुहु-
यात्' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति वाक्ययोरैकत्र प्रक-
रणे अवगात्तुक एकस्य कर्मणः काव्यत्वेन नित्यत्वेन च प्रयो-
गः ; गृहादिवाक्यस्य तु भिन्नप्रकरणत्वात् विनियोगान्तरहे-
तुत्वम् । किं तु कौण्डपादिनामपनवत्कर्मन्तरविधायकत्वमे-
वेति, तत्र ; यतो न प्रकरणान्तरं साक्षात्कर्मभेदकम्,

किं तु यत्र कर्मैव धातुनोपादायाख्यातेन विधीयते, तत्र कर्मविधायकत्वं स्वभावमपरित्यजन्विधिः कर्मान्तरं विदध्यादित्युत्सर्गः; प्रकरणैक्ये तु स्फुटतरप्रत्यभिज्ञानादज्ञातज्ञापकत्वाभावात्कर्मानूद्य गुणादिपरो भवति । गुणाद्यश्रवणे तु कर्मैव विधत्ते, यथा समिदादिषु । प्रकरणभेदे तु बुद्धिविच्छेदाद्विषयितप्रत्यभिज्ञानः स्वरसमजहत्कर्म विदधन्निति, यत्रानुपादेयसंबन्धः— यथा 'मासमग्निहोत्रं जुहति' इत्यत्र कालोपबन्धात् । उपादेययोगे तु कर्मानुवादेन गुणविधिरेव यथा 'आहवनीये जुहोति' इत्यत्र होमानुवादेन आहवनीय उपादेयां विधीयते । तदाहुः— 'उपादेयो गुणो यत्र भवेत्प्रकरणान्तरे । तत्राकर्मान्तरं युक्तमुद्देश्ये त्वन्यकर्मता' इति । इह तु सत्यपि प्रकरणान्तरे सत्यपि चानुपादेयविधिदिपासंबन्धे न कर्म भिनत्ति, यज्ञादौ विधेरश्रवणेन पृथगुत्पत्त्यप्रतीतेः, विविदिपायां तु विधिः श्रूयते, सा च फलत्वाद्द्विविधेयेति तत्र उत्तीर्णो यज्ञादौ संक्रामन्नपि न तदुत्पादकः, उत्पत्तां विनियोगे च विधिव्यापारे गौरवप्रसङ्गात्; अतोऽन्यत्रोत्पन्नान्येवाख्यातापरतन्त्रैर्यज्ञादिशब्दैरुपस्थापितानि यज्ञादीनि विविदिपायां विनियुक्ते । सूत्रोक्तसहकारित्वं च विद्योत्पत्तिप्रतियन्धकदुरितनिवर्तकत्वेन विद्यामाधनश्रवणादीनां यज्ञादीनि महकारीणीत्येवमभिप्रायम्; न प्रयाजादिवद्विद्याकलोपकारकत्वपरम्; 'अत एव चार्मान्वनादि' इत्यत्र तन्निषेधादिति ॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ९ ॥

अनाश्रमिकर्माणि विद्याया असाधनं साधनं वेति संशयः ;
आश्रमिकर्मणां विद्यायां विनियोगात्, अनाश्रमिकर्मणां धर्म-
त्वप्रसिद्धेश्च । पूर्वत्र नित्यानां यज्ञादीनां विद्यायां वृथामिनि-
योगात् नित्यानित्यसंयोगविरोध इत्युक्तम्, तर्ह्यनाश्रमिभिर-
नुष्ठितानां वर्णमात्रधर्माणां विद्यायां विनियोगादर्जन्तरेषां वि-
द्यासाधनत्वाभ्युपगमे नित्यानित्यत्वविरोधः । अपि च

अप्यनाश्रमिकर्मभ्यो ब्रह्मविद्या भवेद्यदि ।

यज्ञायासेषु वैयर्थ्यं स्यात्तदाश्रमकर्मसु ॥

तस्माद्विद्यासाधनाश्रमकर्मणामभावाद्विद्यायामनाश्रमिणा-
मनाधिकार इति प्राप्ते, उच्यते—

तपोऽनशनदानेभ्यो जपाच्च ब्रह्मबोधनम् ।

मथान्तरीचयज्ञाच्च स्यादनाश्रमिणामपि ॥

दानादिषु प्रत्येकं कृवीयाभूतेर्निरपेक्षं विविदिषामाधनत्व-
मवगतम् । न च दानादीन्याश्रमकर्माणीत्यत्र प्रमाणमस्ति ;
यज्ञमन्त्रिभिस्तु श्रुतिभिरविशेषप्रवृत्ताभिर्याभ्यवे । तेन यज्ञर-
हितानामप्यनाश्रमिणां दानादिभिः जन्मान्तररुद्धतयज्ञादेश्च वि-
द्याधिकारः । न च द्रव्ययज्ञ एव यज्ञः, तपोयज्ञादेरापि गीतासु
दर्शितत्वान् । आश्रमिणां तु कर्मभूयस्त्वादचिरेण विविदिषा,
अन्येषां चिरेण, सत्याश्रमपरिग्रहनामर्थ्यं च न वर्णमात्रादि-

विदिषोदय इत्याश्रमकर्मणामर्थवत्ता ॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि निय-
मातद्रूपाभावेभ्यः ॥ १० ॥

ऊर्ध्वरेवसामाश्रमिणां प्रच्युतानां पुनर्गार्हस्थ्यमापन्नानां ये यज्ञादयस्ते किं विद्यासाधनानि न वेति संशयः; प्रत्यव-
रोहस्य निषिद्धत्वात्प्रत्यवरुह्य कृतकर्मणां यज्ञादित्वप्रसिद्धेश्च ।
यद्यप्याश्रमाधिकरणानन्तरमियं चिन्तोचिता, तथाप्यवान्त-
रसंगविलोभादिह क्रियते । पूर्वत्रान्नाश्रमिकर्मणामपि विद्या-
साधनत्वमनाश्रमिष्वपि विशोपलब्धेरित्युक्तम्, तर्हि प्रच्युत-
कर्मणामपि विद्यासाधनत्वं नैष्टिकत्वप्रच्युतस्यापि वेदव्यास-
स्य ब्रह्मवित्प्रवरत्वदृष्टेः । किं च

प्रच्युतेः प्रतिषिद्धत्वमनाश्रमितया समम् ।

प्रायश्चित्तं समं चात्र निषेधस्यातिलङ्घने ॥

यथा हि 'अरण्यमियान् . . .ततो नेयात्' इति प्रत्यवरोहं
निषेधस्तथा 'अनाश्रमी न तिष्ठेत्' इत्यनाश्रमित्वेऽप्यस्ति ।
यथा वा अनाश्रमित्वनिषेधातिक्रमे 'संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा
कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरेत्' इति प्रायश्चित्तं स्मृतम्, तथा प्रच्यु-
तिनिषेधोलङ्घनेऽपि स्मर्यते—'ये प्रत्यवमिता विप्राः प्रप्रज्या-
मिजलादितः । आर्द्राशुकादि मत्स्यज्य गृहस्थत्वं चिकीर्षवः ॥
तांश्चारयित्वा श्रीकृच्छ्रान्त्रीणि चान्द्रापणानि च । जातक

मादयः कार्या मतेनाङ्घ्रिरसेन तु' इति । अग्निजलादिशब्देन
 वानप्रस्थं लक्ष्यते । 'प्रीप्ते पञ्चामिमध्यस्थः' 'आर्द्रनासाश्च
 हेमन्ते' इति तद्धर्मविधिः । अत्र च चिकीर्षितगार्हस्थ्योपायत्वं
 कृच्छ्रादेरवगम्यमानं तत्प्रतिबन्धकप्रच्युतिनिषेधातिक्रमकृ-
 त्पापनिवर्तनेन ; अन्यथा साक्षादुपायत्वासंभवात् । 'चण्डालाः
 प्रत्यवसिताः परित्राजकतापसाः । तेषां जातान्यपदानि
 चण्डालैः सह वासयेत्' इत्यादिनिन्दाश्चाकृतकृच्छ्रविषयाः ॥

सिद्धान्तस्तु—

चलतः स्थापयेद्धर्म इति यो नियमः स्मृतः ।

राज्ञां तत्राक्यशेषोऽयं चारयित्वेति शिच्छ्रुतेः ॥

नात्र प्रच्युतस्य गार्हस्थ्यपात्स्यैव प्रायश्चित्तं विधीयते ;
 किं तर्हि यस्मादाश्रमाच्छ्रुतिस्तत्रैव पुनः स्थित्यैव प्रायश्चित्तं
 राज्ञा कारयितव्यम् । 'गृहस्थत्वं चिकीर्षयः' इति तु पूर्वधर्मेषु
 अनुष्ठानचिकीर्षया च्युताविद् प्रायश्चित्तमिति ज्ञापनार्थम् ।
 एतु रागाश्रयत्वात्प्रच्युतः सन्वत्यादाश्रमे पुनः म्यातुमिच्छति,
 न प्रत्युक्तम्— 'प्रव्रज्यावसितो राज्ञो वास आमरणान्तिकम्'
 इति । प्रच्युतस्य पुनर्गार्हस्थ्यभ्यनुष्ठायाम् 'चण्डालाः प्रत्यव-
 सिताः' इत्यादिनिन्दाविषयो न स्यात् । न चारयानाचरित-
 कृच्छ्रादिविषयत्वम् ; को हि कृच्छ्रमासायासाद्भीतः स्वस्य च-
 ण्डालतां स्वापत्यानां च चण्डालैः सह वासं सहते ? तस्मात्प्र-
 त्यवरोहस्याशास्त्रीयत्वात्पतितकृतकर्मणां न विशामाघनत्वम् ;

व्यासादीनां तु वेजोविशेषाच्च प्रत्यवायः; नैश्च न रागात्प्रवृत्तम्; नैष्टिकादिभाव एव च पुनर्व्यवस्थितमिति वैषम्यम् ॥

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद-
योगात् ॥ ११ ॥

ऊर्ध्वरेतसा योनौ निपिक्करेतसामुपकुर्वाणव्यातिरिक्तानां प्रायश्चित्तमस्ति न वेति संशयः, योनौ रेतोनिषेकश्चावकिरणम् । 'खण्डितं प्रतिना रेतो येन स्याद्ब्रह्मचारिणा । कामतोऽकामतोवाहुरवकीर्णीति त बुधाः' इति जातुकर्णेनाविशेषेणोक्तस्य याज्ञवल्क्येन विशेषितत्वात्— 'अवकीर्णी भवेद्भ्रूत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् । गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुष्यति इति । तत्र विशेषस्य स्त्रीसंगमस्योपलक्षणत्वाश्रयणाद्दूरं सामान्यस्य रेतःखण्डनस्य संकोचः, शब्दार्थबाधाभाषात् । ततः सूक्तम्— योनौ निपिक्करेतसाम् इति । उपकुर्वाणं तु न संदेहः, तस्मिन्निन्दातिशयादर्शनेन गर्दभालम्भस्य निश्चयात् । अवकीर्णिमात्रे प्रायश्चित्तस्य विहितत्वात्, नैष्टिके तदभाववचनाच्च संशयः; आमरणाद्ब्रह्मचर्यसंकल्पभङ्गस्य तुल्यत्वान्नैष्टिकमहणं स्मृतौ यतिवनस्थयोरुपलक्षणार्थम् । पूर्वत्र प्रत्यबरोहे शास्त्राभावात्स न कार्यं इत्युक्तम्, इहापि नैष्टिकस्य वचनाभावाच्च प्रायश्चित्तम् ॥

प्रायश्चित्तनिषेधस्य विशेषविषयत्वतः ।

सामान्यविषयं शास्त्रमुपकुर्वाणगोचरम् ॥

‘आहूतो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं
न पश्यामि येन शुभ्येत आत्महा’ इति नैष्ठिकविषये वि-
शेषतः प्रायश्चित्ताभावः स्मर्यते; यत्तु पूर्वोदाहृतयाज्ञवल्क्य-
वचनम्, या च श्रुतिः—‘ब्रह्मचार्यवकीर्णा नैर्ऋतं गर्दभमा-
हमेत’ इति; तत्र स्मृतिः सामान्यविषया न विशेषस्मृति
वाचते ॥

श्रुतेस्तु विषयो दत्तो मनुना द्युपपातकी ।

प्रायश्चित्तनिषेधात्तु पतनं नैष्ठिकच्युतिः ॥

मनुर्हि गोवधप्रायश्चित्तमभिधाय, ‘एतदेव व्रतं कुर्मु-
रुपपातकितो द्विजाः । अवकीर्णवर्जं शुद्धपर्यं चान्द्रायणम-
यापि वा’ इति उपपातकियु सदतिदिश्य, पुनरवकीर्णिनमुप-
पातकित्वेन सिद्धवत्कृत्य ‘वर्जम्’ इति गोवधप्रायश्चित्तं
ज्यावत्, ‘अवकीर्णा तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे । पाकय-
ज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि’ इति प्रायश्चित्तान्तरं विद-
धाति; तेन ज्ञायते द्युपपातकमवकिरणमिति । नैष्ठिकादि-
च्युतेस्तु प्रायश्चित्तादर्शनस्मृतिसामर्थ्यादुपपातकादधिकेति प-
तनम् । तस्माद्युपपातकभूतोपकुर्वाणकच्युतिविषयं प्रायश्चित्तं
न पतनरूपनैष्ठिकच्यवनविषयमिति सिद्ध इह प्रायश्चित्त-
शास्त्राभावः ॥

अत्रोच्यते—

इह दर्शनधारणादभावो

दशविषयस्य ततोऽस्य कार्यता म्यात् ।

श्रुतिरिह च विशेषबोधने तु

श्रुतिवचसो व्यवधायिका तु जातिः ॥

‘प्रायश्चित्तं न पश्यामि’ इति स्मृतौ प्रायश्चित्तदर्शनाभावोऽवगम्यते, न तु प्रायश्चित्ताभावः, स तु दर्शनाभावात्कल्प्यः । न चाभावमात्रबोधान्निवृत्तिः प्रायश्चित्तस्य ; प्रागभावादिबांधेष्वदर्शनान् । अतो न कुर्यात्प्रायश्चित्तमिति निषेधविधिरुज्जतव्यः । तत्र स्मृतेर्मूलभूता श्रुतिः कल्प्येति त्रिभिर्व्यवधानम् । श्रुतेस्तु नैष्टिकविशेषोपसर्पणे अवकीर्णित्वसामान्यमात्रं व्यवधानम् । ततश्च यावत्स्मृतिः प्रायश्चित्तदर्शनाभावद्वारा प्रायश्चित्ताभावं नैष्टिकस्य विपर्ययकरोति तावच्छ्रुतिः सामान्यद्वारेण तस्य प्रायश्चित्तमवगमयतीति स्मृतिकृता श्रुतिकल्पना आमलूनसस्यवदन्वरा विधीयते । तथा प्रायश्चित्तस्मृतेरपि सामान्यश्रुतिकल्पना चेति द्वयन्तरितत्वात् व्यन्तरितप्रायश्चित्ताभावस्मृतेः सकाशात्प्रावलयम् । एवं च प्रायश्चित्ताभावसिद्धेर्नैष्टिकच्युतिरुपपातिकेति, मनुवचनस्य नोपकुर्वाणमात्रविपर्ययत्वम् ; प्रायश्चित्तादर्शननिर्देशस्तु ‘उपकुर्वाणो हि यत्कुर्याद्ब्रह्मचारी तु नैष्टिकः । तदेव द्विगुणं कुर्यात्’ इति हारीतेन द्विगुणप्रायश्चित्तम्यांक्तवान् एकगुणं न पश्यामीत्येवमर्थः यक्ष्यमाणासंध्यवहाररूपप्रयत्नगौरवार्थश्च । मिश्रुवनम्यविशेषे तु ‘वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्षयेत्’ कक्षो लतासमूहः । ‘मिश्रुवानप्रस्थवत्सोमशुद्धिवज्रम्’ इत्यवकीर्णित्वसामान्यप्राप्तगर्दभालम्भबाधेन प्रा-

वाञ्छितं विहितम् । सौमवृद्धिर्लतावर्द्धनम् । यत् 'वानप्र-
स्थो यतिश्चैव स्रण्डने सति रेतसः । पराकथयसंबुक्त-
मवकीर्णितं चरेत्' इति शाण्डिल्यवचनम्, तदभ्यासवि-
षयम्; प्रयोजनं तु पूर्वपक्षे भवकीर्णिना भिक्षुणा कृतं प्राणा-
यामप्रणवज्रपादि न विद्यासाधनम्; सिद्धान्ते तु कृतप्राय
श्चित्तेनानुष्ठितं विद्यासाधनमिति । अत एव लक्षणसंगतिः ॥

यद्विस्तृभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ १२ ॥

कृतप्रायश्चित्तरवकीर्णिभिर्व्यवहृतव्ययम्, न वेति संशयः;
तेषां कृतप्रायश्चित्तत्वात् निन्दातिग्रयस्मृतेश्च । पूर्वत्रावकीर्णि-
नां प्रायश्चित्तमस्तीत्युक्तम्, तर्हि प्रायश्चित्ते पापनिर्हरणाद्य-
वहार्यत्वम् ॥

दोषादव्यवहार्यत्वं प्रायश्चित्तेन नाशितम् ।

तथाप्यव्यवहार्यत्वे प्रायश्चित्तमनर्थकम् ॥

सिद्धान्तस्तु—

प्रायश्चित्तेर्निर्स्मृतं पारलौकिकवशुद्धता ।

नैहिकी वचनान्ध्यायबाधो बालवधादिवत् ॥

निषिद्धकर्मानुष्ठानजनितं पापं लोकद्वयेऽप्यशुद्धिमापाद-
यति । तत्र कस्यचित्पापस्य तु लोकद्वयेऽप्यशुद्धिः प्रायश्चित्ते-
रपनीयते, कस्यचित्तु परलौकाशुद्धिमात्रमपनीयते, ऐहलौकि-
की त्वशुद्धिः पापजन्या न शक्या प्रायश्चित्तरपनेतुम्— यथा

बालवधादौ । यदाह मनुः—‘ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः । शरणागतहन्तृश्च स्त्रीहन्तृश्च न संविशेत् ’ इति । न भोजनादिमर्षव्यवहारमाचरेदित्यर्थः । याज्ञवल्क्योऽपि—‘ प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् । कामतोऽव्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ’ अज्ञानेन कृतं कामतश्च कृतमेनः प्रायश्चित्तैरपैति, बालघ्नादिस्त्वव्यवहार्यो जायत इत्यर्थः; ‘ बालघ्नांश्च ’ इत्यादि वचनम् । ततश्च कृतप्रायश्चित्तस्य बालघ्नादेरिहाव्यवहार्यत्वेऽपि न प्रायश्चित्तवैयर्थ्यम्; पारलौकिकनरकपातपरिहारात् । न च यस्य प्रायश्चित्तं कृतं तत्कृतमशुद्धत्वं सर्वात्मना निवर्तत इति न्यायविरोधः; अस्य प्रायश्चित्तात्पापनिवृत्तिरिति प्रतिपादकवचनमूलत्वात्, वचनेन कृतप्रायश्चित्तस्य बालघ्नादेरिहाव्यवहार्यत्वप्रतिपादकेन न्यायस्य बाधात् । एवमिहापि ‘ नैष्ठिकानां वनस्थानां यतीनां चावकीर्णनाम् । शुद्धानामपि लोकेऽस्मिन्प्रत्यापत्तिर्न विद्यते ’ इति कौशिकवचनेनासंख्यव्यवहार्यत्वम् । न च निवृत्तपापे कथं तत्कृताशुद्धेरनुवृत्तिरिति वाच्यम्; निमित्तनिवृत्तावपि कार्यानुवृत्तेर्बहुलमुपलम्भादिति ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्याद्येयः ॥ १३ ॥

‘ आमित्येतदक्षरमुट्टीयमुपासीत ’ इत्येवमादीन्यङ्गाभितोपासनानि याजमानानि, उतात्विज्यानीति संशयः; फलस्य कर्तृगामित्ववचनात्, ऋत्विजो परिक्रयवचनात् । पूर्वप्र

कृतप्रारिधत्तः संख्यवहार्यं इत्युत्सर्गस्य वचनाद्वाच उक्तः, एवमिहापि आश्रयाङ्गानुष्ठातुरेवाभितोपासिकर्तृत्वमित्युत्सर्गस्य 'वर्षति ह्यस्मै य उपास्ते' इति वचनात्फलभाज एव यजमानस्य साधने कर्तृत्वप्रतिपादकाद्वाचः । 'पतितैर्व्यवहारे हि कदाचित्त्युक्तं प्रतियजः । आर्त्विज्यत्वादुपास्तीनां तत्संपर्कं तत्तत्त्यजेत्' इति सिद्धान्ताप्रयोजनं प्रकृतोपयोगश्च ॥

फलस्य कर्तृगामित्वाद्याजमानमुपासनम् ।

परिक्रयान्न कर्तृत्वं तस्याङ्गविषयत्वनः ॥

'वर्षति ह्यस्मै य एवं विद्वान्शृष्टीं पञ्चविधं मामोपास्ते' इत्यादिवचनानि कर्तुः फलमवगमयन्ति; अधिकारिणश्च फलभाक्त्वमिति फलमोक्तुर्व्यजमानस्यैवोपासनेषु कर्तृत्वम् । न चोद्गातृकर्तृकेऽप्युपासने अग्नि परिक्रयद्वारा यजमानस्य कर्तृत्वमिति वाच्यम्; परिक्रयस्य माङ्गप्रधानविषयत्वात् । न चोपासनाद्गमित्युक्तम् 'पृथगप्यप्रतिबन्धः फलम्' इत्यत्र; न चैवं गौर्दोहनदेरपि याजमानत्वशङ्का; अप्रणयनादेरङ्गत्वापश्यमृत्विग्भिर्निर्वर्त्यत्वेन सदाभितृष्टपश्चात्पररूपस्य पृथक्प्रयोगोपायोगान् । उपास्तीनां तु श्रियात्वाद्भवति पृथक्प्रयोगः । शक्यते श्रुतीयाशङ्केषु ऋत्विग्भिरनुष्ठीयमानेषु यजमानेन तेष्वर्त्विजादिदृष्टिरेष्यमित्युक्तम् । उपास्तीनामौद्गात्रममाज्या, 'सं ह यको दातव्यः' इत्याद्यन्यायदर्शनं च, अधिकारिण एव कर्तृत्वप्रतिपादकमुक्तेः न्यायाच्च वाच्यते इति तत्रै, अग्निर्धीयते—

साक्षात्परिक्रयाद्वा स्याद्यजमानस्य कर्तृता ।
नान्यथा गतिरस्त्यत्र वाक्यशेषसमाख्ययोः ॥

तदनुग्रहसिद्धयर्थमुपासनविधिस्ततः ।
परिक्रयेण कर्तृत्वं कांस्यभोजिवदाश्रयेत् ॥

यजमानगामिता हि फलस्य तन्मात्रकर्तृकत्वे परिक्रीतकृ-
त्त्विकर्तृकत्वे च संभवति ; ततः कांस्यभोजिन्यायेन लिङ्गदर्शनं
समाख्यां चानुग्रहीतुं फलश्रुतिः परिक्रयद्वारकं कर्तृत्वमाश्रय-
ति । न चेदमन्यार्थदर्शनमात्रं लिङ्गदर्शनम्, अपि तु वाक्य-
शेषः ; अतश्च न प्रापकान्तरापेक्षा समाख्यवाक्यशेषाभ्यां
यजमानगामिकफलसाधनानामपि उपास्तीनामृत्त्विकर्तृकत्वे सिद्धे
तदर्थमपि ऋत्विक्परिक्रेतव्यः । एवं च कर्तुरेव फलमिति
न विरोधः यजमानस्यापि द्वारकर्तृत्वादिति ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो
विध्यादिवत् ॥ १४ ॥

‘तस्माद्वाहणः पाण्डित्यं निर्विद्य ग्राह्येन तिग्मासेद्राल्यं
च पाण्डित्यं च निर्विद्याय मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याय
प्राहणः’ इति श्रूयते । तत्र संशयः— मौनं न विधीयते, उत
विधीयत इति ; मौने विधेरश्रवणात्, ग्राह्ये श्रुतस्य तस्य मौने-
ऽप्यनुपपन्नसंभवाच्च । पूर्वत्र ‘तं ह वकः’ इति वाक्यशेषाद-
ङ्गोपासनमृत्त्विकर्तृकमित्युक्तम्, एवमिहापि ‘अथ प्राहणः’

इति विधिविधुरवाक्यशेषात् 'अथ मुनिः' इत्येषोऽपि न विधिः ॥

एकवाक्यत्वलाभेन प्राप्तेः पाण्डित्यशब्दतः ।

वाक्ये स्तोत्रमनूद्येत मुनिश्च न विधीयते ॥

मुनिशब्दो हि ज्ञानवाची, मनवान्मुनिरिति व्युत्पत्तेः । संन्यासं वा वदेत्, 'मौने वानमस्थम्' इति स्मृतेः । ज्ञानप्रकर्षं वा पूषात्, 'मुनीनामप्यहं व्यासः' इति दर्शनात् । वाङ्मियम-
वाचको वा, 'मयूरा मौनिनस्तस्थुः' इति दर्शनात् । अत्र पूर्व-
स्मिप्रत्ययस्य ज्ञानं पाण्डित्यशब्देन प्राप्तम्, संन्यासश्च 'व्यु-
त्पाद्य मिश्रार्थं परन्ति' इति प्राप्तः । उत्तरमर्थद्वयमप्राप्तम् ।
तत्र यत्ररमित्यक्षे मुनिशब्दस्य भावार्थता न एवाक्षयणीयः,
'अथ मुनिः' इति वाक्याहूनिर्देशप्रतीतिकवाक्यत्वरभणाय वि-
ध्यपुराणविद्वाराय च ; तस्माद्वाक्यस्त्वर्थे मौनमनूयते ; यदा
पाण्डित्यशब्देन मौनाय प्राप्तिः, तदर्थं विधीयमानाय वाक्य-
स्य प्रशंसा, न हि पाण्डित्यं स्वरूपेण ज्ञानं भवति ; अपि तु
वाक्येऽनुष्ठिते भवन्तर् मौनावरपयोर्वा पाण्डित्यं कृतं भवे-
त्, तस्माद्वाक्यं प्रशंसमिति । यदा तु मौनमवोपमाभस्य
भावणानुपादः, तदा वाक्यमात्रानुष्ठानवानुपमाभसिधेयं न्यु-
यन इत्येवं प्राप्ते, अभिधीयते—

ज्ञानानिज्ञापरूपस्य मौनावाप्राप्तिसोऽप्यतः ।

वाक्यानकृतकावच पाण्डित्येन विधेयता ॥

ज्ञानोत्कर्षकामु दि वचणादिषु मुनिताभ्यः प्रपुम्बते, न

शास्त्रीयज्ञानमात्रवत्सु ; तेषु हि पण्डितोपाध्यायादिशब्दा एव प्रयुज्यन्ते । या तु ज्ञानमात्रे व्युत्पत्तिः, सा गच्छतीति गौः इतिवन्न शब्दार्थ व्यवस्थापयति ; संन्यासे च वृत्तिः गार्हस्थ्य्यादिसमभिव्याहारात् । वाङ्नियमे तु मुनिधर्मत्वलक्षणया मौनशब्दस्य वृत्तिः ; सा च निरूढेति मुख्यवत्प्रतीतिः ; न वाचकत्वमेव, अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात् । वाङ्नियमे तु मुख्यत्वे रूढिकल्पना स्यात् । ज्ञानातिशये तु योगस्यैव नियतप्रयोगवशात्संकोच इति लाघवम् । तेन पाण्डित्यशब्देन ज्ञानमात्रवाचिना मौनस्याप्राप्तत्वाद्धिधेयपाण्डित्येनैककर्तृकत्वनिर्देशाच्च विधिः । न तु पाण्डित्यं श्रवणम्, बाल्यं मननम्, मौनं तिदिध्यासनम्, ब्राह्मण्यं साक्षात्कारः । तत्र साक्षात्कारः फलत्वाच्च विधेयः । उपायास्तु अन्वयव्यतिरेकसिद्धसाधनतया न विधेयाः । अवघातादिवैषम्यं च कल्पतराद्युपपादितम् । तत्र कथं मौनविधिः ? उच्यते—

विधिवन्निगदैः शब्दैः प्राप्तार्थस्यानुवादिभिः ।

प्रशृण्वतिशयोत्पादात्स्तुत्यामी विधयो मताः ॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ १५ ॥

‘वास्त्येन तिष्ठासेम्’ इत्यत्र बालभावस्य इच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्बालस्य कर्म तद्वितार्थः । तर्त्तिक कामचारवाद्भक्षणता भावशुद्धिर्वेति सशयः ; उभयोरपि बालकर्मत्वात् ।

पूर्वत्र मौनशब्दस्य ज्ञानातिशये प्रोसद्धिमाश्रित्यापाममौनविधि-
राशितः, एवमत्रापि बाल्यशब्दस्य कामचारादौ प्रसिद्धेः,
तदेव बाल्यम् । न हि शुद्धभावेऽपि तपस्विनि बालशब्दं
वृद्धाः प्रयुञ्जते ॥

सकलं बालचरितमसंकोचाद्विधीयते ।

अविद्वद्विषयत्वेन न निषेधैर्विरुद्धत्वा ॥

सामान्यविषयं हि शौचादिनियमविधानं निषेधशास्त्रं
धानेन विशेषविधानेन अविद्वद्विषये व्यवस्थाप्यसिति ज्ञाने,
अभिधीयते—

ज्ञानाज्ञत्वेन बाल्यस्य विधिः शोष्याविरोधिनी ।

शास्त्रान्तराविरुद्धा च भावशुद्धिर्विधीयते ॥

‘बाल्यं निर्विद्य मुनिः’ इति क्त्वाप्रत्ययेन ज्ञानातिशयं
प्रति बाल्यमङ्गत्वेनावगतम् । न च यथेष्टचेष्टायां प्रधानमिद्विः ;
तस्मान्छेष्यनुमहाय भावशुद्धिरैव बाल्यम् । एवं च नियमशा-
स्त्रमपि न संकोच्यम् । यद्यपि केषलायां भावशुद्धौ बाल्यश-
ब्दो न प्रसिद्धः, तथापि कामचारादिभक्ति बालं भावशुद्धि-
रस्ति ; तावन्मात्रपरतया बाल्यशब्द उच्यतेऽप्यवशात्संको-
च्यः ॥

एदिकमप्यप्रस्तुतमतिपन्थे तदज्ञानात् ॥

विद्याभाषणं निरूपितम् । इदानीं तत्फलं विद्या किमेति-

क्येव उतासुप्मिक्यपीति विचार्यते, कारीरीफले ऐहिकत्व-
नियमदर्शनात्, चित्राफले चानियमदर्शनात् ॥

वेदनेच्छोपयोगित्वाद्यज्ञादेरविधानतः ।

श्रवणादेश्च तत्साध्या विद्या ह्यत्रैव संभवेत् ॥

न तावत् यज्ञादेः साक्षाद्विद्यासाधनत्वम्, येन तस्य विधे-
यत्वेन तत्फलस्य विद्यायाः साक्षात्कारस्य इह वासुत्र वा जन्म
भवेत्; किं तु विविदिपायाम् । सा च जातैव; अन्यथा
श्रवणादौ प्रवृत्त्ययोगात् । श्रवणादि च न विधेयमित्युक्तम्;
तस्माद्भुजिफलवृत्तिवत्श्रवणादिफलं विद्या ऐहिक्येवेति प्राप्ते,
अभिधीयते—

श्रवणादेः फले विद्याजन्मनि प्रतिबन्धकम् ।

अथं निहन्ति यज्ञादि प्रतिबन्धयस्ति तस्य च ॥ .

तद्धुमानियतत्वेन यज्ञाद्यनियतं फले ।

तत्सापेक्षत्वतो विद्या नैहिक्येव नियोगतः ॥

इह हि 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि
बहवो यं न विद्युः' इति शास्त्राद्यथा श्रवणादिस्वरूपनिष्प-
त्तये सत्त्वशुद्धिद्वारा विद्यायामभिरुचिः श्रवणादिप्रवृत्तिप्र-
तिबन्धकत्वापत्तिरासश्च यज्ञादिभिः कर्तव्यौ, एवं श्रवणा-
दिभिः साक्षात्कारोत्पत्तौ च यज्ञादिभिस्तौ कर्तव्यौ; एवं
च यज्ञादिभिः सत्त्वशुद्धयादिना श्रवणादिपूसादितेष्वपि

विरोधिकर्मान्तरैः प्रारब्धफलैः' विद्याफले प्रतिबन्धाप्रति-
 बन्धौ संभाव्येते । न चैवं प्रतिबन्धकनिवर्तकस्यापि प्रतिबन्ध-
 कान्तराभ्युपगमे तन्निवृत्त्यर्थमपि कर्मान्तरमनुष्ठेयमित्यतवसा,
 कल्पत्रिविदिर्परिपरि वा फलप्रतिबन्धविगमाय यज्ञाद्यनुष्ठेयमा-
 प्येतेति वाच्यम्; विद्यात्यादे यज्ञादिप्रतिबन्धकस्य पाप्मनो
 भागाद्वारेण प्रतिबन्धकत्याश्रयणाद्भोगनिवृत्तौ वक्ष्ये यज्ञा-
 दिभिः फलसिद्धयर्थसत्त्वशुद्धपारम्भसंभवाम् । ततश्चानियत-
 फलयज्ञादिसाधकत्वाच्छ्रवणादेरविधेयस्याप्यनियतफलत्वमिति
 सिद्धम् ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थाचष्टे-
 स्तदवस्थाचष्टेः ॥ १७ ॥

मुक्तिः सातिशयो न वेति मशयः; इत्याधमस्य साति-
 शयत्वान्, मद्गण एकरूपत्वात् । पूर्वप्र भवणादिमाध्यवि-
 द्यायाः प्रमाणजन्यत्वेनैकरूपत्वेऽपि यज्ञाद्युपकृतप्रवणादिबी-
 यैविशेषात्तत्फलविद्यायामैहिकासुप्तिकत्वरूपविशेष उक्तः, तर्हि
 सातिशयोपासनाप्यत्वान्मोक्षोऽपि सातिशयः; कर्मफलम् ।
 न च मद्गोपामनापरिपाकजन्यमाश्रतकारनान्तरीयकार्यं मुक्तिं
 ऐहिकसुप्तिकत्वविशेषसंभवः इति त्यक्तवत् एव मुक्तेरुत्कर्ष-
 निकर्षो भ्याताम्; तथा च कर्ममाप्यत्वात्तदपि संभवान्
 'पुरुषार्थोऽतः' इत्यन्वाशेषः ॥

मुक्तिः साविशया साविशयसाधनसाध्यवः ।
विद्याफलत्वतश्चैवं विमुक्तिः सगुणा यथा ॥

उत्तरम्—

माद्ये सन्न्यभिचारित्वं द्वितीये सगुणत्वतः ।
सोपाधितोभयत्रापि श्रुतिभिर्वाधितार्थता ॥

ऐहिकामुष्मिकत्वरूपाविशयवत्त्वाद्द्विधाया मोक्षेऽविशय-
साधनम्, एतन्नन्मजन्मान्तरानुष्ठितयागमाध्यस्वर्गैरनैकान्ति-
कम्; विद्यास्वरूपमताविशयस्य हेतुत्वे त्वमिद्धिः; वेद्यमङ्ग-
व्यरूपेण तस्या अप्येकरूपत्वान् । विद्याफलत्वं तु सगुणत्वेन
सोपाधिकम् । न च साधनव्याप्तिः, भाष्योदाहृतश्रुतिभिर्मुक्ते-
र्निर्गुणत्वावगमान्; अत एव कालात्ययापदेशश्च । न चाविद्या-
निवृत्तावपि रूपतोऽविशयः; अभावत्वान्; प्रतियोगिकृतवस्तु-
म्यान्; स च न मुक्तः; निःशेषाविद्योच्छेदेन विना मुक्तेरेवा-
मावादिनि ॥

सत्यादिभिः प्रचलवर्गैः समीरणैः

रजस्तमोघननिवहं निवारिते ।

समादिभिर्विगतमले हृद्गन्धरे

सत्कारके विद्यमनि योघधन्द्वाः ॥

इति भीमत्यामहसागिशाहकाचार्यभामदनुभवानन्दपुण्य-
वादादिभ्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे

मूर्त्तौपाध्यायस्य अनुसृतैः पादः ॥

इति मूर्त्तौपाध्यायः ॥

चतुर्थोऽध्यायः ॥



आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

इह साधनफलयोर्हेतुहेतुमत्त्वकृतं शब्दं 'मुख्यकमेण वाङ्मनाम्' इतिवत् तद्विचारयोराश्रित्य साधनविचारानन्तरं फलविचारः क्रियते— नन्विदैकवचनपरिमहो नास्ति; सत्यम्; अत एव तद्वदित्युक्तम् । न च सोऽनर्थकः; मन्मदज्ञानस्य सपरिहरस्य प्राद्वोक्षसाधनत्वेनोक्तस्य वादिपरिहरिपतमोक्षेऽप्ययोग्यतामवधार्य साधनभासत्वदृष्ट्यां तन्निरसनप्रयोजनत्वान्, मगुणविक्षाफलस्य चिन्तनीयत्वात् । जीवन्मुक्तिनिरूपणमावपदार्थः । तत्प्रयोजनं च तदधिकरणे गह्यते । आवृत्त्यादिसाधनानामत्र विचारेऽभिप्रायो वर्ण्यते—

शाब्दनिश्चयसामग्री विदित्वा चिन्तित्वा पुरा ।

मात्सात्कारफलाक्षिप्त्वा चिन्त्यते फलप्रतिषेधौ ॥

'आरंभेति' इत्याद्यधिकरणवाच्यस्य शास्त्रिकम् । प्रधानं तादृक्प्रवृत्त्यादीन्व्यहंमहोपासनादि चोदाहृत्य विचार्यते— किं नानि सकृत्प्रयोजनव्यापि, असकृदेति; अट्टहायत्वरट्टहायत्वरंभाषनाभ्यां संशयः ॥

अदृष्टा श्रवणादीनां मोक्षसाधनतोचिता ।

चोदनालक्षणा चेति स्यात्प्रयोगः सकृत्सकृन् ॥

न तावत्परोक्षप्रभासविज्ञानफले शास्त्रयुक्ती प्रत्येकं मिलिते च अनावृत्ते आवृत्ते वा साक्षात्कारं प्रत्यक्षप्रमाणकलं प्रसोदु-
महवः; अतिप्रसङ्गान् । न च भावनामाज्ञजमपरोक्षमपि
ज्ञानं प्रमाणम्, प्रातिभत्वान्; अतः दृष्टद्वारासंभवान्, मुक्ति-
फलस्य चात्यन्तपरोक्षत्वात्तदर्थानि श्रवणमननध्यानानि चो-
द्यमानानि यावद्विज्ञानमनुष्ठेयानि नाधिकमावर्तनीयानि ।
मोक्षस्य ज्ञानमाष्यत्वश्रुतयः स्तुत्या कथंचिद्व्याख्येयाः ।
उपासनानां तु उपासनशब्दार्थनिष्पत्तिपर्यन्तमावृत्तिरिति प्राप्ते,
अभिधीयते—

दृष्टोऽर्थः श्रवणादिभ्यः साक्षात्कारप्रमोदयः ।

मुक्तिर्यद्भ्रान्तवरीयेति तत्प्रयोगः कल्यारधिः ॥

न तावच्छ्रवणादीनां दृष्टे संभवति अदृष्टार्थः कल्प्यः;
दृष्टामंभवश्च मोक्षस्य माष्यत्वश्रवणाद्वा, सिद्धेऽपि त-
स्मिन्श्रवणादिजन्यमाशात्कारम्यानुपयोगाद्वा, तस्य श्रवणाद्य-
जन्यत्वाद्वा, जन्यत्वेऽप्यप्रमाणत्वाद्वा, तच्च तादृशविषयव्यभि-
चारदर्शनाद्वा, प्रमादरणाजन्यत्वाद्वा । नाद्यः, मुक्तः मवाम-
नाविषोच्छेदनात्मनः स्वरूपावस्थानलक्षणायाः श्रुतिमिद्ध-
त्वान्; श्रुतेऽत्र संभवन्मुग्याख्यायाः श्रुतिलक्षणाव्यवहारात् ।
न द्वितीयः, अत्रोक्षप्रमत्वापरोक्षानुद्यमानेन विना निरू-

त्पभावात् । न तृतीयः, गान्धर्वशास्त्रश्रवणाद्यभ्याससचिव-
श्रोत्रेण पद्भ्यादिसाक्षात्कारोपजनदर्शनेन अद्यात्मत्वसाक्षा-
त्कारस्य वेदान्तश्रवणाद्यभ्याससचिवमनोयोनित्वस्यानुमान-
सिद्धत्वात् । न चाप्रामाण्यज्ञा, विषयतयात्वस्य मौलिकप्र-
माणसंवादात् । न च संवादाधीनं प्रामाण्यम्, प्रतिबन्धनि-
रासार्थत्वात्तस्य । न चाकरणजन्यत्वम्, मनोजन्यत्वात् ;
जतो दृष्टार्थत्वाच्छ्रवणादेः, उपासनानां च 'यस्य स्याद्दृष्टा'
इत्यादिशास्त्रेण साक्षात्कारद्वारा फलप्रवणात्साक्षात्कारपर्य-
न्तमावृत्तिरिति सिद्धम् ॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ २ ॥

'तत्त्वमासि' 'अहं ब्रह्म' इत्यादिसामानाधिकरण्यं गौणम्,
मूल्यं वेति विरोधपरिहारासंभवसंभवाभ्यां संशयः ॥

नित्यापरोक्षो जीवात्मा परोक्षः सर्वदा परः ।

कम्यापरोक्षसिद्धचर्यमावृत्तिः धवणादिषु ॥

इत्याक्षेपही संगतिः । तथाहि—

विरुद्धधर्मयोगित्वात्समारोपानिरूपणान् ।

सामानाधिकरण्यादि गौणं जीवपरत्वनोः ॥

पुरोवर्तिनि द्रुक्वे सामान्यरूपेणालोचिते विशेषेणागृहीते
विशेषान्तरसमारोपः ; आत्मनस्तु निर्विशेषसामान्यस्य जागृ-
हीतमस्ति किंचिदुपमिति समारोपासंभवात् औत्पत्तिकविरु-

द्वगुणसंभर्गो जीवब्रह्मणी भिनत्ति इति तयोः सामानाधिकर-
ण्यं गौणं प्रतीकोपदेशपरमिति प्राप्ते, उच्यते—

न मुख्ये संभवत्यर्थे जघन्यः परिगृह्यते ।

विरुद्धधर्मवस्त्वं प्रागध्यासेनोपपादितम् ॥

पूर्वपूर्वाध्यासोपाधेः सामान्यरूपेण स्फुरणाद्विशेषतोऽस्फु-
रणाच्च विरुद्धधर्माध्यास इति इह वक्तव्यस्य प्रागेवोपपादित-
त्वान्मुख्यं सामानाधिकरण्यमिति ॥

न प्रतीके न हि सः ॥ ३ ॥

‘मनो ब्रह्मेत्युपासात्’ इत्यादि ब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्युपदेशप-
रेषु याक्येषु संशयः— किं मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिद्वारा तदभि-
न्नर्जावदृष्टिरपि विधित्मिता, किं वा मनआदीनां ब्रह्मविका-
राणां तद्वारा जीवात्मत्वमानीयाहंमहोपानने विधित्मितम्,
तथा च प्रतीकोपदेशानामर्थान् ‘इदं सर्वं यदयमात्मा’ इति-
बन् मनआदिविद्यार्थत्वमर्पाति, किं वा ब्रह्ममाप्रदृष्टिविधि-
रिति; जीवब्रह्मभेदस्य प्रागुच्यत्वान्, अहं मन इत्यभवणाच्च ।
तत्र—

प्रामाण्यमविशेषेण मतं श्रुतितर्कयोः ।

ततः प्रतीकेऽदृष्टित्वात् अहंमहोऽर्थतः ॥

अत्रोपपत्ते—

युक्तो वाचनिकार्थेषु यावदुक्तसमाश्रयः ।

अर्थात्तत्ताधिको वादः स्यादाकाङ्क्षाविरोधयोः ॥

सतोरिति शेषः । श्रुताधिकोऽर्थः श्रुतेनाविरुद्धः श्रुतोपपा-
दकरच कल्पनीयः । प्रतीकेष्वहंदाष्टैः प्रतीकानां बाह्यमहो
ब्रह्माभेदात्कल्प्यमानः श्रुतं विहन्ति; सकलस्यैव ब्रह्माभेदेना-
तिप्रसङ्गात् । मनआदिविषयविवक्षायां च कुत्र किं बोधास्ये-
तेति । अतो ब्रह्मदृष्टिर्मनआदाविति ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ४ ॥

यथावचनं वाचनिकोऽर्थ इत्युक्तम्; प्रकृतोदाहरणेषु सा
मानाधिकरण्यमात्रश्रवणात्को वाचनिकोऽर्थ इत्याकाङ्क्षायां
विचार्यते । किं मनआदिदृष्टिर्ब्रह्मणि कर्तव्यम्, तद्दृष्टिर्वा
केचित् ॥

फलवच्च प्रधानं च संस्कार्यमिति वैदिकान् ।

न्यायान्निश्चित्य शास्त्रार्थमुपेक्ष्यो लौकिको नयः ॥

ब्रह्मणः फलप्रसवसामर्प्येन फलवत्त्वान्; अत एव प्रधान-
त्वाच्च ब्रह्मोपादित्यादिदृष्टिभिः संस्कर्तव्यम् । ब्रह्मदृष्ट्या तेषामु-
पासने अन्यदुपास्यमन्यत्फलं ददातीति वैयधिकरण्यादतिप्रस-
ङ्गाच्च प्रधानशब्दे च न दृष्टिलक्षणा युक्तेति शास्त्रीयन्याया-
श्रित्तेति वास्तवार्थे, निरुदृष्टिनोत्कृष्टे इति लौकिको न्यायः ना-
दरणीय इति प्राप्ते, उच्यते—

स्वपरोपासने तुल्या ब्रह्मणः फलदातृता ।

कांस्यभोजितयेनातो लोकन्यायोऽनुगृह्यताम् ॥

ब्रह्मणः सर्वकर्माध्यक्षतया स्वपरोपासनयोः फलदातृत्वा-
विशेषान् प्राधान्याविधाताश्च शास्त्रार्थसंदेहे लौकिकन्याया-
न्निर्णयः कियते ब्रह्मवादित्यादावारोप्यमिति; तथा च तस्या-
र्थतः प्रधानस्यापि शब्दतो गुणत्वाच्चरमश्रतत्वादितिपरत्वाच्च
तच्छब्दस्य दृष्टिलक्षणार्थत्वं युक्तमिति ॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ५ ॥

‘य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत’ इत्याद्यद्भावबद्धोपा-
सनेषु पूर्वबद्धकर्पणिकर्पणविशेषाभावात्संशयः किं दृष्टिः क वि-
धित्सितेति ॥

कूटदृष्टया क्रियाभावात्संस्कार्यस्त्वक्रियात्मकः ।

प्राथम्यादुपचाराच्च सामाधारत्वकीर्तनान् ॥

यद्यपि ‘यदेव विशया करोति’ इति विशयायाः क्रियासह-
कारित्वश्रुतेः अनुपकारिण्याश्च सहकारित्वायोगाग्ज्ञानस्य स्व-
गोचरे प्रकाशाख्यसंस्कारजनकत्वस्य दृष्टचरत्वात्समारोपरू-
पण्यापि विशयाज्ञानस्य कथंचिदन्त्रेव गार्हपत्यसंस्कारः क्रि-
याद्वारा फलवत्त्वं भ्रम्यते, तथाप्युद्गीथादेरादित्यादिदृष्टिदृष्टस्य
रंजितदृष्टिदृष्टस्येव पुरोपासितमन्त्रत्वं क्रियात्वमेवाभिभूयते; आ-
दित्यादेः पुनरुद्गीथादिक्रियादृष्टया संस्क्रियमाणस्य क्रियात्वो-

द्रवात् न क्रियैव संस्कृता स्यात् । प्रथमभुनाद्यादित्यादयः
 'एतस्यासृच्यप्युदं माम' इति पृथिव्यग्न्योः भक्तसामशब्दो-
 पचारः तदृष्टिविपत्तवसादृश्याद्भवति । 'लोकेषु सामोपासीत्'
 इति च लोकाणां सायाधारत्वं संकीर्त्यते । तस्माद्नद्रेष्वङ्ग-
 दृष्टिरिति प्राप्ते, उच्यते—

फलवत्क्रियमाणं च निर्दिष्टं च द्वितीयया ।

आदित्यादिधियोपास्त्रुद्धीथाद्यङ्गमिष्यते ॥

स्वतो धीर्यवतः क्रियमाणस्य विद्यासंस्कार्यत्वभवेनात्
 उद्धीथादेश्च तथाभावात् गौणज्ञानस्य च तत्क्रियात्वातिरोधाय-
 कत्वात् 'माम' 'उद्धीथम्' इति च कर्मत्वनिर्देशात् अत एव
 तन्मध्यपातिन्याः 'लोकेषु' इति सप्तम्यासृतीथार्थत्वात् 'इय-
 मेव ऋक्' इति चैतकारसंयुक्तश्रुतिया विधेयत्वावगमेन प्रा-
 थम्यस्याकिञ्चित्करत्वात् पृथिव्यग्न्योः भक्तसामशब्दस्याधि-
 ष्टानारोप्यसंबन्धेन साक्षणिकत्वोपपत्तौ गौणत्वकल्पनायाश्चा-
 न्याप्यत्वाद्दुद्धीथादिष्व्यादित्यादिदृष्टिरिति सिद्धम् ॥

॥ आसीनः संभवात् ॥ ६ ॥

अद्वावयवदोषामनेषु अनिपतभरीरस्थितिसाध्याङ्गपारत-
 न्त्यात् शरीरस्थितेरनिवमः प्रागर्पसिद्धः । परिशिष्टोपासनेषु
 ब्रह्मध्याने च संशयः— आसनं नियतं न वेति; स च मा-
 नसत्त्वेनोभयथापि तेषां संभवात् ॥

विद्यासु नासनस्वास्ति श्रुत्यादि विनियोजकम् ।
नापेक्षा मानसत्वेन बाह्यचेष्टानपेक्षणात् ॥

‘शिरुन्नतम्’ ‘समं काय’ इति च धारणायोगार्थमा-
सनविधानम् ; अतो नोपासनादावासननियम इति प्राप्ते,
उच्यते—

चित्तैकाग्र्यं विना ध्यानं नेति तत्तदपेक्षते ।
तच्चासनं विना नेति विध्यादतमिहासनम् ॥

ततश्च प्रयोगविधिरविशेषप्रवृत्तीऽप्यासनविषये संकोचम-
नुमन्यत इति ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ७ ॥

तेष्वेवोदाहरणेषु दिगादिनियमोऽस्ति न वेति वैधत्वान्मा-
नसत्वाच्च संशयः । नियतमर्थं निरूप्य तत्प्रत्युदाहरणत्वेना-
नियतनिरूपणात्संगतिः ॥

पुण्यदिग्देशकाला ये विद्दिता वैधकर्मसु ।
मामान्यतस्ते नापेक्ष्याः कथं नैधैरुपासनैः ॥

यथा ‘समे शुर्चा’ इत्यादिनियमो विहितत्वादाभितः,
एवं मामान्यशास्त्रविहितपुण्यदेशादिनियमोऽपि आश्रयितव्य
इति ; अत्रोच्यते—

नियमो देशकालादेर्नेष्यते तत्प्रतीक्षणे ।

शेषिषाधमङ्गः स्यादैकाग्र्यानियमाद्विषः ॥

यदा शुभदेशादिप्रतीक्षणं तदा चित्तैकान्त्यस्य पाक्षिक-
त्वेन शेषिध्यात्तथाधमसङ्गत् जातेष्टाविव जन्मानन्तर्यै देशा-
दिनियमस्त्यज्यते । 'समे शुचौ' इत्यादि तु मनोचतुष्टयत्वाद्-
क्षत इति ॥

अत्र प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ ८ ॥

अत्राहंमहोपासनान्मुदाहरणम् ; तेषां साक्षात्कारद्वारा फ-
लभवात् तावत्पर्यन्ता आश्रुतिः प्राक्सिद्धा । इदानीं जाते
साक्षात्कारे प्रयोगः समापनीयः, किं वा आप्रायणात्कर्तव्य
इति पारलौकिकफलस्यान्त्यप्रत्ययापेक्षत्वात् तस्य चान्यतः
सिद्धयसिद्धिभ्यां संदिश्यते । प्रतिप्रयोगारम्भकालविचारस्य
महाप्रयोगाधिकालविचारस्य च विषयद्वारं पौर्वापर्यम् ॥

अश्रुतत्वाददृष्टेनाप्यन्त्यप्रत्ययसंभवात् ।

आप्रायणप्रयोगोऽहंमहाणां निष्प्रमाणकः ॥

उच्यते—

दृष्टेऽर्धे नियते लभ्ये नादृष्टो नापि पाक्षिकः ।

कस्यते लभ्यते चायमाप्रायणमुपासने ॥

यद्युपासनाजन्यमदृष्टं फलमिद्वान्ताप्रत्ययमाक्षिपेत्स पाक्षि-
कः स्यात्, अदृष्टान्तरप्रतिबन्धसंभवात् ; आप्रायणमुपासना-
नुश्रुत्वां दृष्टद्वारेण जायमानो नियतः स्यादिति आप्रायणमुपा-
सनानुश्रुतिरिति ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ ९ ॥

इह पूर्वोक्ताप्रायणानुष्ठानस्य ब्रह्मध्यानेऽपवादसिद्धयर्थं स-
गुणविद्यया तत्फलविरोधिकर्मणां समानन्यायतया निवृत्तिसि-
द्धयर्थं च ब्रह्मविदो निवृत्तसकलदुरिततया कृतकृत्यता प्रति-
पाद्यते । ब्रह्मसाक्षात्कारः सर्वपापाश्लेषविनाशको न वेति
श्रुतिद्वयविरोधशङ्कया संदेहः ॥

श्रुत्यर्थानुपपत्तिभ्यो ज्ञानस्याघविनाशिता ।

न प्रसिध्यति तद्वाधान्निषेधेन बलीयसा ॥

ज्ञानस्याघविनाशकता श्रुतत्वाद्वा स्यात्, तद्वृत्ताज्ञानतत्कार्य-
निवर्तनसामर्थ्याद्वा, तस्य श्रुतमोक्षसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या
वा । नाद्यः ; प्रायश्चित्तस्यैव ज्ञानस्य दोषसंयोगेनाश्रुतत्वात् ;
'पापं कर्म न क्षिप्यते' 'पाप्मनः प्रदूयन्ते' इति चार्थवादस्य
पापगतानिष्टसाधनत्वबोधिवलवन्निषेधविधिविरुद्धस्याप्रमाण-
त्वात् । न द्वितीयः ; निषेधविरोधादेव कल्पनीयज्ञानसामर्थ्य-
स्याप्रारब्धविषय इवापापविषये व्यवस्थापनान् । नापि तृती-
यः, योगसामर्थ्यलब्धबहुशरीरेष्वपर्यायमेवोपभोगेन क्षपितस-
कलदुरितस्य ज्ञानं मोक्षसाधनमित्यपि निषेधविरोधादेव कल्प-
नीयत्वान् । अतो ज्ञानस्याप्यघविनाशित्वे प्रमाणाभावादेव
तदभाव इति प्राप्ते, उच्यते—

शक्तिमत्त्वं सतोऽघस्य नाशं तस्यैव चान्यतः ।
प्रमिष्वतां प्रमाणानां क विरोधः क बाधनम् ॥

सति हि विरोधे बलवता दुर्बलं बाध्येत ; श्रुत्यर्थानुपपत्त-
यस्तु सति ज्ञाने दुरितस्यैव समूलनाशं प्रमिष्वन्त्यः सति
दुरिते तस्य फलसामर्थ्यमात्रबोधिना निषेधेन विषयभेदाद्-
विरुद्धा इति सिद्धं तैर्ज्ञानस्याघविनाशित्वामिति ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १० ॥

ज्ञानस्य सुकृतनिवर्तकत्वसंदेहे

श्रुत्यर्थयोरिदासिद्धिमधिकां सुकृतक्षये ।
आशङ्क्य तन्निरासार्थं पूर्वन्यायोऽतिदिश्यते ॥

‘सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते’ इति पापमात्रनिवृत्तिश्रव-
णान्, प्रत्युत विशेषविधानेन शेषपर्युदासात् सुकृतक्षयभव-
णम् ; ‘उभे ह्येवै एते तरति’ इति तरणस्य ज्ञाननिमित्त-
त्वाश्रवणाद्यथासंभवं भोगेन सुकृतं ज्ञानेन दुष्कृतमिति क-
ल्प्यम् । सामर्थ्यमपि ज्ञानस्य स्वविरोधिनिवर्तने स्यात् । न
च शास्त्रीयस्य ज्ञानस्य शास्त्रीयेण कर्मजा विरोधोऽस्ति ; अतः
श्रुत्यर्थयोरभाषादर्थोपनिमात्रं पूर्वबदन्यथदित्तव्यमिते अभि-
काशहायाम्, उच्यते—

अविनिष्टं हि सामर्थ्यं ज्ञानस्याज्ञानभूमिषु ।
एत्रिन्यायेन पापस्य तरणं विदुषः भूतम् ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ

तद्व्यपदेशात् ॥ ९ ॥

इह पूर्वोक्ताप्रमाणानुष्ठानस्य ब्रह्मध्यानेऽपवादसिद्धयर्थं स-
गुणविद्यया तत्फलविरोधिकर्मणां समानन्यायतया निवृत्तिसि-
द्धयर्थं च ब्रह्मविदो निवृत्तसकलदुरिततया कुतकृतता प्रति-
पाद्यते । ब्रह्मसाक्षात्कारः सर्वपापाश्लेषविनाशको न वेति
श्रुतिद्वयविरोधशङ्कया संदेहः ॥

श्रुत्यर्थानुपपत्तिभ्यो ज्ञानस्याघविनाशिता ।

न प्रसिध्यति तद्वाधान्निषेधेन वर्णयसा ॥

ज्ञानस्याघविनाशकता श्रुतत्वाद्वा स्यात्, तद्गताज्ञानतत्कार्य-
निवर्तनसामर्थ्याद्वा, तस्य श्रुतमोक्षसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या
वा । नाद्यः ; प्रायश्चित्तस्यैव ज्ञानस्य दोषसंयोगेनाश्रुतत्वात् ;
'पापं कर्म न श्लिष्यते' 'पाप्मनः प्रदूयन्ते' इति धर्मवादस्य
पापगतानिष्टसाधनत्वबोधिवलवन्निषेधविधिविरुद्धस्याप्रमाण-
त्वात् । न द्वितीयः ; निषेधविरोधादेव कल्पनीयज्ञानसामर्थ्य-
स्याप्रारब्धविषय इवापापविषये व्यवस्थापनात् । नापि तृती-
यः, योगसामर्थ्यलब्धबहुशरीरेष्वपर्यायमेवोपभोगेन क्षुपितस-
कलदुरितस्य ज्ञानं मोक्षसाधनमित्यापि निषेधविरोधादेव कल्प-
नीयत्वान् । अतो ज्ञानस्याप्यघविनाशित्वे प्रमाणाभावादेव
तदभाव इति प्राप्ते, उच्यते—

कामजातिविरुद्धाग्नेः काष्ठादुत्पत्तिदर्शनात् ।
ज्ञानं च नित्यकर्मोत्थं स्याच्च तज्जातिनाशकम् ॥

ततो नोक्तदोषद्वयमिति ॥

अथवा सगुणज्ञानान्नित्यानामपि कर्मणाम् ।
अश्लेषनाशावाशङ्क्यावविशेषश्रुतेरिह ॥

‘तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते’ इत्यविशेषश्रवणात्सगुणविद्यातो
नित्यानामप्यश्लेषविनाशाविति ॥

विद्याफलस्य साध्यत्वात्तद्विदां कर्मदर्शनात् ।
सुकृतस्य च काम्यत्वान्नित्यानां सगुणेऽन्वयः ॥

सगुणविद्याफलस्य साध्यत्वान् ‘यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तो-
ऽहमास्मि’ इति सगुणविदः कर्ममन्वन्धलिङ्गान् नित्यानां सत्त्व-
शुद्धपतिशयापानद्वारेण विद्याफलोपकारकत्वमभवान् ‘तत्सु-
कृतदुष्कृते’ इति सुकृतशब्दस्य काम्येऽप्युपपत्तेः, नित्यकर्मणां
‘विद्यया सह तत्फले ममुचयः न निवृत्तिरिति ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १३ ॥

इहाङ्गावबद्धोपास्तीनां किं नित्यकर्मवत्तत्कार्यत्वम्, उत
काम्यकर्मवद्विद्यया निवृत्तिरिति कर्माङ्गत्वानङ्गत्वाभ्यां संदेहे,
पूर्वन्यायापवादात्मंगतिः । अङ्गत्वानङ्गत्वसंदेहश्चैतदर्थो भाष्ये
दर्शितः । यद्यपि ‘तन्निर्धारणानियमः’ इति अङ्गत्वं निराकृ-
तम्, तथापि,

निन्दानिषेधौ कल्प्येते विद्यावत्त्वप्रशंसया ।

कर्मणः केवलस्यात उन्मज्जत्यङ्गता पुनः ॥

अङ्गत्वे च प्रधानैः सह तत्कार्यत्वात्त काम्यवद्विद्याया निवृ-
त्तिरङ्गावबद्धोपास्तीनामिति प्राप्ते, उच्यते—

कर्मणः साङ्गविद्यस्य तरवर्थेन संस्तवात् ।

शुद्धमप्यभ्यनुज्ञातं नाङ्गोपास्त्यङ्गता ततः ॥

यदि विद्यावतो वीर्यवत्त्वेनैव स्तुतिः स्यात् तर्हि इतरन्नि-
न्दितं निषिद्धं च स्यात्; इह तु विद्यावतः तरवर्थेन स्तुते-
रितरदपि वीर्यवत्त्वेनानुज्ञातम्; ततश्चाङ्गोपासनानामकर्मा-
ङ्गतया स्वतन्त्रत्वात्काम्यकर्मभिः सह विद्याया निवृत्तिरिति ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १४ ॥

यस्मिन्देहे विशोत्पत्तिस्तत उपरितनप्रारब्धकर्मनिमित्तदे-
हान्तरोपाजितसुकृतदुष्कृतयोर्विद्याया नाश्लेषः, किं वा अश्लेष-
इति तेषु देहेषु विद्यानुवृत्त्यसंभवसंभवाभ्यां संशयः । आमु-
ष्मिकविषयत्वेनागन्तुकत्वादन्ते निवेशोऽस्य विचारस्य ॥

मृतिजन्मान्तरायेण विद्याविस्मृतिसंभवात् ।

विद्वद्देहान्तरोपात्तकर्माश्लेषो न विद्याया ॥

न चान्यतस्तन्निवृत्तिरिति तन्निमित्तः पुनः संसारप्रवाहप्र-
सङ्गः प्रारब्धकर्मक्षयंऽपीति प्राप्ते, उच्यते—

अप्रमुष्टस्मृतिः प्राचां स्मर्यतेऽनेकजन्मसु ।
अवधारणसामर्थ्यादन्येषामपि कल्प्यते ॥

प्राक्तनविदुषां जन्मव्यवधानेऽपि ज्ञानाप्रमोषस्मरणात्,
'तावदेव' इत्यवधारणाच्च कल्प्यते प्रारब्धकर्मनिमित्तदेहान्त-
रेष्वप्यनुवर्तमानज्ञानान् तत्रोत्पन्नकर्मणामश्लेष इति । ततः
प्रारब्धकर्मक्षये मोक्षनियम इति प्रयोजनम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-
पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे
चतुर्थोऽध्यायस्य प्रथमः पादः ॥



द्वितीयः पादः ॥



वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

पूर्वपादे सुक्तिविरुद्धानारब्धकार्यकर्मनिवृत्त्या जीवन्मुक्तत्व-
म्, आरब्धनिवृत्तौ तु मोक्ष इति सगुणनिर्गुणविद्ययोः फलं
सामान्येन निरूपितम् । इदानीं प्रारब्धकर्मक्षयानन्तरभावि-
नि मोक्षे विशेषप्रदर्शनाय पादत्रयमारभ्यते । तत्र उत्क्रान्ति-
पेक्षानपेक्षाकक्षणविज्ञेयोऽस्मिन्वादे प्रदर्श्यते, उत्क्रान्तिपूर्वक-
त्वाद्भूतेः । गत्यपेक्षाविशेषो गतेरर्थवत्त्वमित्येतदाक्षेपसमाधाना-
भ्यामनन्तरे; गतिपूर्वत्वात्फलम्य । फलस्वरूपनिशेषस्तदनन्तरे ।
गत्युत्क्रान्तिस्वरूपनिरूपणं तु प्रसङ्गात् सगुणविदध्विन्तनार्थ-
म्; उत्क्रान्तिविसिद्धयर्थं च वागादिवृत्तिलयविचार इति । इह
'वाङ्मनसि संपद्यते' 'इन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः' इति चो-
दाहृत्य विचार्यते । वागादीनां मनसि स्वरूपलयो वृत्तिलयो
वेति वागादिशब्दात्, तेषाममनोविकारत्वाच्च संशयः ॥

स्वरूपलयपक्षे हि वागादिभूतिराजसी ।

तेन स्वप्रकृतिन्याय इह भ्रुत्यापवाप्यते ॥

यद्यपि प्रकृतत्वेव विकारस्य लय इत्यस्ति न्यायः, तथापि

वागादिश्रुतिस्तेषां स्वरूपलयापक्षे मुख्यार्था सती न्यायवाधिका । ततश्च करणलयाञ्च तदुपहितकर्तुरुत्क्रमणमिति प्राप्ते, उच्यते—

सिद्धानुवाद्दरूपत्वादुत्क्रान्तिकथनश्रुतिः ।

प्राप्तं वृत्तिलयं न्यायात्प्रत्यक्षाच्चानुमन्यते ॥

लोके तावदुत्क्रान्तौ मनोवृत्तां सत्यां वागादिवृत्तिमात्रोपसंहारदर्शनात्स्वप्रकृतिन्यायाच्च स्वरूपलयाभावात् वागादिवृत्तेर्मनसि संपत्तिर्गम्यते; न तयोः श्रुतिर्वाधिका; तस्याः सिद्धानुवाद्दरूपतया तदर्थानुमोदनात् । ततो वागादिशब्दस्तद्वृत्तिषु लाक्षणिक इति उत्क्रान्तिसंभव इति ॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ २ ॥

‘मनः प्राणे’ इत्यन्तरवाक्ये मनसः प्राणे स्वरूपलयो वृत्तिलयो वेति तद्विकारत्वसंभवासंभवाभ्यां संदेहे, पूर्वन्यायोऽतिदिश्यत इत्युपदेशानन्तर्यम् ॥

अवात्मकस्य प्राणस्य विकारोऽन्नमयं मनः १

तेन स्वप्रकृतिन्यायात्स्वरूपेण मनोलयः ।

इत्यधिकाशङ्कायाम्, उच्यते—

विकृतेरिष्यते तावत्साक्षात्स्वप्रकृतौ लयः ।

न साक्षात्प्रकृतिः प्राणो मनसो नापि दूरतः ॥

अन्यवद्विषमकृतौ हि विकारलय इत्येते, अन्यथातिप्रस-
ङ्गात्; व्यवद्विषमकृतौ विकारलयेऽभ्युपगते मनसोऽज्ञप्रकृति-
त्वस्य लयः स्यात् न प्राप्ते; तस्यानज्ञप्रकृतित्वात् । अतो
मनसोऽपि प्राप्ते वृत्तिलय इति ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ३ ॥

अप्रकृतौ विकारस्य वृत्तिलय इति स्थितम् । सति चैवम्
'प्राणसंज्ञसि' इत्यत्र प्राणस्य तेज उपलक्षितभूतेषु वृत्तिलय-
श्रवणात्, 'इममात्मनो मर्षे प्राणा अभिसमायन्धि' इत्या-
दिना आत्माभिगमनश्रवणाच्च एकत्र साक्षादपरश्राभयद्वारा
वृत्तिलय इति श्रुतिद्वयसामर्थ्याद्व्यगतम्; तत्र संदिश्यते—
स्तुदविश्लेषादर्शनात् किं तेजसि साक्षाज्जिहीनवृत्तिः प्राणः
सह तेजसा पश्चादात्मनि लीयते, किं वा आत्मनि निहीन-
वृत्तिस्त्वद्वारा तेजसोति । अस्य विचारस्य पूर्वर्थाश्च विषय-
कमाद्भेदः । तत्र

प्राणस्य साक्षात्संपत्तिश्लेजस्याधारनाश्रुतेः ।

आत्माभिगमनं पश्चात्संज्ञाद्वारावकल्पते ॥

तेजस आधारत्वनिर्देशादात्मनं प्रत्यागमनमाश्रनिर्देशात्ते-
जसि तद्वारा आत्मनि प्राणवृत्तिलयः तेजसः परदेयतासंपत्ति-
रपि आत्मसंपत्तिरेवेति उपार्थीनामात्मपारतन्त्र्यात् स्वतः ना-
प्युपाधितश्चात्मनो देहादुरकान्तिरिति ॥

अत्रोन्यते—

तेजसः परसंपत्तेस्तद्वारा नात्मसंगमः ।

प्राणस्यात्मप्रणाल्या स्यात्संपत्तिस्तेजआदिषु ॥

यथा नौसंपन्नस्तद्वारा पारमेव संपद्यते न नाविकम्, संपन्नं तु वस्त्रादि नान्तरीयकतया नावमपि संपद्यते; तथा तेजःसंपन्नः प्राणः तद्वारा परामेव देवतां संपद्यते नात्मानम्; आत्मोपाधितया तेजसः साक्षाद्देवतासंपत्तिश्च्युतेः । तस्मादात्मसंपन्नः प्राणस्तदुपाधिभूतेष्वपि निर्लीयते । अतो भूतद्वारा उत्क्रमणं संभवतीति ॥

समाना चासूत्युपक्रमाद्भृतत्वं
चानुपाप्य ॥ ४ ॥

सैशमुत्क्रान्तिः सगुणब्रह्मविदो नास्ति, उतास्तीति असूतत्वफलश्रुतेर्गतिश्रुतेश्च संशयः । पूर्वं तत्रात्मोपाधेस्तेजसो ब्रह्मण्येवोत्क्रान्तेरात्मन्यभावात् तद्वारा प्राणस्यात्मसंपत्तिरित्युक्तम्; तत्र भवत्वेवमविदुषः, विदुषस्तुत्क्रान्तिप्रतिषेधादुपाधिरप्यात्मन्येव प्रलीयत इत्यपवादमाशङ्क्य निरस्यते । सगुणब्रह्मविदो नोत्क्रान्तिः । यतः—

परममविदम्यावदुत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यते ।

सगुणापि परा विद्या असूतत्वफलश्रुतेः ॥

तथा च गतिः स्तुत्यर्थेति ॥

अथवा सगुणस्यापि व्यापित्वाद्ब्रह्मणो न तत् ।
प्राप्तुमुत्क्रान्त्यपेक्षेति पूर्वपक्षोऽत्र वास्तवः ॥

सिद्धान्तस्तु—

विद्ये परापरे तावद्भिन्ने रूपादिभेदतः ।
तत्परस्यां निषेधेऽपि ह्यपरोत्क्रान्त्यपेक्षिणी ॥
अमृतत्वस्य गौणत्वादेशान्तरफलत्वतः ।
गतिश्रुतेऽभाभिव्यक्तिगुणानां प्राद्वलौकिकी ॥

सगुणब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि उपासकं प्रसि गुणाभिव्यक्तिः
परलोक इति गन्धते एतैरेव हेतुभिः ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

'तेजः परस्यां देवतायाम्' इत्यत्र ब्रह्मणि तेजसः स्वरूप-
लयः, वृत्तिलयो वेत्ति, लयोः प्रकृतिविकारभावात्, ब्रह्म
संपन्नस्य पुनः संसारश्रवणाच्च संशयः ॥

परस्यां देवतायां हि तेजभावेः स्वकारणे ।

सत्यां निःशेषसंपत्तादुत्क्रान्तिर्विदुषः कथम् ॥

इयं च तेजःसंपत्तिर्विदुष एव नाविदुषः ; ततश्च गत्युत्क्रा-
न्तिश्रवणं पुनः संसारश्रवणं च तद्विषयं भविष्यतीति ॥

अत्रोच्यते—

अविशेषेण संसारश्रुतेः शास्त्रार्थवत्त्वतः ।

अनिवृत्तेरविद्याया नात्यन्तं तेजसो लयः ॥

‘योनिमन्ये प्रपद्यन्ते’ इति विद्वद्विदुषोरविशेषेण पुनः-
संसारश्रुतेः कर्मज्ञानशास्त्रार्थवत्त्वादविद्यायाश्चानिवृत्तेर्नात्य-
न्तिको ब्रह्मणि तेजभादिलय इति समानैव सगुणविदोऽप्यु-
त्क्रान्तिरिति ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ ६ ॥

‘न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति’ ‘न तस्मात्प्राणा उत्क्राम-
न्ति’ इति च निर्गुणविद् उत्क्रान्तिर्निषिध्यते न वेति, निषे-
ध्यस्य देहापादानत्वदेहापादानत्वाभ्यां संदेहे, पूर्वापवादात्सं-
गतिः । तत्र

पञ्चम्यन्ताद्धि तच्छब्दात्प्रधाने प्रकृतात्मनि ।

मिद्ध उत्क्रान्त्यपादाने षष्ठी तत्रैव बत्स्यति ॥

‘न तस्मान्’ इति तच्छब्देन प्रकृतदेहदेहिनेर्देही प्रधानं
परामृश्यते । पञ्चम्या च तस्य निषिध्यमानोत्क्रान्त्यपादान-
त्वमुच्यते । तथा च ‘तस्य’ इति षष्ठ्यपि संबन्धसामान्य-
वाचिर्ना अपादानसंबन्धे यत्स्यति । तथा चार्थं वाक्यार्थः—
विद्वत्प्राणाः न ततो विदुष उत्क्रामन्ति, किं तु स एव मह
प्राणैर्देहात्क्राम्य ब्रह्मलोकं गत्वा सन्न विधून्यिद्गदेहो मुच्यते
इति भेदाभेदितः ॥

अत्रोच्यते—

निषिद्योत्क्रान्त्यपादानं तुन्यप्रकरणान्तरे ।

वाक्यशेषेण निर्णीतो देहोऽत्रापि स गृह्यते ॥

समानप्रकरणे 'स उच्छ्रवयत्याध्मायति' इति वाक्यशेषे
उत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्रवयनादानन्यसंभविधर्मकीर्तनेन देहत्वनिश्च-
यात्प्रकृतवाक्ययोरपि देहस्यापादानत्वं गम्यते, सत्यपि अप्रा-
धान्ये प्राप्तप्रतिषेधाच्च देहापादानैवोत्क्रान्तिर्ब्रह्मविदः प्रतिषि-
ध्यत इति ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥ ७ ॥

उत्क्रान्तिं प्रतिषिध्यानन्तरवाक्ये 'अत्रैव समवलीयन्ते'
इति विद्वत्प्राणानां लयः उक्तः ; स किं भूताधारो ब्रह्माधारो
वेति, 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इति, 'कलाः पुरुषा-
यणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' इति च श्रुतिद्वयविरोधेन सं-
देहे, विनिगम्यते ॥

भौतिकत्वानुमानेन भूताधारः कलालयः ।

पूर्णत्वात्पूरकत्वाद्वा भूतानि पुरुषो मतः ॥

भूतायनत्वमर्थोऽतः पुरुषायणताश्रुतेः ।

ततश्च तेषां भूतेभ्यः पुनरुत्थानसंभवात् ॥

ज्ञानाग्निः श्रेयसावाप्तिर्नेति प्राप्तेऽभिधीयते ।

विद्वद्दृष्ट्या समूतानां कलानां पुरुषे लयः ।

भूतेष्वविद्वद्दृष्ट्येति न विरोधः श्रुतिद्वये ॥

ततश्च नोक्तपरिपाटीति ॥

अविभागो वचनात् ॥ ८ ॥

स एव कलाप्रलयः शक्तिशेषः, अनवशेषो वेति, 'भिद्येते चासां नामरूपे' इति शक्तिशेषविवक्षाविवक्षाभ्यां संशये, समानविषयत्वात्संगतिः ॥

कलालयत्वसामान्याच्छक्ययोर्नामरूपयोः ।

भेदश्रुतेश्च विदुषः शक्तिशेषः कलालयः ॥

उच्यते—

ज्ञानेन बाधितेऽज्ञाने तत्कार्यं नावशिष्यते ।

लक्ष्येते नामरूपाभ्यां तच्छक्ति च पुनः भूतेः ॥

ज्ञानेन मायाशक्तेर्निवृत्तत्वात्कलाप्रलयमुक्त्वा पुनः 'भिद्येते चासां नामरूपे' इति नामरूपभेदकथनस्य तच्छक्तिलयपरत्वाच्च निःशेषो विदुषः कलालय इति ॥

तदोक्तोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्या-

मामभ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च

हृदादीनुगृहीतः जनाधिकया ॥ ९ ॥

परिमताप्यापचाच्चिन्तां निर्गुणविषयां प्रकृतगगुणविद्या-
चिन्ताम् अनुवर्तयन् 'आतृत्युपक्रमात्' इत्युक्तं सृत्युपक्रमं
दर्शयतीति तेनास्य भयन्धः । मगुणविद्यावानुक्रममाणः
किम् अनियमनाह्योत्क्रामति, प्रह्वनाह्यैव वेति, 'पशुष्टो
वा मूर्ध्नां धान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' इति जन्तुमात्रविषयो-

त्कान्तिनाडीविकल्पस्य 'तयोर्ध्वमायन्' इत्यनेन व्यवस्थासं-
भवसंभवाभ्यां संशये,

नाडीविकल्पशास्त्रात्स्याद्विद्वाननियतोत्क्रमः ।

तयोर्ध्वमित्यपूर्वार्थात्परिसंख्या न वेष्यते ॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति तस्या अमृतत्वसाधनत्वरू-
पापूर्वार्थप्रतिपादकं वचो न नाड्यन्तरपरिसंख्यापकम्, भेदा-
पातात्; येन विकल्पवाक्ये विद्वान्मूर्धन्यया अन्याभिरन्ये उ-
त्क्रामन्तीति व्यवस्था कल्पेत; अतो विद्वाननियतनाडीको-
त्क्रम इति प्राप्ते, भण्यते—

विद्याप्रकरणान्नानात्तयोर्ध्वमिति वाक्यतः ।

ब्रह्मनाडीसमाख्यानाद्विद्वत्स्वेषा नियम्यते ॥

विद्याया नियतफलत्वान् तत्फलप्राप्त्यर्थं च वाक्यप्रकरण-
समाख्यानैर्मूर्धन्यनाडीनियमवत्फलार्थोत्क्रान्तावपि सैव वि-
दुषो नियम्यत इत्यर्थात्नाड्यन्तरपरिसंख्येति ॥

रश्म्यनुसारी ॥ १० ॥

'अथ यद्यैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति अथैतैरेव रश्मिभि-
त्सर्वं आक्रमते' इति मूर्धन्यनाड्योत्क्रमतो रश्मिद्वारा ब्रह्म-
लोकगमनं भुतम्; तत्र रात्रिप्रेतो विद्वान् रश्मिमार्गं प्राप्नोति
न वेति, रात्रौ रश्म्यभावभावाभ्यां संशये, मार्गपर्वणोर्नाडी-
रश्म्योः क्रमात्तदनुवद्धविचारयोः क्रमः ॥

तत्र,

रदन्यभावाग्निशि प्रेतो ब्रजेदूर्ध्वं विनापि तम् ।

नैव बोर्ध्वं ब्रजेद्यद्वा प्रतीक्षेताहरागमम् ॥

आद्ये रश्मिभिरेवोर्ध्वं आक्रमत इत्यवधारणं दिवाप्रेतवि-
पयमिति पूर्वः पक्षः । तत्फलं चानियतमार्गपर्वत्वाद्विश्रमयो न
ध्येया इति । द्वितीयतृतीययोर्विद्याया नियतफलत्वानुपपत्तिः ।
मृतेरनियतकालत्वादहरागमात्प्राग्देहोपघातसंभवाच्च । तृतीये
त्तरावचनानुपपत्तिश्चाधिकेति प्राप्ते.

उच्यते—

औष्ण्यादिदर्शनाद्वाग्नौ सौरत्वाश्चन्द्ररोचिषाम् ।

राश्रौ रदन्यनुसारित्वं ताभिश्चानुपपत्तिभिः ॥

पूर्वपञ्चोक्ताभिरित्यर्थः ॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ ११ ॥

दक्षिणायने प्रेतो विद्वानुत्तरायणदेवताधिष्ठितदेवयानं प्रा-
प्नोति न धाति, तदोत्तरायणदेवतासंभवासंभवाभ्यां संशये,
पूर्वातिदेगत्वादुपदेगानन्तयेम् ॥

दक्षिणायन इत्यन्तो नोत्तरायणदेवताम् ।

प्राप्तोति मामामाये तदेवताया अभाषतः ॥

देवतायाः स्थितेन मामामायेऽपि संभवात् ।

प्रागुक्तानुपपत्तिभ्यां तामेव प्रतिपत्तने ॥

इति पूर्ववत्पूर्वपक्षसिद्धान्तौ । अधिकाशङ्का तु
 मरणस्य प्रशस्तस्य प्रसिद्धेरुत्तरायणे ।
 भीष्मजोद्धीक्षणाचास्य तदपेक्ष्यं सृताविति ॥

उत्तरम्—

प्रशस्तिरतिदेशेनाविदुष्येवेति कल्प्यते ।
 भीष्मस्योद्धीक्षणं चैवमाचारपरिपालनम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिब्राजकाचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य-
 पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते शास्त्रदर्पणे
 चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥



तृतीयः पादः ॥



अर्चिरादिना नत्प्रथितेः ॥ १ ॥

इहोत्क्रान्तस्य विदुषो देवयानं पन्था निरूप्यते । म च
श्रुत्यन्तरेष्वनेकधा श्रूयते— 'अर्थतरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक-
मते' इति कचिन्, 'तेऽर्चिपमभिसंभवन्ति अर्चिपोऽहः'
इति कचिन्, कचिच्च 'म एतं देवयानं पन्थानमापत्तामिलो-
कमागच्छति' इत्यादि; तत्र किं परस्परभिन्ना एते पन्थानः,
किं वा एक एवानेकविशेषण इति, भिन्नप्रकरणस्यत्वान्,
एकदेशप्रत्यभिज्ञानाच्च संशयः ॥

भिन्नप्रकरणस्यत्वाद्भिन्नोपासनयोगतः ।

अनपेक्षा मियो मार्गान्स्वरानोऽवधृतेरपि ॥

गर्तीनामामां भिन्नोपासनोपत्वान्, एकोपासनोपत्वेऽपि
पश्चात्प्रविशादां भिन्नप्रकरणस्यत्वान्, 'स यावत्क्षिप्येन्मन-
स्तावदादित्यं गच्छति' इत्येकस्य धेष्पनिर्देशस्य विलम्बि-
तमार्गान्तगभावमूषकत्वान्, 'एतरेय रश्मिभिः' इत्यवधार-
णस्य पश्यन्तस्यदच्छेदकत्वान् परस्परानपेक्षा एतेन प-
न्थानः प्रसक्तोक्तशास्त्रयुपायाः विकल्पेनेति प्राप्ते, उच्यते—

एकत्वेऽपि पथोऽनेकपथसंगमसंभवात् ।

गौरवान्नैव नानात्वं प्रज्ञभिज्ञानलिङ्गतः ॥

किमेते रश्म्यहर्षाद्युसूर्यादयोऽध्वनः पक्षाणि सन्तोऽध्वना एकेन युज्यन्ते, आहो यथायथमध्वानमपि भिन्दन्तीति संदेहे अभेदेऽप्यध्वनो भागभेदोपपत्तो गुणानुरोधेन प्रधानभेदकल्पनायोगात् कल्पनालाघवात् एकदेशप्रत्यभिज्ञानाच्च बहु-
 ल्यपथमार्गाणां च विकल्पानुपपत्तेः आह्वनीयादिवदभिज्ञ-
 त्वेऽप्यध्वनो भिन्नशेषत्वोपपत्तः पितृयाणेन चन्द्रगमनमपे-
 क्ष्यापि देवयानेनादित्यगमनस्य त्वरावचनोपपत्तः, एकस्य च
 वाक्यस्य रश्मिप्रापकत्वमार्गान्तरव्यवच्छेदकत्वायोगेनावधार-
 णस्य रश्मिशब्दप्राप्तायोगव्यवच्छेदानुवादकत्वादेकस्यैवाध्वनो
 विशेषणान्येनानीति । अथैतद्विचारस्य प्रयोजनम्— गतिवि-
 शेपणानामर्चिराशब्धानि संनिवेशविशेषोऽधिकरणद्वयेन चि-
 न्त्यते परस्परं च तयोर्धिष्यपाठक्रमात् क्रमः ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥ ...

‘स एतं पन्थानमासाद्यामिलोकमागच्छति स वायुलोकं
 स बह्वणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकम्’ इति कोवी-
 तकिवाक्यदर्थो वायुः अर्चिप उपरि निवेशयितव्यः, किं वा
 आदित्यादभस्तादिति मंशयः; ‘स च वायुमागच्छति तस्मै स
 तत्र विजिहीते द्वारं करोति तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदि-

त्यमागच्छति' इति वाक्यान्तरे 'तेन' इति पदस्यादित्यमा-
गच्छतीत्यनेन असंबन्धसंबन्धाभ्याम् ॥

श्रुत्याद्यभावे पाठस्य क्रमं प्रति नियन्तृता ।

ऊर्ध्वाक्रमणभावे च श्रुता वायोर्निमित्तता ॥

'तेन' इति श्रुतिर्वायुकृतावकाशस्य ऊर्ध्वदेशमात्रप्राप्तौ हे-
तुत्वमाह नादित्यगमने; तस्या अनन्तरक्रियया संबन्धनिराका-
ह्स्याया व्यवहितसंबन्धाभावान्; 'स आदित्यमागच्छति'
इति च पदानां परस्परसंबन्धेन निराकाहश्रुत्वान् । तस्माद्वा-
य्वादित्ययोः श्रौतक्रमाभावान् पाठक्रमादर्चिरनन्तरं वायुः
अग्न्यर्चिषोरभेदादिति प्राप्तं, उच्यते—

ऊर्ध्वगच्छो न लोकरस्य कस्वाचिरप्रतिपादकः ।

तद्भेदापेक्षया युक्तमादित्येन विशेषणम् ॥

अग्नोर्ध्वादित्यशब्दयोर्विशेषणविशेष्यवाचितया विशिष्टादि-
न्यर्हाक्रममर्पकत्वान् 'तेन' इति श्रुत्या वायुदत्ताच्छिद्रस्यादित्य-
गमने प्रति हेतुत्वकथनात्तस्य च नियतशक्तसत्तात्मकत्वान्
वाय्वादित्ययोः श्रौतक्रमनियमे सति पाठक्रमः पदार्थमात्र-
प्रदर्शनार्थः न क्रमार्थ इति सिद्धम् ॥

नदिनोऽग्नि घरुणः संयन्धात् ॥ ३ ॥

घरुणेन्द्रवजापथीनां वाय्वनन्तरपाठस्य श्रुत्या वाये सति
च निषेध इति पूर्ववद्विशेषणप्रदर्शनाभावात्संभेदे,

यत्र काचिन्निवेशो वा निवेशो वार्धिरादिके ।
वरुणादेरिति प्राप्तं मानाभावेन तत्क्रमे ॥

उच्यते—

तद्विदन्तेऽर्धिरावध्वन्यप्पतिस्तद्धितः परः ।

तत्संबन्धात्तथेन्द्रादिरप्पतेः पर इष्यते ॥

आगन्तूनां निवेशोऽन्ते स्थानाभावात्प्रसापितः ।

तथा चेन्द्रादिरागन्तुः पठ्यते चाप्पतेः परः ॥

विशुद्धनन्तरभावित्वाद्गृष्टिरूपाणामप्रापतेः वरुणस्य तत्सं-
बन्धः । इन्द्रप्रजापत्याः आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्याया-
त्पाठकमाश्चाप्पतेरुपरि निवेशः ॥

आतिवाहिकास्तद्विद्वात् ॥ ४ ॥

तेष्वेवार्धिरादियु संशयः— किमेतामि मार्गेषिहानि, उत
भोगभूमयः, कि वातिनेनारो गन्तूणामिति; स च 'अर्धिपो-
दरद्व आपुर्यमाणपक्षम्' इत्याद्युपदेशस्य गच्छ इतस्त्वमनुं
गिरि ततो नदीमित्यादिमार्गोपदेशात्परत्वात्, 'अमिष्टोकम्'
इत्यादिष्टोकशब्दान्, अन्तिमे पर्वणि 'तत्पुरुषोऽमानयः' इति
पुरुषस्यामानशब्दविशेषणेन सर्वेषां पुरुषत्वमिद्वयत्कारात् ।
तद्विद्वात्संबन्धवारिद्वात्सादृश्यसंबन्धात्मार्गेषिहोपदेशत्वमिति
संगतिः ॥

मार्गोचिह्नसरूपत्वाच्चिह्नान्येवार्चिराद्यः ।

भर्तृभोगभुवो वा स्युर्लोकत्वात्प्रातिवाहिकाः ॥

भर्ता जीवः । न चामानवस्य पुरुषस्य विद्युदादिषु बो-
द्धत्वदर्शनादर्चिरादीनामपि बोद्धत्वं पुरुषत्वं वा उल्लेख्यम्; क-
चिच्छ्रुतस्यान्यत्र संचारेऽतिप्रसङ्गात् । विद्युदादेर्बोद्धत्वे च
विद्युद्दोकादमानवस्य बोद्धत्वाभावप्रसङ्गात् । तस्मात्प्रातिवाहि-
का इति प्राप्तं, उच्यते—

संपिण्डकरणानां हि सूक्ष्मदेहवतां गतौ ।

न स्वातन्त्र्यं न वाग्न्याद्या नेतारोऽचेतनास्तु ते ॥

अयमर्थः— चेतनस्य स्वप्रयत्नशून्यस्य नियतोर्ध्वदेशग-
मनं चेतनान्तराधीनमिति न्यायः अमानवस्वविशेषणलिङ्गे-
नोपोद्बलितः अर्चिरादीनां बोद्धत्वं गमयतीति सामान्यवति
शब्दे विशेषापेक्षिणि स्फुटं यद्विशेषपदं तेन तत्सामान्यं निय-
म्यते । 'तेऽर्चिराद्यभिसंभवन्ति' इति संबन्धसामान्यवचनः
शब्दः 'स एतान्मद्य गमयति' इति वाक्यशेषाद्बन्धगमयि-
कृत्वमपन्धविशेषे नियम्यत इति ॥

कार्यं चादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

गतिनिरूपणानन्तरं तद्विषयं गन्तव्यं निरूपयति । 'म
एतान् मद्य गमयति' इत्यत्र किं परमपिठुर्न मद्य गमयति,

आहो विकृतं कार्यमिति, आविकृतस्य गतिकर्मत्वसंभवासंभवाभ्यां संज्ञयः ।

मुख्यत्वादभूतत्वात्तः परप्रकरणादपि ।

गन्तव्यं जैमिनिर्मेने परमेवार्धिरादिना ॥

मधुसूक्तान्तमद्वयशब्दस्य परस्मिन्मुख्यत्वात् 'तयोर्ध्वमाय-
नमभूतत्वमेति' इति गतिफलत्वेनावगतस्य चामृतत्वस्य कार्य-
मद्वयसंभवात् परप्रकरणे च 'प्रजापतेः सभां वेदस्य प्रपद्ये'
इति प्रतिपत्त्याभिसंध्यादिश्रवणात् प्राप्तस्यापि पुनर्देशान्तरवि-
शिष्टस्य प्राप्तिसंभवात् मज्जल्लोकेष्विति बहुवचनस्य चैकस्मि-
न्शब्दसाधुत्वमात्रार्थत्वात् लोकशब्दस्य लोकं लोक इति
यौगिकत्वात्, अर्धिरादिमार्गेण सत्यलोकमतिक्रम्य परं का-
रणं मज्ज प्राप्तस्य तत्रैव लिङ्गशरीरप्रलयान्मोक्ष इति प्राप्ते,
उच्यते—

कार्यमप्राप्तपूर्वत्वादप्राप्तप्रापणी गतिः ।

प्रापयेद्ब्रह्म न परं प्राप्तत्वाज्जगदात्मकम् ॥

जीवत्त्वावदविद्योपाधिविभागो ज्ञानादविद्यानिवृत्तावात्म-
भूतमेव ब्रह्म प्राप्नोतीति तत्र तत्र श्रुतिस्मृतिन्यायैरुपपादि-
तम् । तथा च न गतिपूर्विका मज्जप्राप्तिः । मज्जपञ्चमद्वयवादे-
ऽपि जगदात्मकं ब्रह्म जीवैर्विकारैरप्यवैरत्यन्तविभिन्नैर्वा नि-
त्यप्राप्तमिति न गतपेक्षा । न च देशान्तरविभिन्नं गन्तव्यम् ;
विकारावप्यपञ्चयोन्येभ्यः स्थिरत्वेन तदभिन्नयोस्तदयोगात् ।

मैदाभेदपक्षस्य निरस्तत्वात् । अत्यन्तभेदपक्षे संयोगानित्य-
तया मोक्षानित्यत्वम् । अतः कार्यं ब्रह्मलोकं गमयति अमा-
नवपुरुषः इति स्थिते, ब्रह्मपदं स्वार्थस्य वाक्यार्थेऽन्वयाभावा-
दानर्थक्यहृतं गौणम् ; अमृतत्वं चापेक्षिकम् ; प्रतिपत्त्यभिसं-
ख्यादेश्च वाक्यादिना प्रकरणाद्भुक्तपैः अर्थवादता वा । तथा
च लोकशब्दादि बहु समन्वयसं स्वादिति ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति चादरायण
उभयधादोषात्तन्क्रतुश्च ॥ ६ ॥

‘म एतान् ब्रह्म गमयति’ इति ब्रह्मशब्दार्थनिरूपणानन्तरं
गन्तारं निरूपयति, एकवाक्योपादानसंबन्धान् । गन्तव्य-
प्राथम्यम् ईप्सिततया प्राधान्यात् । प्रतीकोपासका ब्रह्मलोकं
गच्छन्ति न वेति, तेषामब्रह्मक्रतुत्वान् तादृशामपि पञ्चाग्नि-
विद्वां ब्रह्मलोकगमनदर्शनाच्च संशयः ॥

अब्रह्मक्रतवां यान्ति यथा पञ्चाग्निविद्यया ।

ब्रह्मलोकं प्रयास्यन्ति प्रतीकोपासकान्तथा ॥

‘ये धामी अरण्ये श्रद्धां मन्यमित्युपासते तेऽर्चिरभिसंभ-
वन्ति’ इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्वाः समान-
मार्गधवणान् तदक्रमुन्यायस्य च मत्प्रेष व्यभिचारात् सत्तत्त्व-
स्यविशेषस्य च ब्रह्मलोकेऽप्युपपत्तेः प्रतीकोपासका अपि ब्रह्म-
लोकं गच्छन्तीति धामे, वक्ष्यते—

प्रतीकोपास्तिफलानाम्

उत्तरोत्तरभूपस्त्वादब्रह्मकतुभायतः ।

प्रतीकोपासकान्महल्लोकं नामानघो नयेत् ॥

भवतु पश्चात्प्रिविदासब्रह्मकतूनामपि ब्रह्मलोकगमनम्, 'तं
यथा यथोपासते' इति सामान्यवचनस्य 'स एनान् ब्रह्म
गमयति' इति विशेषवचनेन याधात् । प्रतीकभाजां तु 'ये
धामी अरण्ये' इत्यनेन पश्चात्प्रिविदिः समानभार्गे समुदये-
ऽप्यप्राधान्यात् 'स एनात्' इत्येतच्छब्देनापरामर्शान् ब्रह्म-
प्राप्तिः । एतच्छब्दस्य प्राधान्येन प्रकृतपरामर्शकत्वात्पश्चा-
त्प्रिविदामेष प्रकरणवस्त्वेन तथाभावात् । एवं च फलोत्कर्षो-
ऽप्याश्वसः स्थाविति ॥

इति श्रीरपरमहसपरिबालकान्वार्यश्रीमदनुमवानन्दपूज्य-

पादशिष्यभगवदमलानन्दविरचिते 'शास्त्रदर्पणे

चतुर्थोऽध्यायस्य तृतीयः पादः ॥



स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यमानो ब्राह्मेण रूपेण निष्पद्यत इति स्थितम् । इदानीं तद्ब्राह्मं रूपं सविशेषं न वेति संदिश्यते; 'य आत्मापहतपाप्मा' 'स तत्र पर्येति' 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इति चोपन्यासविधिव्यपदेशेभ्यः, 'प्रज्ञानघन एव' 'नेति नेतीत्यस्यूलम्' इत्यादिवाक्येभ्यश्च ॥

तात्त्विकं सविशेषत्वमुपन्यासादिहेतुभिः ।

विशेषप्रतिषेधाः स्युरभेदाद्धर्मधर्मिणोः ॥

निषेधश्रुतीनां प्राप्तिसापेक्षत्वेन दुर्बलत्वादिति ॥

अत्राच्यते—

नानाधर्मरभिन्नत्वे ब्रह्म भिन्नं प्रसज्यते ।

भेदाभेदौ विरुध्येते न भेदे धर्मधर्मिता ॥

अतो निर्विशेषत्वं स्वाभाविकम्, सविशेषता त्वौपाधिकी-
ति । इमां च व्यवस्थां सिद्धां कृत्वा 'न स्थानतोऽपि' इत्यत्र
सोपाधिकानामपि विशेषाणां सत्यताशङ्का निराकृता ॥

संकल्पादेय तु तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

'अथ सगुणविदः प्राप्नोविद्याफलस्य तत्तद्भोगोपकरणसंपत्तौ
संकल्पातिरिक्तमाधनापेक्षास्ति, उत नास्तीति संशयः; 'सं-
कल्पादेवाम्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' इत्यादिश्रुतेः, यद्भोगोप-
करणं तत्संकल्पातिरिक्तसाधनसंपाद्यं विमतं भोगोपकरण-

मित्यनुमानाच्च । पूर्वत्र ब्रह्मणि विशेषासंभवादविशेषप्रवृत्ता-
पि सविशेषत्वश्रुतिरौपाधिकविषये व्यवस्थापिता; न तथे-
हाविशेषप्रवृत्तमनुमानमयोगिविषये व्यवस्थापनीयम्; योगि-
न्यपि संकल्पातिरिक्तसाधनसंभवादिति प्रत्यवस्थानात्संगतिः ॥

यन्नानपेक्षः संकल्पो लोके वस्तुप्रसाधनम् ।

न दृष्टः सोऽव यन्नस्य लाघवावधारितः ॥

पदपदार्थज्ञानेऽनुमानसापेक्षत्वात् तद्विरुद्धम् 'संकल्पा-
देव' इत्यवधारणं यत्रलाघवापेक्षं व्याख्येयम् । न च संक-
ल्पमात्रजस्य अन्नपानादेराशामोदककल्पस्य तुल्यादिहेतुत्व-
संभवः ॥

अत्रोच्यते—

पित्रादीनां समुत्थानं संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ।

न चानुमानवाधोऽव श्रुत्या तस्यैव बाधनात् ॥

पदपदार्थविज्ञानेऽनुमानसापेक्षापि वाक्यार्थावबोधे प्रमा-
णान्तरानपेक्षा श्रुतिर्मानान्तरेणाशक्या बाधितुम्, अनुमान-
मेव तु तथा बाधितविषयमङ्गामावाप्तोदेति । अयोगिजत्वेन
सोपाधिकं च । तथा च

संकल्पमात्रजन्यानां नाशामोदकतुल्यता ।

अर्थक्रियासमर्थत्वमपि संकल्प्यते यतः ॥

अभावं घादरिराह ह्येयम् ॥ ५ ॥

प्राज्ञैश्वर्यस्य विदुषो मनोतिरिक्तेन्द्रियाणां शरीरस्य च
भावाभावो अनियमेन भवतः, नियमेन वान्यतरः, सोऽप्य-
भावो भावो चेति द्विरकन्धः संशयः; 'स मनसैवैतान्पश्य-
न्मते', 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' इति च वाक्य-
द्वयं यथाप्रतीतार्थं ग्राह्यम्, किं वा एकानुसारेणैकं नेयम्;
तदापि किमनुसारेण किं नेयमित्यानिश्चयात् । तत्र न तावान्नि-
यमे संभवति अनियमो विकल्परूपः भट्टशेषयुक्तः । तत्रापि
पूर्ववदवधारणात्,

अन्ययोगव्यवच्छिन्न्या मनसेति विशेषणात् ।

देहेन्द्रियवियोगः स्याद्विदुषो वादरेर्मते ॥

अनेकधाभावश्च विदुषो मनोभेदाद्वा भूमविद्यास्तुतये
अस्य अविद्यमानो वा कीर्त्यत इति ॥

शरीरेन्द्रियभेदे हि नानाभावः समञ्जसः ।

न चार्थसंभवे युक्तं स्तुतिमात्रमनर्थकम् ॥

न च मनोभेदमात्राज्जाग्रदोगयोग्योऽनेकधाभावः संभ-
वति; न च सगुणावस्थायां फलमनेकधाभावो निर्गुणाया-
मपि भूमविद्यायां प्रशंसार्थमुच्यत इत्यर्थसंभवे निरालम्बन-
स्तुतिर्युक्ता । ततश्च 'मनसा' इति विशेषणमयोग्यवच्छेदार्थं
चैत्रो धनुर्धर इतिवदित्यपरं मतम् ॥

सिद्धान्तस्तु— कामेषु रममाणस्य तावन्मनोवियोगश-
ङ्काभावान्न 'मनसा' इति विशेषणं देहादिपरिसंख्यार्थम् ।
तथा च

देहादेस्तुल्यमानाभ्यां स त्रिधा मनसेति च ।

भावाभावौ विकल्पेन भवेतां विद्वदिच्छया ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ ६ ॥

पूर्वत्र 'स त्रिधा भवति' इति वाक्योदाहरणेनानेकैः शरीरैर्विदुषः सशरीरत्वमुक्तम्; तदुपपादनाय विचार्यते—योगनिर्मितशरीराणि दारुयन्नन्निरात्मकानि, इत सात्मकानीति; अन्तःकरणावच्छिन्नस्यात्मनो युगपदनेकत्र संनिधानासंभवात्, आत्मभोगायतने एव शरीरत्वप्रमिद्वेष्य ॥

आत्मान्तःकरणोपाधिस्तस्य प्रादेशिकत्वतः ।

युगपद्विशदेशस्थान्देहाश्रावेष्टुमर्हति ॥

अन्तःकरणान्तरसर्गेऽर्थोत्पत्तिकान्तःकरणावच्छिन्नस्य न तैरवच्छेदो युक्तः; तस्मादारुयन्नसमानि योगजशरीराणि गौणानीति ॥

अत्रोच्यते—

शरीरत्वं न जातु स्याद्भोगाधिष्ठानतां विना ।

स त्रिधेति शरीरत्वमुक्तं युक्तं च तद्विमौ ॥

'स त्रिधा' इत्यादिका श्रुतिर्विदुषः स्फुटतरं बहुप्रकारतानिर्माणमाचक्ष्णाणां भिन्नशरीरेन्द्रियोपाधिं विना तदयोगान् शरीरभेदानिर्माणमेषाचष्टे; शरीरत्वं च भोगायतनेषु प्रति-

द्वयम्, भोगायतनत्वं चात्मावच्छेदकस्यैवेति सात्मकत्वासिद्धिः । तेषां यद्यथौत्पत्तिक्रमन्तःकरणं परिच्छिन्नम्, तथाप्येकाविधोपादानानि अनेकानि शरीराणि सान्तःकरणानि सृष्टुं सान्येकपदे योगी प्रदिशति । न चान्तःकरणभेदे जीवभेदः; अविशोपाधेरकत्वात् ॥

जगद्दशापारयर्जं प्रकरणादसंनि- हितत्वाच्च ॥ ७ ॥

मनःशरीरसंसर्गोद्देश्यं यदुपासितुः ।

जगत्सर्गं तदुत्सृष्टमिह मानादपोचते ॥

समुष्णविषया मायुष्यादि प्राप्तानां निरद्भुतमैश्वर्यम्, जगत्सर्गादिवर्जं वेति संशयः; 'आप्नोति स्वाराज्यम्' इत्यादि-श्रुतेः, ईश्वराधीनसिद्धित्वाच्च ॥

स्वाराज्यकामपारादिधुतिभ्यः स्वाशिरद्भुतः ।

स्वकार्यं ईश्वराधीनसिद्धिरप्यथ साधकः ॥

यद्यपि विदुषामीश्वराधीना मिद्धयुत्पत्तिः, तथापि सिद्धि-कार्यं तेषामीश्वरानपेक्षमिति निरद्भुतं भवति । न च यदधीनं परमैश्वर्यम्, तन् तदैश्वर्यान्न्यूनमिति व्याप्तिः; दृष्टसामन्तादौ व्यभिचारात् । अतः सिद्धयुत्तरकालं पूर्वसिद्धेश्वराद-विशेषात् विदुषां जगत्सर्गादावपि कर्तृत्वमिति ॥

अत्रोच्यते—

नित्यत्वादनपेक्षरवाच्छ्रुतेस्तत्प्रक्रमादपि ।
एकमत्याश्च विदुषां परमेश्वरतन्त्रता ॥

ब्रह्मणो हि नित्यसिद्धं कारणत्वम्, अन्यानपेक्षत्वात् । विदुषां तु मूलकारणापेक्षं साध्यम्; तत्र जगत्सर्गलक्षणं कार्यं मूलकारणस्यैवास्तु, आहो साध्यकारणत्वानामपीति विशये, मूलकारणस्यैवेति युक्तम्; तस्य कल्पशक्तित्वात्, इतरेषां कल्प्यशक्तित्वात्, ईश्वरस्यैव 'आत्मन आकाशः' इत्यादौ जगत्स्रष्टृत्वश्रुतेः, 'तेजजोऽमृत' इत्यादौ च जगत्सर्गं 'सद्व सौम्येदम्' इत्यादिना तस्यैव प्रक्रमात्, ईश्वराधीनत्वाभ्युपगम एवैकमत्याभावात् । अतो यावन्मात्रं विदुषामेश्वर्यं श्रुतम्, तावदेव तेषाम्, न सर्वेश्वरवन्निरङ्कुशमिति सिद्धम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिजाजकचार्यश्रीमदनुभवानन्दपूज्य.

पादशिष्यभगवदमलानन्दपरिचिते शास्त्रदर्पणे

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

